आभामंडल
आचार्य महाप्रज्ञ

हमारे शरीर के चारों ओर रश्मियों का एक वलय होता है। वह सूक्ष्म-तरंगों के जाल जैसा या रुई के सूक्ष्म-तंतुओं के व्यूह ज़ैसा होता है। ऊपर-नीचे, दाएं-बाएं—चारों ओर फैला हुआ होता है। जैसी भावधारा होती है वैसी ही उसकी संरचना हो जाती है। वह एकरूप नहीं होता, बदलता रहता है। निर्मलता, मलिनता, संकोचं और विकोच—ये सारी अवस्थाएं उसमें घटित होती रहती हैं। इसके माध्यम से चेतना के परिवर्तन जाने जा सकते हैं, शरीर और मन के स्तर पर घटित होने वाली घटनाएं जानी जा सकती हैं। स्थूल-शरीर की घटनाएं पहले सूक्ष्म-शरीर में घटित होती हैं। उनका प्रतिबिम्ब आभामंडल पर हो जाता है। इसके अध्ययन से भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का पता लगाया जा सकता है। रोग और मृत्यु एवं स्वास्थ्य और जीवन आदि अनेक तथ्यो के विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है।

भावधारा (लेश्या) के आधार पर आभामंडल बदलता है और लेश्या-ध्यान के द्वारा आभामंडल को बदलने से भावधारा भी बदल जाती है। इस दृष्टि से लेश्या-ध्यान या चमकते हुए रंगों का ध्यान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। हमारी भावधारा जैसी होती है, उसी के अनुरूप मानसिक चिन्तन तथा शारीरिक मुद्राएं और इंगित तथा अंग-संचालन होता है। क्रोध की मुद्रा में रहने वाले व्यक्ति में क्रोध के अवतरण की संभावना बढ़ जाती है। क्षमा की मुद्रा में रहने वाले व्यक्ति के लिए क्षमा की चेतना में जाना सहज हो जाता है। इस भूमिका में लेश्या-ध्यान की उपयोगिता बढ़ जाती है।

आभा मंडल

आचार्य महाप्रज्ञ
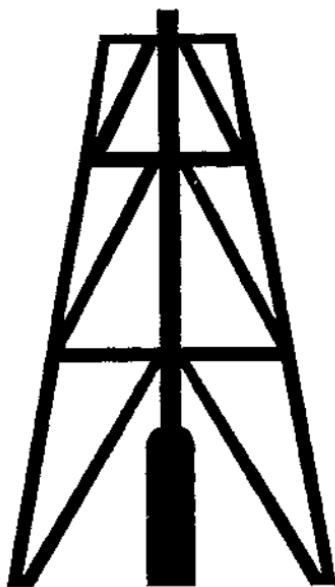
आभामण्डल

लेखक : आचार्य महाप्रज्ञ

प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी
प्रबंधक : आदर्श साहित्य संघ
२१०, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग
नई दिल्ली-११०००२

संस्करण : सन् २००४

मूल्य : साठ रुपये

मुद्रक : पवन प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

ABHAMANDAL by Acharya Mahaprajna Rs. 60.00

प्रस्तुति

शरीर, मन और चित्त—तीनों का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। शरीर पौद्गलिक-परमाणुओं की एक अद्भुत संरचना है। मन उससे भी सूक्ष्म परमाणु-संरचना है। चित्त चेतना का एक स्तर है, जो इस शरीर और मन के साथ कार्य करता है। चित्त अपौद्गलिक (अभौतिक) है, इसलिए उसमें कोई रंग नहीं होता। शरीर और मन पौद्गलिक (भौतिक) हैं। पुद्गल का लक्षण है—वर्ण, गंध, रस और स्पर्शयुक्त होना। कोई भी परमाणु वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से वियुक्त नहीं होता।

यद्यपि शरीर और मन पौद्गलिक हैं और चित्त अपौद्गलिक है, फिर भी सापेक्षता के सूत्र में बंधे होने के कारण ये परस्पर एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। परमाणु के चार गुणों में से रंग चित्त को सबसे अधिक प्रभावित करता है। हमारा चित्त नाड़ी संस्थान में क्रियाशील रहता है और उसका मुख्य केन्द्र है—मस्तिष्क। वह अन्तर्जगत् में सूक्ष्म चेतना से जुड़ा हुआ है। वहीं से उसे गतिशीलता के आदेश-निर्देश प्राप्त होते रहते हैं। और बाह्य-जगत् में वह अपने प्रतिबिम्बभूत आभामंडल से जुड़ा होता है। जैसा चित्त होता है, वैसा आभामंडल होता है और जैसा आभामंडल होता है, वैसा चित्त होता है। चित्त को देखकर आभामंडल को जाना जा सकता है और आभामंडल को देखकर चित्त को जाना जा सकता है। चित्त निर्मल तो आभामंडल निर्मल होता है और चित्त मलिन तो आभामंडल मलिन होता है।

हमारे शरीर के चारों ओर रश्मियों का एक वलय होता है। वह सूक्ष्म तरंगों के जाल जैसा या रुई के सूक्ष्म-तंतुओं के व्यूह जैसा होता है। ऊपर-नीचे, दायें-बायें—चारों ओर फैला हुआ होता है। जैसी भावधारा

होती है, वैसी ही उसकी संरचना भी होती है। वह एकरूप नहीं होता, बदलता रहता है। निर्मलता, मलिनता, संकोच और विकोच—ये सारी अवस्थाएं उसमें घटित होती रहती हैं। इसके माध्यम से चेतना के परिवर्तन जाने जा सकते हैं, शरीर और मन के स्तर पर घटित होने वाली घटनाएं जानी जा सकती हैं। स्थूल-शरीर की घटनाएं पहले सूक्ष्म-शरीर में घटित होती हैं। उनका प्रतिबिम्ब आभामंडल पर हो जाता है। इसके अध्ययन से भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का पता लगाया जा सकता है। रोग और मृत्यु एवं स्वास्थ्य और जीवन आदि अनेक तथ्यों के विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है।

भावधारा (या लेश्या) के आधार पर आभामंडल बदलता है और लेश्या ध्यान के द्वारा आभामंडल को बदलने से भावधारा ही बदल जाती है। इस दृष्टि से लेश्या-ध्यान या चमकते हुए रंगों का ध्यान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। हमारी भावधारा जैसी होती है, उसी के अनुरूप मानसिक चिन्तन तथा शारीरिक मुद्राएं और इंगित तथा अंग-संचालन होता है। क्रोध की मुद्रा में रहने वाले व्यक्ति में क्रोध के अवतरण की संभावना बढ़ जाती है। क्षमा की मुद्रा में रहने वाले व्यक्ति के लिए क्षमा की चेतना में जाना सहज हो जाता है। इस भूमिका में लेश्या-ध्यान की उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है।

प्रस्तुत पुस्तक की पांडुलिपि तैयार करने के श्रम-साध्य कार्य में तथा संपादन में मुनि दुलहराजजी ने उत्साहपूर्ण कार्य किया है। इसके लिए उन्हें साधुवाद देता हूं।

पाठकवर्ग ने संप्रति प्रकाशित होने वाले ध्यान संबंधी ग्रन्थों के प्रति जो भावना प्रदर्शित की है, जिस अभिरुचि से उन्हें पढ़ा है और उनके आधार पर प्रयोग का प्रयत्न किया है, उससे इस क्षेत्र में उज्ज्वल संभावनाएं जन्म ले रही हैं। मैं मंगल-कामना करता हूं कि जन-जन में अध्यात्म की भावना जागे। प्रत्येक व्यक्ति अपने अस्तित्व को जाने-पहचाने।

मैं पूज्य गुरुदेव के प्रति श्रद्धा-प्रणत प्रणाम करता हूं और कामना करता हूं कि उनके पथ-दर्शन में समूची मानवजाति का पथ आलोकित बने।

आचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

प्रथम शिविर

द्वितीय शिविर

परिशिष्ट

प्रथम शिविर

१. व्यक्तित्व के बदलते रूप

१. ● कभी अच्छा काम, कभी बुरा काम, कभी निष्क्रिय।
● कभी अच्छा विचार, कभी बुरा विचार, कभी निर्विचार।
● कभी अच्छा भाव, कभी बुरा भाव, कभी भाव-शून्य।

२. ● कभी प्रेम, कभी घृणा।
● कभी राग, कभी द्वेष।
● कभी ऐक्य, कभी माया।
● कभी विश्वास, कभी सन्देह।
● कभी हास्य, कभी भय।
● कभी विराग, कभी वासना।

३. ● मनुष्य बुरा कार्य, बुरा विचार और बुरा भाव नहीं चाहता, फिर ऐसा क्यों होता है?

४. ● मनुष्य के भीतर एक विशाल तालाब है। उससे निरन्तर दो स्रोत प्रवाहित हो रहे हैं—एक है असंक्लेश का, दूसरा है संक्लेश का।

५. ● प्राणशक्ति की विद्युत् तरंग के द्वारा वे प्रवाह भीतर से बाहर तक पहुंचते हैं।
● हम मूर्च्छित होते हैं तो संक्लेश का दरवाजा खुलता है।

६. ● इसीलिए हम क्रियातंत्र के प्रति जागृत बनें—
शरीर प्रेक्षा : बुरे विचार की तरंग स्नायु में।
बुरा कार्य स्नायु द्वारा।
श्वास प्रेक्षा : श्वास को बुरे विचार और कार्य का माध्यम न बनने दें।

७. ● क्रियातंत्र की जागरूकता की दो निष्पत्तियां—

१. विपाक विचय करें, जिससे पुनर्बन्ध न हो, संक्लेश को पोषण न मिले।
२. विपाक-जनित आवेगों से मुक्ति।

मनुष्य अनेक चित्तवाला है। चित्त एक नहीं, अनेक होते हैं। चित्त अनेक होते हैं इसीलिए व्यक्तित्व नाना रूपी होता है। व्यक्ति के कितने रूप हैं, पहचाना नहीं जा सकता। जिस व्यक्ति को प्रातःकाल देखा था, उस व्यक्ति को मध्याह्न में पहचाना नहीं जा सकता और जिसको मध्याह्न में देखा था, उसे सांझ में नहीं पहचाना जा सकता। जिसको सांझ में देखा था, उसे रात में नहीं पहचाना जा सकता। इतना बदलता हुआ व्यक्तित्व इतने बदलते हुए रूप! यह अनुमान करना कठिन होता है कि जिस व्यक्ति को प्रातःकाल देखा था, सायं वही व्यक्ति है या दूसरा। बड़ी कठिनाई होती है समझने में। जिस व्यक्ति को प्रातःकाल में बहुत शान्त, शालीन और गंभीर देखा, उसी व्यक्ति को मध्याह्न में धूप की भांति तेज देखते हैं, क्रोध की आग में जलते देखते हैं, तब यह अनुमान भी नहीं होता कि यह वही व्यक्ति है जिसको प्रातः शांत और शालीन देखा था। प्रातःकाल जिस समुद्र को शांत देखा था, ज्वार के समय उसे देखा तो लगा कि तरंगें उछल रही हैं, सारा समुद्र हलचल से भरा है, अशान्त है, तब यह अनुमान करना कठिन हो गया कि क्या यह वही समुद्र है जिसे प्रातःकाल देखा था? ज्वार के समय समुद्र मिट जाता है, वह लहरमय बन जाता है, कोरी लहरें ही लहरें। सारा लहरों का जाल-सा बिछ जाता है। इसी प्रकार व्यक्ति के भावों और आवेगों का रूप जब ज्वार बनता है तब व्यक्ति को पहचान पाना कठिन हो जाता है। इसीलिए यह कहना पड़ा—'अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे'—यह पुरुष अनेक चित्त वाला है। उसका चित्त एक नहीं है, अनेक है। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है, जो एक चित्तवाला हो। चित्त बदलता रहता है—देश के साथ, काल के साथ और परिस्थितियों के साथ। वह इतने रूप धारण करता है कि दुनिया में बहुरूपिये भी इतने रूप धारण नहीं करते। जब चित्त बदलता है तब आसपास का सब कुछ बदल जाता है, भीतर का

भी बदलता है और बाहर का भी बदलता है। भीतर और बाहर—दोनों आंदोलित हो उठते हैं, तरंगित हो उठते हैं। चारों ओर तरंगें ही तरंगें, लहरें ही लहरें, कंपन ही कंपन। कोई आदमी नहीं चाहता कि वह बुरा आचरण करे, कोई नहीं चाहता कि उसमें बुरे भाव आएं। बुरा चिन्तन, बुरा भाव और बुरा कर्म कोई नहीं चाहता। किन्तु नहीं चाहने पर भी बुरा चिन्तन आता है, बुरा भाव आता है और बुरा कार्य भी होता है। ऐसा क्यों होता है—यह एक प्रश्न है। कोई आदमी बुरा करना चाहे और वह बुरा करे तो यह स्वाभाविक बात हो सकती है। तब कहा जा सकता है कि उसने जैसा चाहा वैसा किया। किन्तु बुरा करना न चाहने पर भी यदि बुरा होता है, तब यह प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों हुआ? यह बहुत बड़ा प्रश्न है।

आदमी अच्छा भी करता है और बुरा भी करता है। कभी अच्छा करता है—अच्छा चिन्तन, अच्छा भाव और अच्छा कार्य। कभी बुरा करता है—बुरा चिन्तन, बुरा भाव और बुरा कार्य। यह द्वन्द्व चलता है। एक ही व्यक्तित्व में ये विरोधी बातें चलती हैं। एक ही व्यक्तित्व कभी अच्छा और कभी बुरा होता है। ऐसा क्यों होता है—यह प्रश्न हजारों ने नहीं करोड़ों व्यक्तियों ने पूछा है और अपने-आप से भी यह प्रश्न पूछा गया है। हमारा मन बार-बार क्यों बदलता है? भाव क्यों बदलते हैं? विचार क्यों बदलते हैं? मनुष्य ने इन प्रश्नों का समाधान पाने का प्रयत्न भी किया। मनोविज्ञान ने भी इसका समाधान प्रस्तुत किया। पर वह भी संतोषजनक नहीं है, पूरा समाधान नहीं है। मनोविज्ञान का उत्तर पूरा इसलिए नहीं है कि वह पूरी मंजिल तय नहीं कर पाया। उसने जहां तक पहुंचकर उत्तर दिया वह ठीक है, पर पहुंचने के लिए और आगे भी बहुत अवकाश है।

व्यक्तित्व को जानने के तीन साधन हैं—इन्द्रियां, मन और चित्त या बुद्धि। हम इन्द्रियों से काम लेते हैं, मन और बुद्धि से काम लेते हैं। इनके अलावा हमारे पास और कोई साधन नहीं है। इन्द्रियों को हम जानते हैं, मन का पता भी चल जाता है, बुद्धि का पता भी चलता है, किन्तु इनके आगे हमारी पहुंच नहीं होती।

आज के डॉक्टर शरीर के एक-एक अवयव को, चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म, देख चुके हैं। हृदय को देखा, मस्तिष्क के यंत्र को देखा, आंतें और गुर्दे देखे। नसों का बिछा हुआ जाल देखा। और भी सूक्ष्म चीजें देखीं। पर सब कुछ इतना ही नहीं। अदृश्य बहुत ज्यादा है। उसे देखने के लिए डॉक्टर के पास साधन नहीं हैं, औजार नहीं हैं। मैंने एक डॉक्टर से कहा--जो कुछ देखा गया है वह आंखों से या आंखों के सहारे से देखा गया है, मन की चंचलता से देखा गया है, चित्त या बुद्धि की चंचलता से देखा गया है। इस प्रक्रिया से इतना ही दिखेगा। देखने की एक दूसरी प्रक्रिया है, जहां आंखें काम नहीं देतीं। उस प्रक्रिया में आंखें, बन्द, मन समाप्त और बुद्धि के दरवाजे बन्द हो जाते हैं। ऐसा करने के बाद जो दिखेगा, वह नया होगा और जो शल्य-चिकित्सा के द्वारा देखा गया नहीं होगा।

इस शरीर के भीतर अनन्त-अनन्त परमाणुओं के इतने पिण्ड हैं कि जिन्हें हम नहीं जानते, जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। मैं अभी बोल रहा हूं। बोलते समय मुझे भाषा के परमाणु चाहिए। भाषा के परमाणुओं को लिये बिना कोई बोल नहीं सकता। वे भाषा के परमाणु कहां से आते हैं? मेरे भीतर भाषा के परमाणु हैं। मेरे चारों ओर भाषा के परमाणु बिखरे पड़े हैं। पहले वे दिखाई नहीं देते। किन्तु जैसे ही बोलने का संकल्प किया, उच्चारण प्रारंभ किया कि भाषा के परमाणु भीतर आकर भाषा के रूप में बदल जाते हैं। उनमें स्फोट होता है और वे भाषा के रूप में प्रकट हो जाते हैं। वे फिर बाहर निकलकर समूचे आकाश में फैल जाते हैं। कोई भी आदमी बोलता है तो वह बोलने से पहले सोचता है। बिना सोचे कोई नहीं बोलता। ये चिन्तन के परमाणु कहां से आए? चिन्तन के परमाणुओं के सहयोग के बिना कोई भी व्यक्ति चिन्तन नहीं कर सकता। ये मानस वर्गणा के परमाणु, ये चिन्तन के परमाणु समूचे आकाश में फैले हुए हैं, भरे पड़े हैं। जैसे ही चिन्तन का संकल्प किया, चिन्तन के परमाणु भीतर आते हैं, चिन्तन के रूप में परिणत होते हैं और फिर उनकी आकृतियां समूचे आकाश में फैल जाती हैं। मेरे आसपास या किसी के भी आसपास भाषा के परमाणु

हैं, चिन्तन के परमाणु हैं, भावना के परमाणु हैं, रंग और लेश्या के परमाणु हैं, और न जाने परमाणुओं के कितने जाल बिछे हुए हैं, किन्तु दिखाई कुछ भी नहीं देता, कुछ भी ज्ञात नहीं होता। आंखों से वे भी दिखाई नहीं पड़ते। आंखें केवल स्थूल को ही पकड़ पाती हैं, सूक्ष्म को नहीं। आंख देखने का बहुत ही स्थूल माध्यम है। स्थूल माध्यम स्थूल को ही पकड़ पाता है। यह प्रकृति की व्यवस्था है। बहुत ही अच्छी व्यवस्था है। यदि आंखों में सूक्ष्म को देखने की क्षमता आ जाती तो आंखों के सामने इतने रूप आ जाते कि उनकी भीड़ हो जाती, आंखें कुछ कर ही नहीं पातीं। अच्छा हुआ कि हम एक निश्चित आवृत्ति (फ्रीक्वेन्सी) को ही देखते हैं और सुनते हैं। यह मर्यादा बहुत अच्छी है।

सूक्ष्म जगत् न इन्द्रियों से दिखाई देता है, न चिन्तन से उपलब्ध होता है और न बुद्धि के द्वारा गृहीत होता है। उसको ज्ञात करने का एकमात्र उपाय यह है कि सबके दरवाजे बन्द कर देना। न इन्द्रियों के दरवाजे खुले रहें, न चिन्तन के और न बुद्धि के। सब बन्द कर देने होते हैं। सब खिड़कियों को बन्द कर देने पर ही वह सूक्ष्म जगत् दिखाई दे सकता है, अन्यथा नहीं। इन सबको बन्द कर देने पर भीतर की यात्रा शुरू होती है और तब पता चलता है कि भीतर भी बहुत कुछ है। जिन लोगों ने भीतर में पहुंचकर इन प्रश्नों का समाधान दिया, सचमुच वह समाधान बहुत ही महत्त्वपूर्ण समाधान है।

व्यक्ति संकल्प करता है कि वह बुरा न सोचे, बुरा न करे, परन्तु यह संकल्प टूट जाता है। ऐसा क्यों होता है? इसको समझने के लिए हमें पूरे व्यक्तित्व को जानना होगा, व्यक्तित्व की गहराई तक जाना होगा। गहराई में उतरने पर हमें ज्ञात होगा कि हमारे भीतर दो महासागर लहरा रहे हैं। एक महासागर है संक्लेश का और दूसरा महासागर है असंक्लेश का। ये इतने विशाल हैं कि अन्यान्य महासागर इनके समक्ष छोटे पड़ते हैं। ये महासागर निरंतर स्पंदित हैं। उनका अजस्र प्रवाह बाहर आ रहा है। एक समुद्र से संक्लेश का प्रवाह बाहर आ रहा है और दूसरे समुद्र से असंक्लेश का प्रवाह बाहर आ रहा है। दोनों प्रवाह बाहर आते हैं। जब संक्लेश का प्रवाह बाहर आता है तब बुरा न चाहने पर

भी व्यक्ति का मन बुरे विचारों और भावों से भर जाता है। जब संक्लेश का प्रवाह बाहर आता है तब बुरा कार्य न चाहने पर भी बुरा कार्य हो जाता है। न चाहने पर भी इन हाथों से, पैरों से, इंद्रियों से और मांसपेशियों से बुरा कार्य हो जाता है। इसमें व्यक्ति का क्या दोष? व्यक्ति का कोई दोष नहीं, यह सारा दोष है संक्लेश के प्रवाह का, जो आता है और व्यक्ति को बुरा चिन्तन करने, बुरे भाव पनपने और बुरा कार्य करने के लिए बाध्य कर देता है। जब असंक्लेश का प्रवाह बाहर आता है, हम चाहें न चाहें, अच्छा चिन्तन, अच्छा भाव और अच्छा आचरण हो जाता है। इससे यह फलित हुआ कि आदमी कुछ नहीं करता। सब कुछ भीतर का प्रवाह करवाता है। संक्लेश का प्रवाह अथवा असंक्लेश का प्रवाह मनुष्य को प्रेरित करता है बुरा करने के लिए या अच्छा करने के लिए। अच्छे-बुरे के लिए भीतर से आने वाला प्रवाह जिम्मेदार है, मनुष्य नहीं। जैसा प्रवाह, वैसा ही व्यक्तित्व। इसका तात्पर्य यह हुआ कि हम उस कठपुतली की भांति हैं जो आदमी के इशारों पर नाचती है। उसका अपना कोई भी स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इसी प्रकार हमारा शरीर, हमारा मन, हमारी भावना भी भीतर से बहने वाले प्रवाहों के आधार पर नाचने लग जाती है। यह कहकर हम अच्छे-बुरे के उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकते।

प्रश्न है कि भीतर से संक्लेश का प्रवाह क्यों आता है? असंक्लेश का प्रवाह क्यों आता है? कभी संक्लेश का प्रवाह और कभी असंक्लेश का प्रवाह—ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर हमें पाना है। एक बड़ा बांध है। उसके दरवाजे हैं। दरवाजा खोलते हैं तो पानी बाहर बहने लगता है। दरवाजे को बन्द रखते हैं तो पानी बांध से बाहर नहीं जाता, भीतर ही रहता है। इसी प्रकार जब हम संक्लेश के दरवाजे को खोलते हैं तो संक्लेश का प्रवाह बाहर आने लग जाता है और जब हम असंक्लेश के दरवाजे को खोलते हैं तो असंक्लेश का प्रवाह बाहर आने लग जाता है। संक्लेश को बाहर लाने वाला 'मैं' हूं और असंक्लेश को बाहर लाने वाला भी 'मैं' हूं, मुझसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है। इसका उत्तरदायित्व मनुष्य पर ही है। वही कभी एक दरवाजे को खोलता है और दूसरे

को बन्द कर देता है और कभी दूसरे को खोलता है और पहले को बन्द कर देता है। वही संक्लेश के प्रवाह को बाहर लाता है और वही असंक्लेश के प्रवाह को बाहर लाता है। अच्छे-बुरे विचारों, भावनाओं और आचरणों का उत्तरदायी वही है। जिसके हाथ में दरवाजे को खोलने और बन्द करने की क्षमता है, सारा उत्तरदायित्व उसका हो जाता है। फिर वह उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकता।

प्रश्न यह है—वह कौन-सी चाबी है जिससे संक्लेश के दरवाजे को ताला लगा दिया जाए, बन्द कर दिया जाए और असंक्लेश के दरवाजे का ताला खोल दिया जाए, दरवाजा खोल दिया जाये? आप सोचते होंगे कि ऐसी चाबी हाथ लग जाए तो संक्लेश के दरवाजे को कभी नहीं खोलेंगे। उसे सदा बन्द रखेंगे और असंक्लेश के दरवाजे को सदा के लिए खोल देंगे। उसे कभी बन्द नहीं होने देंगे। ऐसा हो जाने पर बुरा विचार समाप्त, बुरा भाव समाप्त और बुरा आचरण समाप्त। आप उत्सुक हैं कि ऐसा हो जाए। यह उत्सुकता स्वाभाविक है, अच्छी है।

संक्लेश के दरवाजे को खोलने की भी एक चाबी है और असंक्लेश के दरवाजे को खोलने की भी एक चाबी है। दोनों की दो चाबियां हैं। ऐसा न हो कि आप उलट-पलट कर दें। दोनों के अलग-अलग ताले हैं। दोनों की अलग-अलग चाबियां हैं। जब हम मूर्च्छा की चाबी का प्रयोग करते हैं तो संक्लेश का ताला खुल जाता है और भीतर का प्रवाह बाहर आता है। व्यक्ति बुरे विचारों, बुरी भावनाओं और बुरे आचरणों से भर जाता है। भीतर का स्रोत फूट पड़ता है। बुराई का बहुत बड़ा दरवाजा खुल जाता है। जब तक यह दरवाजा बन्द नहीं होता, बुराई से छुटकारा नहीं पाया जा सकता। जब जागृति की, जागरण की चाबी घुमाते हैं तो असंक्लेश का ताला खुलता है और अच्छाई का बहुत बड़ा द्वार उद्घाटित हो जाता है। यह जागृति की चाबी दो काम करती है। यह संक्लेश के ताले को खोलती भी है और संक्लेश के ताले को बन्द भी करती है। यह जागृति जब हस्तगत होती है, तब आदमी चाहे या न चाहे भीतर से एक ऐसा प्रवाह फूट पड़ता है कि सारे पवित्र विचार, पवित्र भावनाएं और पवित्र आचरण अपने-आप बाहर आने लगते हैं।

मूल प्रश्न है—चाबियों का मिलना। इतने विशाल महासागर के दो विशाल प्रवाहों को रोकने या बाहर लाने का प्रश्न जटिल है।

श्वास-प्रेक्षा का अर्थ है—श्वास के प्रति जागृति। जो व्यक्ति श्वास के प्रति नहीं जागता, वह व्यक्ति जागृति की चाबी को नहीं घुमा सकता। जिस व्यक्ति ने श्वास के प्रति जागरूकता प्राप्त कर ली, जिसने अपने श्वास को जानना प्रारंभ कर लिया, मन जागरूक बन गया, तब वह हर श्वास को देखता है। किसी भी श्वास को अनजाने नहीं लेता, किन्तु पूर्ण जानकारी में लेता है और छोड़ता है। ऐसे व्यक्ति के हाथ में असंक्लेश के ताले को खोलने की चाबी आ जाती है।

शरीर-प्रेक्षा भी इस प्राप्ति का साधन है। जो व्यक्ति अपने शरीर के प्रति जागरूक नहीं है, जो उस शरीर के प्रति नहीं जागता, जहां से चाबी घुमाई जाती है, वह कभी भी असंक्लेश के ताले को नहीं खोल सकता।

हम इस बात को बहुत गहराई से समझें। यह एक बड़ा रहस्य है। जो भी प्रवाह भीतर से बाहर आता है, वह शरीर के माध्यम से आता है। क्रोध आएगा तो शरीर के माध्यम से, अभिमान और लोभ आएगा तो शरीर के माध्यम से और वासना उभरेगी तो शरीर के माध्यम से। जितने आवेग, उत्तेजनाएं, वासनाएं और कामनाएं हैं—ये सब शरीर के माध्यम से उभरती हैं। नाड़ी संस्थान में दो प्रकार के स्नायु हैं—ज्ञानवाही स्नायु और क्रियावाही स्नायु। जो ज्ञानवाही स्नायु हैं, उनके माध्यम से हम जानते हैं, संवेदन करते हैं। पैर में कांटा चुभा। तत्काल पैर के स्नायु उस उत्तेजना को सिर तक पहुंचा देता है। सिर के स्नायु क्रियावाही स्नायुओं को कांटा निकालने का आदेश देते हैं। तत्काल हाथ की मांसपेशियां सक्रिय हो जाती हैं और अंगुलियां कांटा निकालने लग जाती हैं। सब कुछ स्नायु के द्वारा घटित होता है।

मनुष्य शान्त बैठा है। अचानक उसमें क्रोध उभरा। जब तक क्रोध की तरंग स्नायु पर नहीं दौड़ेगी, मनुष्य का क्रोध अभिव्यक्त नहीं होगा। भीतर में कितना ही प्रबल क्रोध उभरा, किन्तु स्नायु में यदि नहीं उतरा तो वह भीतर ही भीतर रह जाएगा, प्रकट नहीं होगा। क्रोध तभी प्रकट

होता है जब स्नायु उसका सहयोग करें। हमारा नाड़ी-संस्थान उसका सहयोग करे। अन्यथा वह भीतर ही समाप्त हो जाता है।

शरीर-प्रेक्षा का बहुत बड़ा मूल्य है। इसे आप समझें। शरीर-प्रेक्षा करने वाला साधक शरीर के प्रति जागरूक हो जाता है। जब व्यक्ति शरीर के प्रति सजग हो जाता है, तब वह शरीर के प्रमुख हजार केन्द्रों के प्रति, संवेदन-बिन्दुओं के प्रति जागृत हो जाता है। शरीर में हजारों मर्मस्थल हैं। वह साधक उन मर्मस्थलों के प्रति जागरूक हो जाता है। ये मर्मस्थल शक्तियों के आदान-प्रदान के माध्यम हैं। ये शक्तियों को अभिव्यक्ति देते हैं। ये वृत्तियों को प्रकट करते हैं। क्रोध की अभिव्यक्ति का एक निश्चित बिन्दु है शरीर में। क्रोध आएगा तो शरीर में उत्तेजना पैदा होगी, एक लहर दौड़ेगी और ठीक बिन्दु पर पहुंचकर क्रोध संवेदन के रूप में बदल जाएगा और वह शारीरिक रूप ले लेगा। आंखें लाल हो जाएंगी। होंठ फड़कने लगेंगे। आवाज बदल जायेगी। यदि हम शरीर के प्रति जाग जाएं, इन स्नायुओं पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लें। नाड़ी-संस्थान पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लें और उन्हें भीतर के आवेगों के साथ असहयोग करने का निर्देश दे दें तो भीतर में कितनी ही वृत्तियां क्यों न उभरें, वे बाहर नहीं आ पायेंगी। यह उपशमन की प्रक्रिया है।

दो प्रकार की प्रक्रियाएं हैं। एक है उपशमन की प्रक्रिया और दूसरी है क्षय की प्रक्रिया। क्षय की प्रक्रिया से भीतर के संक्लेश समाप्त हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। उपशमन की प्रक्रिया से संक्लेश उपशांत होते हैं, समूल नष्ट नहीं होते। उपशमन की प्रक्रिया भी जरूरी है। जब तक हम उपशमन की प्रक्रिया नहीं सीख लेते, आने वाली उत्तेजनाओं को विफल करना नहीं जान लेते तब तक क्षय करना कठिन हो जाता है। पहले जरूरी होता है कि एक बार बीमारी को शांत किया जाए, पीड़ा को कम किया जाए, फिर लंबे समय तक बीमारी को उन्मूलित करने की क्रिया की जाए तो उसे समूल नष्ट किया जा सकता है। यदि बीमारी विकराल रूप में उभर रही हो, सिर फट रहा हो, उस समय यदि कहा जाए कि तुम लंबी प्रक्रिया करो, तीन महीने तक यह प्रक्रिया करो, तुम्हारी बीमारी समूल नष्ट हो जाएगी। इतना धैर्य कहां होता है!

वह तत्काल बीमारी का उपशमन कर एक बार पीड़ा को कम कर देना चाहता है। जब वेदना शांत हो जाती है, फिर लंबी चिकित्सा कर रोग का समूल नाश कर दिया जाता है।

उपशमन की प्रक्रिया बहुत आवश्यक है।

हम शरीर-प्रेक्षा के द्वारा नाड़ी-संस्थान जो जागृत कर लेते हैं। यह जागरण बहुत महत्त्वपूर्ण है। नाड़ी-संस्थान जितना मजबूत होता है, उतना ही मजबूत वह व्यक्ति होता है। केवल मांस और हड्डियों के मजबूत होने से बहुत नहीं होता। ये तो नाड़ी-संस्थान को आवृत करने वाले साधन हैं। महत्त्वपूर्ण है नाड़ी-संस्थान। ज्ञानवाही और क्रियावाही नाड़ियों का ही सारा कर्तृत्व है। हम शरीर-प्रेक्षा के द्वारा स्नायुओं को इतना जागृत कर लें कि वे हमारे सभी निर्देशों का अवश्य पालन करें और वे भीतर से आने वाले प्रवाह को बाहर न आने दें, प्रकट न होने दें। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य है।

भगवान महावीर और बुद्ध के समय में एक प्रश्न चर्चित था कि दंड कितने होते हैं। महावीर का कथन था—'दंड तीन होते हैं। मन का दंड, वाणी का दंड और काया का दंड।' बुद्ध कहते थे—'दंड एक ही है। वह है मन का दंड, मनोदंड। न वाणी का दंड होता है और न काया का दंड होता है। केवल मन का दंड होता है।'

बुद्ध ने ही नहीं अनेक आचार्यों ने कहा—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।' मन ही बन्धन का कारण है और मन ही मुक्ति का कारण है। मन ही बांधता है और मन ही छुड़ाता है। प्रायः लोग भी यही सोचते हैं कि सब कुछ मन ही है। सतही स्तर पर यह बात सही हो सकती है, पर गहरे में जाने की जरूरत है। महावीर ने जो तीन दंडों की व्यवस्था दी, वह बहुत ही वैज्ञानिक व्यवस्था है। केवल मन से कुछ नहीं बनता। काया के दंड का भी अपना महत्त्व है। जब शरीर में फैले हुए नाड़ी-संस्थान में किसी प्रकार का संस्कार बन जाता है, वे सक्रिय हो जाते हैं, तब मन बेचारा बैठा रह जाता है। अभ्यास हो गया शरीर को। वहां शरीर मुख्य हो जाता है। नाड़ी-संस्थान में जो उत्तेजनाएं, जो वासनाएं, जो तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं, फिर न चाहने पर भी वह घटना

घटित हो जाती है, क्योंकि नाड़ी-संस्थान को वह अभ्यास बन जाता है। मन बेचारा कुछ नहीं कर सकता। नाड़ी-संस्थान मन का अनुचर नहीं है, मन का दास नहीं; इसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। इस स्थिति में केवल एक ही दंड—मनोदंड को नहीं माना जा सकता। वाणी का अपना तंत्र है, मन का अपना तंत्र है और काया का अपना तंत्र है। नाड़ी-संस्थान हमारा क्रिया-तंत्र है। उसके तीन उपतंत्र हैं—एक मन का, एक वाणी का और एक काया का। तीनों का अपना-अपना मूल्य है। न मन को अधिक मूल्य दिया जा सकता है और न वाणी और शरीर को—तीनों का स्वतंत्र मूल्य है।

कई बार हम कह देते हैं—मैं यह कहना तो नहीं चाहता था, पर वाणी से निकल गया। यह वाणी तंत्र के स्वतंत्र अस्तित्व का द्योतक है। हमने जिस स्थिति में वाणी को जैसा अभ्यास दे दिया, उस प्रकार की घटना घटित हो जाती है। क्रोध उभरा और आपके न चाहने पर भी वैसे शब्द निकल जाएंगे जो अप्रिय होते हैं। कभी-कभी मन के न चाहने पर भी अघटित घटित हो जाता है। यदि मन ही सब कुछ होता तो ऐसा कभी नहीं हो सकता। यदि मन का एकछत्र साम्राज्य होता तो उसके विपरीत कुछ भी नहीं हो पाता। पर ऐसा नहीं है। मन का, वाणी का और शरीर का अपना-अपना स्वतंत्र तंत्र है।

प्राणशक्तियां दस हैं। उनमें एक है मनःप्राणशक्ति। यह एक किरण है, रश्मि है। जैसे मन की प्राणशक्ति है वैसे ही वाणी की प्राणशक्ति है और शरीर की प्राणशक्ति है। किसी एक को अतिरिक्त मूल्य नहीं दिया जा सकता।

भीतर से जो आता है वह सबसे पहले नाड़ी-संस्थान में उतरता है। एक बात और है। मन अकेला कुछ नहीं कर सकता। मन की क्रिया तब होती है जब उसे मस्तिष्क का सहयोग मिलता है।

शरीर इसलिए प्रधान है कि बाहर से जो भीतर जाता है, वह भी काया के द्वारा जाता है और भीतर से जो बाहर जाता है, वह भी काया के द्वारा जाता है। यह शरीर भीतर और बाहर जाने का माध्यम है। भीतर दो महासागर हैं—एक है अन्तर्जगत् और दूसरा है बाह्यजगत्। क्या

ये दोनों भीतर ही जन्मे हैं? नहीं, ये बाहर से भीतर गए हैं। सारी नदियों का पानी बाहर से भीतर गया है और धीरे-धीरे महासागर बन गए। भीतर जाने का माध्यम था—शरीर। शरीर ने आस्रवों को अपने में समाहित किया और इतना लंबा समय बीत गया कि वह पानी एकत्रित होते-होते महासागर के रूप में परिणत हो गया। शरीर ने ही नदियों का महासागर कर अपने में महासागर का निर्माण किया है। इसलिए शरीर बहुत महत्त्वपूर्ण माध्यम है। जो प्रवाह शरीर के बाहर जाता है, वह भी शरीर के माध्यम से और जो प्रवाह भीतर आता है, वह भी शरीर के माध्यम से। इसलिए यदि हम कहें—'काय एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः'—शरीर ही बन्धन और बन्धन-मुक्ति का कारण है, तो अच्छी बात होगी। साथ-साथ हम यह भी कहें—'वागेव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' और 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।' तीनों को मिलाने पर पूरी बात होगी।

यदि हम शरीर के प्रति जागरूक हो जाते हैं, इस मूर्च्छा को तोड़ डालते हैं, स्नायु-संस्थान पर नियंत्रण कर लेते हैं, उसमें उठने वाली उत्तेजनाओं और वासनाओं की तरंगों को बदल देते हैं तो बहुत महत्त्व का कार्य घटित हो जाता है। उपशमन की क्रिया संपन्न हो जाती है। फिर माया विफल, लोभ विफल, जितनी बीमारियां उभरना चाहती थीं, वे सारी विफल। जब विफल करने की चाबी हाथ लग जाती है, तब पहले सब उत्तेजनाओं को विफल कर, उपशांत कर, फिर उनके उन्मूलन का प्रयत्न किया जाता है। धीरे-धीरे उनका उन्मूलन हो जाता है।

प्रेक्षा की फलवत्ता इसी से समझी जा सकती है कि जिस व्यक्ति ने अपने शरीर के प्रति जागना शुरू कर दिया, उसने भीतर से आने वाली बुराई के प्रवाह को रोक दिया और वह उपशमन की क्रिया करते-करते एक दिन उन सभी बुराइयों को क्षीण करने की स्थिति तक पहुंच जाएगा।

२. व्यक्तित्व की व्यूह-रचना : आत्मा और शरीर का मिलन-बिन्दु

१. • आत्मा और शरीर दो तत्त्व हैं।

२. • उनका सम्बन्ध क्या है? वह कहां से प्रारंभ होता है? केन्द्र में आत्मा, परिधि में कषाय-तंत्र जो अतिसूक्ष्म शरीर का मजबूत मोर्चा बनाए बैठा है। शक्ति-तंत्र जो प्राण-विद्युत् प्रवाहित कर रहा है।

• चैतन्य के स्पंदन : अध्यवसाय-तंत्र।
ज्ञेयात्मक, रागात्मक, द्वेषात्मक।

३. • यहां तक स्थूल शरीर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। अध्यवसाय का सम्बन्ध सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म शरीर से। यह वनस्पति आदि में भी।

४. • अध्यवसाय के स्पंदन स्थूल शरीर (चित्त-तंत्र और मस्तिष्क) के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं और लेश्यातंत्र या भावतंत्र तथा रंग के परमाणु ग्रन्थियों को प्रभावित करते हैं।

• क्रिया-तंत्र : मन, वचन, शरीर।
नाड़ी-संस्थान को प्रभावित कर मन, वचन, शरीर की क्रिया का संचालन करता है।

• तैजस् शरीर से रंग दिखने शुरू हो जाते हैं।

संसार में दो तत्त्व हैं। एक है चेतन, दूसरा है अचेतन। एक है जीव, दूसरा है अजीव। जीव चेतन है और शरीर अचेतन। कुछ केवल शरीर को ही मानते हैं, केवल अजीव या अचेतन को ही स्वीकार करते

हैं। वे चेतन या जीव की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। यह विभेद क्यों? विमर्श करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि जिन लोगों ने चित्त तक की यात्रा की, उससे आगे नहीं जा सके, उन्होंने आत्मा को स्वीकार नहीं किया। चित्त तक पहुंचने वाला आत्मा को स्वीकृति नहीं दे सकता। उसको आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व मान्य नहीं हो सकता। जिन लोगों ने चित्त से परे की यात्रा की, जो चित्त से आगे बढ़े, उन्होंने आत्मा को स्वीकार किया। एक है अध्यवसाय और एक है चित्त। चित्त तक की यात्रा शरीर-संबद्ध यात्रा होती है। अध्यवसाय तक की यात्रा शरीर से परे की यात्रा होती है। जब हम अध्यवसाय तक पहुंचते हैं वहां हमारा संबंध शरीर से छूट जाता है। शरीर इस पार रह जाता है और अध्यवसाय उस पार रह जाता है। शरीर और अध्यवसाय का कोई संबंध नहीं है।

आत्मवादी दर्शन आत्मा और शरीर को भिन्न मानते हैं, दो मानते हैं। दो मानने पर दोनों में संबंध कैसे हो सकता है? वह कौन-सा बिन्दु है जहां आत्मा और शरीर परस्पर मिलते हैं, जुड़ते हैं। उस बिन्दु की खोज होनी चाहिए। इस खोज के परिणामस्वरूप यात्रा शरीर से बहुत आगे बढ़ गई। उस यात्रा के सारे बिन्दुओं को समझे बिना आत्मवादी व्यक्तित्व को नहीं समझा जा सकता। शरीरवादी व्यक्तित्व इन्द्रिय, मन और चित्त तक जाकर रुक जाता है, आगे नहीं बढ़ता। आत्मवादी व्यक्तित्व की व्यूह-रचना बहुत जटिल है। स्थूल शरीर, इन्द्रियां, मन, चित्त, अध्यवसाय, कषाय का वलय और फिर चेतन-आत्मा। हम आत्मा से चलें। केन्द्र में एक चेतन तत्त्व है। उसे हम द्रव्यात्मा--मूल आत्मा कहते हैं। यह मूल चैतन्य का केन्द्र है। उसकी परिधि में अनेक तत्त्व काम करते हैं। उस चेतन तत्त्व के बाहर कषाय का वलय है। कषाय का तंत्र इतना मजबूत है कि वह आत्मा पर अपना अधिकार जमाए बैठा है। यद्यपि चेतन तत्त्व को शासक का स्थान प्राप्त है, फिर भी उस शासक का सेनापति कषाय इतना शक्तिशाली है कि उसकी इच्छा के बिना शासक कुछ नहीं कर सकता। वह सेनापति जो निर्णय ले लेता है, शासक को वह स्वीकार करना ही पड़ता है। चेतन तत्त्व और कषाय

तत्त्व के बीच एक समझौता है, कषाय तंत्र का एक स्पष्ट निर्देश है कि चैतन्य के स्पंदन यदि कषाय वलय को भेद कर बाहर जाते हैं तो वे शुद्ध तभी रह सकते हैं जब वे केवल ज्ञेय के प्रति जाते हैं। ज्ञेय के सिवाय यदि वे और कहीं भी जाते हैं तो कषाय तंत्र की छत्रछाया में ही जा सकते हैं,. अन्यथा नहीं जा सकते। चैतन्य के जो असंख्य स्पंदन बाहर निकलते हैं, वे कषाय तंत्र को पार कर, अतिसूक्ष्म शरीर को पार कर बाहर आते हैं, उनका एक स्वतंत्र तंत्र बन जाता है। वह है अध्यवसाय का तंत्र। यह तंत्र तैजस् शरीर के साथ-साथ सक्रिय होकर काम करता है। जिन लोगों ने आत्मा को जाना, आत्मा का साक्षात्कार किया, सूक्ष्मता में गए, उन लोगों ने मन को कभी महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने सदा अध्यवसाय को महत्त्व दिया। यही एक ऐसा बिन्दु है जहां से आत्मा को शरीर से पृथक् किया जा सकता है और उनके संबंध और असंबंध की व्याख्या की जा सकती है। मन मनुष्य में होता है, विकासशील प्राणियों में होता है। जिनके सुषुम्ना है, मस्तिष्क है, उनमें मन होता है। सब जीवों में मन नहीं होता। किन्तु अध्यवसाय सब जीवों में होते हैं। वनस्पति में भी अध्यवसाय होते हैं। एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों तक—सब जीवों में अध्यवसाय होते हैं, किन्तु मन सब में नहीं होता। जिनके मन होता है, उनके भी कर्मबंध होता है और जिनके मन नहीं होता, उनके भी कर्मबंध होता है। कर्म का बंध सब जीवों को होता है। सूत्रकृतांग सूत्र में एक सुन्दर चर्चा है। एक मनुष्य रात को सोया है। उसका स्थूल मन निष्क्रिय है। वह इतनी गाढ़ निद्रा में है कि वह स्वप्न नहीं देख रहा है, फिर भी उसके हिंसा का कर्मबंध हो रहा है। बहुत महत्त्वपूर्ण उल्लेख है। एक ओर तो हम कह देते हैं कि जब मन सक्रिय होता है तब कर्म का बंध होता है और जो व्यक्ति गाढ़ निद्रा में है, उनका मन अव्यक्त है, स्थूल चेतना अव्यक्त है, स्वप्न भी नहीं आ रहे हैं, फिर भी कर्म का बंध हो रहा है और वह भी हिंसा के कर्म का बंध हो रहा है। यदि दृष्टिकोण उसका मिथ्या है तो न केवल हिंसा का कर्मबंध हो रहा है, अपितु अठारह पापों का भी बंध हो रहा है। यह सुनकर शिष्य

ने पूछा—'भंते! यह कैसे हो सकता है कि सोया व्यक्ति कर्मबंध करता है?' इस तथ्य को समझाने के लिए दो उदाहरण प्रस्तुत किए गए। एक है संज्ञी का उदाहरण और दूसरा है असंज्ञी का उदाहरण। असंज्ञी का उदाहरण बहुत महत्त्व का है। वह अध्यवसाय की सारी स्थिति को स्पष्ट करता है। एक वनस्पति का जीव है। उसके न मन है, न वचन है, केवल शरीर है। वह जीव निरंतर सोया रहता है। उसके लिए न कोई दिन होता है और न कोई रात। सब कुछ रात ही रात है। वह जीव केवल सोता ही सोता है। मनशून्य और वचनशून्य। वह वनस्पति का जीव भी अठारह पापों का सेवन करता है। अठारह पापों से होने वाला कर्मबंध उसका होता है। ऐसा क्यों होता है? यह इसलिए होता है कि उस जीव के अध्यवसाय होते हैं, असंख्य अध्यवसाय होते हैं। वे अध्यवसाय विशुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकार के होते हैं। अशुद्ध अध्यवसाय होते हैं, इसलिए उनके कर्म का बंध होता है। हिंसाजनित कर्म का बंध भी होता है और परिग्रहजनित कर्म का बंध भी होता है। इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभजनित कर्म का बंध भी होता है। वह जीव अपने शत्रुओं की हिंसा करता है, इसलिए हिंसाजनित कर्म का बंध होता है। बहुत उलझन-भरी बात है। क्या ऐसा होना संभव है? हां, संभव है।

हम वर्तमान के विज्ञान की दृष्टि को भी समझें। हमने मस्तिष्क, मन और वचन को बहुत बड़ा स्थान दे दिया। किन्तु हमारे ज्ञान का सबसे बड़ा स्रोत है अध्यवसाय। अध्यवसाय के बाद जो ज्ञान होता है, शारीरिक दृष्टि से, तो वहां ज्ञान के बड़े स्रोत हैं—हमारी कोशिकाएं। जिन जीवों के मस्तिष्क नहीं होता, मन नहीं होता, उनकी कोशिकाएं सारा ज्ञान करती हैं। वनस्पति के जीव जितने संवेदनशील होते हैं, मनुष्य उतने संवेदनशील नहीं होते। वनस्पति में अध्यवसाय का सीधा परिणाम होता है, इसलिए उन जीवों में जितनी पहचान, जितनी स्मृति और दूसरों के मनोभावों को जानने की जितनी क्षमता होती है, वैसी क्षमता बहुत सारे मनुष्यों में भी नहीं होती।

वैज्ञानिक वेकस्टन ने वनस्पति पर अनेक प्रयोग किए। उसने एक

प्रयोग यह किया—उसने कागज के छह टुकड़े लिये। पांच टुकड़ों पर कुछ नहीं लिखा। एक टुकड़े पर लिखा—इस कमरे में जो दो पौधे हैं, उनमें से एक पौधे को उखाड़ देना है, नष्ट कर देना है, पैरों से रौंद डालना है। उसने कागज के छहों टुकड़े कमरे में रख दिए। फिर उसने छह व्यक्तियों की आंखों पर पट्टी बांधकर उनसे कहा—'कमरे में जाओ और एक-एक टुकड़े उठा लो।' छहों व्यक्ति कमरे में गए। जो हाथ में आया, वह टुकड़ा उन्होंने एक-एक कर उठा लिया। एक व्यक्ति के हाथ में वह लिखा हुआ कागज आया। छहों ने आंख की पट्टियां खोलीं। अपना-अपना कागज देखा। पांच के कागज खाली थे। छठे के कागज पर कुछ लिखा था। वह व्यक्ति कमरे में गया और लिखे अनुसार एक पौधे को उखाड़ा, पैरों से रौंदा और उसे नष्ट कर डाला। वेकस्टन को भी पता नहीं था कि छहों व्यक्तियों में से किसने यह काम किया है। अब वेकस्टन ने एक-एक कर छहों व्यक्तियों को कमरे में जाने के लिए कहा। कमरे में जो एक पौधा बचा था, उस पर पोलीग्राफ लगा दिया गया। पहला व्यक्ति गया। पौधे पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। दूसरा, तीसरा, चौथा और पांचवां व्यक्ति गया। पौधे ने कोई प्रतिक्रिया अंकित नहीं की। वह शांत था, सहज-सरल था। ज्योंही साथी पौधे को उखाड़ फेंकने वाला छठा व्यक्ति कमरे में प्रविष्ट हुआ, सारा पौधा कांप उठा। उसके कंपन पोलीग्राफ पर अंकित होने लगे। उस ग्राफ को देखकर वैज्ञानिक ने जान लिया कि इस व्यक्ति ने ही पौधे को नष्ट किया है। मनुष्य नहीं जान सका इस सारी बात को और पौधा जान गया, पहचान गया। कितना तीव्र संवेदन और कितनी तेज पहचान होती है बनस्पति के जीव में।

वैज्ञानिक वेकस्टन ने एक दूसरा प्रयोग भी किया। पौधों पर पोलीग्राफ लगा हुआ था। वह एक प्रयोग कर रहा था। प्रयोग करते-करते उसके मन में एक बात आयी। उसने मन ही मन सोचा कि दियासलाई मंगवाकर इस पौधे को जला डालूं। जैसे ही उसके मन में यह बात आयी, ग्राफ की सुई घूमने लगी। अग्नि का ग्राफ उभर आया। दूसरा ग्राफ भी वैसा ही हुआ। वह वहां से उठा। कमरे में गया दियासलाई

लाने। उसका मन बदल गया। उसने सोचा—मैं पौधे को नहीं जलाऊंगा। यह सोचकर वह पौधे के पास गया। ग्राफ की सुई स्थिर थी। कोई ग्राफ नहीं आया।

मनुष्य भी दूसरे के मनोभावों को इस प्रकार नहीं जान पाता, वनस्पति का जीव वह ज्ञान कर लेता है। एक प्रश्न आता है कि जब वनस्पति में या एक इन्द्रिय वाले जीवों में मन नहीं होता तो फिर वे इतना सूक्ष्म ज्ञान कैसे कर लेते हैं? यह प्रश्न आता है, किन्तु हमें यह याद रखना है कि मन ज्ञान का साधन नहीं है। वास्तव में मन जानने का साधन नहीं है। जहां से ज्ञान का स्रोत प्रवाहित होता है, वह है अध्यवसाय। हमने अध्यवसाय की उपेक्षा कर सारा भार बेचारे मन पर डाल दिया। ऐसा लगता है कि हाथी का भार गधे पर डाल दिया। कैसे उठाए वह उस भार को!

पहले है चैतन्य-केन्द्र आत्मा। फिर आता है कषाय का तंत्र और उसके बाद आता है अध्यवसाय का तंत्र। यहां तक स्थूल शरीर का कोई संबंध नहीं रहता। यह केवल कर्म शरीर और तैजस् शरीर से ही संबंधित रहते हैं। यहां स्थूल अवयवों का कोई संबंध नहीं रहता। 'परं परं सूक्ष्मं'—'तैजस् शरीर सूक्ष्म है और कर्म शरीर उससे भी अधिक सूक्ष्म।' ये दोनों शरीर हैं, पर इनके कोई अवयव नहीं हैं। न हाथ हैं, न पैर हैं और न मस्तिष्क है। कोई अवयव नहीं। न सुषुम्ना है और न सुषुम्नाशीर्ष है। जानने का कोई माध्यम नहीं है। वहां सारा ज्ञान अध्यवसाय से होता है। वह बिना माध्यम और अवयवों से रहित ज्ञान है। यह एक रेखा है। यह स्थूल शरीर के बिना होने वाले ज्ञान की सीमा-रेखा है। इससे परे है स्थूल शरीर से होने वाले ज्ञान की सीमा-रेखा। अध्यवसाय तंत्र के स्पंदन आगे बढ़ते हैं और वे स्थूल शरीर में उभरते हैं। जब वे स्थूल शरीर में उतरते हैं, तब शरीर के साथ आत्मा का स्पंदन जुड़ता है। वहां सबसे पहले चित्त तंत्र का निर्माण होता है। स्थूल में आत्मा का पहला पड़ाव है चित्त का निर्माण। चित्त का निर्माण मस्तिष्क के माध्यम से होता है। अब ज्ञान स्थूल शरीर के अवयवों के माध्यम से अभिव्यक्त होने लगता है। यहां ज्ञान अवयवों का सहयोग लेकर ही

अभिव्यक्त हो पाता है। चित्त-तंत्र केवल ज्ञेय का, जानने का साधन मात्र है। अध्यवसाय की अनेक रश्मियां फूटती हैं। उसके अनेक स्पंदन अनेक दिशाओं में आगे बढ़ते हैं। 'असंखेज्जा अज्झवसाणठाणा'—'अध्यवसाय के असंख्य स्थान हैं।' लोक के जितने आकाश-प्रदेश हैं, उतने ही हमारे अध्यवसाय हैं। लोक-प्रदेश असंख्य हैं और अध्यवसाय भी असंख्य हैं। वे चित्त पर उतरते हैं। उनकी एक धारा चलती है। वह है भाव की धारालेश्या। अध्यवसाय की एक धारा, चित्त की एक धारा जो रंग के परमाणुओं से प्रभावित होती है, रंग के परमाणुओं के साथ जुड़कर भावों का निर्माण करती है, वह है हमारा लेश्या-तंत्र या भाव-तंत्र। इसके द्वारा ही सारे भाव निर्मित होते हैं। जितने भी अच्छे या बुरे भाव हैं, वे सारे लेश्या-तंत्र के द्वारा निर्मित होते हैं। अध्यवसाय प्रभावित करते हैं नाड़ी-संस्थान को, मस्तिष्क को। जब ये चित्त की दिशा में आगे बढ़ते हैं और जब ये लेश्या की दिशा में आगे बढ़ते हैं, तब ये प्रभावित करते हैं हमारी ग्रन्थियों को और उनके माध्यम से हमारे सारे शरीर-तंत्र को प्रभावित करते हैं।

लेश्या की एक परिभाषा है—कर्म निर्झर। लेश्या कर्म का झरना है, कर्म का प्रवाह है। कर्म के प्रवाह जो प्रवाहित होकर बाहर आते हैं, वे ग्रन्थियों के माध्यम से बाहर आते हैं। ये हैं : ग्रन्थियों के स्राव, ग्रन्थियों के रसायन और रसानुबंध यानी कर्म का अनुभाग बंध। अनुभाग बंध भी रसायन है। कर्म का रसायन इन ग्रन्थियों के माध्यम से बाहर आकर हमारे समूचे तंत्र को प्रभावित करता है। अब तक भी बेचारे मन का कोई स्थान नहीं आया। यह चित्त-तंत्र और लेश्या-तंत्र हमारे क्रिया-तंत्र को प्रभावित करता है।

क्रिया-तंत्र के तीन अंग हैं—मन, वचन और शरीर। क्रिया-तंत्र का एक अंग है—मन। वह तो एक पुर्जा है। इसका कार्य है—काम करना। मन का कार्य ज्ञान करना नहीं है। मन का कार्य कर्म को बांधना नहीं है। मन का कार्य कर्म को तोड़ना भी नहीं है। मन का काम है ऊपर से मिलने वाले निर्देशों का पालन करना, उनको क्रियान्वित करना। इसी प्रकार वचन भी निर्देशों की क्रियान्विति करता है और

शरीर भी निर्देशों की क्रियान्विति करता है। ये तीनों क्रियान्विति के साधन हैं, ज्ञान के साधन नहीं हैं। ज्ञान-तंत्र चित्त-तंत्र तक समाप्त हो जाता है। भाव-तंत्र लेश्या-तंत्र तक समाप्त हो जाता है। इन दोनों के निर्देशों को क्रियान्वित करने के लिए क्रिया-तंत्र सक्रिय होता है। उसके ये तीन सैनिक हैं—मन, वचन और शरीर। ये तीनों काम करते हैं। मन का काम है—स्मृति करना, कल्पना करना और चिन्तन करना। ये तीनों काम एक अच्छा कम्प्यूटर भी कर सकता है। इस स्थिति में मन और कम्प्यूटर में अन्तर ही क्या है? मुझे लगता है, उनमें कोई अन्तर नहीं है।

कुछ लोग यह कहते हैं कि जो काम मन करता है वह काम एक कम्प्यूटर भी कर लेता है, फिर आत्मा का अस्तित्व ही क्या है? उचित प्रश्न है। यदि हम मन को ही वास्तविक मान लें तो फिर आत्मा के अस्तित्व का साधना हमारे लिए सम्भव नहीं होता क्योंकि मन और कम्प्यूटर में कोई विशेष अन्तर दिखाई नहीं देता। इतना-सा अन्तर है कि कम्प्यूटर का निर्माण आदमी के हाथों हुआ है और मन का निर्माण अति सूक्ष्म शरीर ने किया है। वह अति सूक्ष्म शरीर बहुत शक्तिशाली, कुशल कारीगर है कि वह इतने सूक्ष्म पुर्जे बनाने में सक्षम हुआ है। आदमी इतने सूक्ष्म पुर्जे नहीं बना सकता। बस, इतना-सा अन्तर है। कितना उलझन-भरा है हमारा मस्तिष्क, हमारा दिमाग और हमारा मन। आदमी इनका निर्माण करने में सक्षम नहीं है। कई दशकों तक वह इनके निर्माण की कल्पना भी नहीं कर सकता। वह मस्तिष्क जैसे जटिल और सूक्ष्म यंत्र का निर्माण नहीं कर सकता। कम्प्यूटर स्मृति कर लेता है। सारी बातें आपको याद दिला देता है। आप कहीं भूल करते हैं तो आपको सावधान भी कर देता है। गणित के प्रश्न हल कर देता है। कविता भी कर लेता है। बात सोच लेता है और निष्कर्ष भी निकाल लेता है। निष्कर्ष बता देता है और भविष्य की योजना, कल्पना भी समझा देता है। जो तीन क्रियाएं मस्तिष्क करता है, वे तीनों क्रियाएं कम्प्यूटर भी कर लेता है। इस स्थिति में हम मन को बहुत महत्त्व देकर चलते हैं फिर भी मन के आधार पर आत्मा को स्थापित नहीं

कर पाते।

मन क्रिया तंत्र का एक अंग है। यह कर्मचारी है। इसका काम है निर्देशों का पालन करना। यह न अच्छा करता है और न बुरा। अच्छे या बुरे का सारा दायित्व स्वामी का होता है, कर्मचारी का नहीं। मन एक नौकर है। इसका काम है स्वामी की आज्ञा का पालन करना। इसको कहा कि यह ले जाओ और वहां पहुंचा दो। यह ले जाता है, उचित स्थान पर पहुंचा देता है। अच्छे-बुरे का दायित्व इस पर नहीं है। किन्तु सारा दोष मन पर ही मढ़ा जाता है। यही सामने आता है। काम करने वाला ही सीधा सामने आता है। आदेश देने वाला सामने नहीं आता, वह पर्दे के पीछे खड़ा रहता है। व्यवहार में भी देखते हैं कि नौकर किसी का आदेश लेकर आता है और वह आदेश प्रिय नहीं है तो सबसे पहले नौकर ही रोष का भाजन बनता है। सारा रोष उस पर उतर आता है। प्राचीन काल में जब एक दूत अपने राजा का संदेश लेकर दूसरे राजा के पास जाता था, और यदि वह संदेश प्रतिकूल होता तो राजा के मन में आता कि इस दूत को मार डालना चाहिए। किन्तु उस समय राजाओं के बीच ऐसी संधि होती थी कि दूत को नहीं मारा जाता था। मन के साथ भी संधि है। वह बेचारा दूत है। अनुकूल और प्रतिकूल निर्देशों का वह उत्तरदायी नहीं है। वह तो मात्र संदेशवाहक है। यदि मन के साथ कोई संधि नहीं होती तो मन कभी मार डाला जाता। बेचारा निर्दोष है, फिर भी सारा दोष उसी का माना जाता है। अध्यवसाय और चित्त ने उसे जो काम सौंपा, उसका वह निर्वाह करता है।

मूल है द्रव्य आत्मा, मूल है चैतन्य। उस पर पहला वलय है—कषाय-तंत्र का। दूसरा वलय है—योग-तंत्र का। योग का अर्थ है—प्रवृत्ति। मन योग का ही अंग है। मन का काम है प्रवृत्ति करना। इसका स्वाभाव है प्रवृत्ति करना। यह कैसे बदलेगा? मन का काम है प्रवृत्ति करना। वचन का काम है प्रवृत्ति करना और शरीर का काम है प्रवृत्ति करना। मन को यदि आप पैदा करेंगे तो वह प्रवृत्ति करेगा। मन स्थायी तत्त्व नहीं है। जब आप उसको पैदा करते हैं तब वह उत्पन्न

होता है और जब आप उसे पैदा नहीं करते, वह उत्पन्न ही नहीं होता। जब आदमी मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करता है तब मन उत्पन्न हो जाता है। जब आपने मनोवर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करने की भावना नहीं की तो मन नहीं बनेगा। मन को जब चाहें तब पैदा कर सकते हैं और जब चाहें तब पैदा नहीं भी कर सकते। वचन को भी चाहें पैदा कर सकते हैं, नहीं चाहें तो पैदा नहीं कर सकते। शरीर की बात थोड़ी भिन्न पड़ती है, क्योंकि उसके साथ एक बार जब सम्बन्ध जोड़ लिया जाता है तब शरीर की प्रवृत्ति चालू हो जाती है। पर शरीर का प्रयोग हम चाहें तो कर सकते हैं, न चाहें तो नहीं कर सकते। प्रयोग में दोनों-तीनों समान हैं। इसलिए इस बात को बहुत गहरे में जाकर हम समझें कि हमें शरीर के प्रति जागृत होना है, वचन के प्रति जागृत होना है और मन के प्रति जागृत होना है। हमें जागृत इसलिए होना है कि इन तीनों का कोई दोष न आने पाए। बाहरी परिस्थिति का इन पर कोई प्रभाव न हो। यदि ऐसा होगा तो ये अच्छे रह पाएंगे। क्रिया-तंत्र स्वस्थ रहेगा तो वह भीतर से आने वाले प्रवाह की क्रियान्विति करे या न भी करे। यह उसके अधीन की बात होगी। नौकर कभी-कभी काम करने से इनकार भी कर सकता है। काम करवाने के लिए उसे राजी रखना पड़ता है। राजी रखे बिना कर्मचारी पूरा सहयोग नहीं करता। हमारे अध्यवसाय जब क्रियातंत्र को राजी रखते हैं, तो वह उनका पूरा काम करता है, उनका पूरा सहयोग करता है। यदि हम उल्टा चलें—क्रिया तंत्र को हम बाहर से राजी रखना शुरू कर दें और अध्यवसाय तंत्र को असहयोग करना सिखा दें तो हमारी साधना की पहली मंजिल तय हो जाएगी। इसलिए उपशमन की प्रक्रिया में हमें मन पर जागृत होना है, वचन पर जागृत होना है और शरीर पर जागृत होना है।

क्षय की प्रक्रिया इससे भिन्न है। दोषों को क्षीण करने के लिए हमें जहां जागना है, उसकी कोई दूसरी पद्धति है। इस पद्धति पर हम और कभी विचार करेंगे।

हमारे अभ्यास का क्रम है—श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा और लेश्या-ध्यान। यह सारा इसीलिए चल रहा है कि बाहरी रंगों को भी हम अपने भावों

तक ले जाएं, अपनी साधना में ले जाएं। रंगों को मान लें ताकि वे हमारा सहयोग करें। शरीर को भी मना लें, वचन को भी मना लें और मन को भी मना लें। क्योंकि इनकी दोतरफी कठिनाई है। भीतर से जो आदर्श आते हैं, उनकी क्रियान्विति करते-करते उनकी भी एक आदत बन जाती है और व्यक्ति की भी आदत बन जाती है। एक व्यक्ति को क्रोध आता है तो भृकुटी तन जाती है, आंखें लाल हो जाती हैं, होठ फड़कने लगते हैं, शरीर कांपने लगता है। क्रोध आता है तब ऐसा होता है। कुछ भाइयों की आदत पड़ जाती है कि क्रोध न आने पर भी वे भृकुटी तान लेते हैं, आंखें लाल कर लेते हैं, शरीर को प्रकंपित करते हैं और क्रोध उतर आता है।

नाटक हो रहा था। अनेक दृश्य सामने आ रहे थे। एक अभिनेता आया और उसने इतनी कुशलता से अभिनय किया, ऐसा दृश्य बना कि जार्ज बर्नार्ड शा दर्शकों में से उठकर आए और अभिनेता को एक चांटा जड़ दिया। उसने कहा—'यह क्या किया आपने?' दूसरे ही क्षण जार्ज बर्नार्ड शा संभले। उन्होंने कहा—'भूल हो गई? मुझे भान ही नहीं रहा कि तुम नाटक कर रहे हो। मैंने तो तुमको असली ही समझ लिया था। मैंने सोचा, तुम बुरा काम कर रहे हो, इसलिए मैंने चांटा लगा दिया।'

हमारे शरीर और स्नायुओं को भी एक ऐसी आदत बन जाती है कि जब क्रोध आता है तब शरीर की वह स्थिति बन जाती है या शरीर की वह स्थिति बनने पर क्रोध उतर आता है। क्रोध भी कहेगा कि मुझे क्या पता कि तुम शरीर की ऐसी स्थिति का निर्माण कर लेते हो। मैंने तो देखा कि तुम ऐसा करते हो तो मुझे आना ही चाहिए, तुममें उतरना ही चाहिए।

पहले हम इस बात से निपटें कि स्नायुओं की जो आदत बन गई है, मन और वाणी की जो आदत बन गई है, जो वे बाहरी प्रभावों से तत्काल प्रभावित हो जाते हैं, उनको उपशमन की प्रक्रिया के द्वारा उन प्रभावों से बचाएं और जो आदतें बनी हैं, उन आदतों से बचाएं। यह काम पहला है। दूसरा काम होगा कि भीतर से निर्देश इन तक

न पहुंचे, उनको समाप्त कर दें; क्षीण कर दें।

उपशमन और क्षय की प्रक्रिया जब हमारी साधना के साथ जुड़ती है तो साधना में विकास होता है और हम जिस पवित्र लक्ष्य को लेकर चलते हैं, उस लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने में अवश्य ही सफल हो जाते हैं।

३. अच्छे-बुरे का नियंत्रण-कक्ष

१. • हम क्रिया को देखते हैं—क्रोध के लक्षण को देखते हैं।
• भाव को नहीं देखते—क्रोध को नहीं देखते।
• लेश्या तक पहुंच, भाव को देखते हैं, तरंगों को नहीं देखते।
• अध्यवसाय तक पहुंच, तरंगों को देखते हैं, जल को नहीं देखते।
• अतिसूक्ष्म शरीर तक पहुंच, जल को भी देख लेते हैं।
• जल में तरंग : तरंग का सघनरूप भाव और भाव का सघनरूप क्रिया।

२. • कषाय मंद कैसे हो? बाह्यसंग मुक्ति से।

३. • शरीर की व्यवस्था को मित्र बना लेना—
* अच्छे आचरण की आदत बनाएं, हानिकारक को देखें।
* नई आदत जड़ न पकड़े, तब तक अपवाद न करें।
* आदत को बल देने वाले मनोयोगों से लाभ उठाएं।
* अभ्यास द्वारा चेष्टा को जीवित रखा जाए।

४. • निश्चय की अपेक्षा आदत का महत्त्व अधिक।

५. • अच्छे जीवन की पहली शर्त आत्म-नियन्त्रण।
आत्म-नियन्त्रण की पहली शर्त उपवास।

६. • मौलिक इच्छाएं इन्हीं पर फलती हैं।
जटिल इच्छाएं इन्हीं पर फलती हैं।

हमारा शरीर एक दर्पण है। इस दर्पण में मन के भाव प्रतिबिंबित होते रहते हैं। हम भावों को देखकर अदृश्य को भी देख लेते हैं। जो दूर हैं उसे भी पहचान लेते हैं। जहां तक हमारी पहुंच नहीं होती, वहां

तक पहुंच जाते हैं इस दर्पण के प्रतिबिम्बों के द्वारा। जब देखते हैं आंखों में एक घृणा का भाव तैर रहा है, आंख को देखते हैं और भाव तक पहुंच जाते हैं। जब देखते हैं कि आंख में से कुछ टपक रही है। हम प्रियता के भाव तक पहुंच जाते हैं। आंखों में देखते हैं, आकृति में देखते हैं। यह समूची आकृति कितना स्वच्छ दर्पण है कि उसमें भीतर का सब कुछ प्रतिबिम्बित हो जाता है। यदि यह आकृति नहीं होती तो शायद भावों को जानने का हमारे पास कोई माध्यम नहीं होता। आकृति को देखकर जान जाते हैं कि आदमी क्रुद्ध है। आकृति को देखकर जान जाते हैं कि आदमी क्षमारत है, सहिष्णु है। क्रोध और क्षमा—दोनों हमारे सामने प्रकट नहीं होते। क्योंकि सहिष्णुता और क्रोध—दोनों इस शरीर के धर्म नहीं हैं। वे जहां जन्म लेते हैं और प्रकट होते हैं, उनका स्थान कोई दूसरा है। हमारे सारे भाव सूक्ष्म जगत् में जन्म लेते हैं और इस स्थूल शरीर में प्रतिबिम्बित होते हैं। एक है हमारा प्रतिबिम्ब का जगत् या प्रतिबिम्बों को पकड़ने का जगत् और दूसरा है हमारे भावों को जन्म लेने का जगत्। हमारी यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है। स्थूल को छोड़ते हैं तब सूक्ष्म की ओर यात्रा शुरू करते हैं। हम स्थूल शरीर को छोड़कर भाव-शरीर तक पहुंच जाते हैं। लेश्या तक पहुंच जाते हैं। लेश्या से भी आगे यात्रा शुरू करते हैं तो अध्यवसाय तक पहुंच जाते हैं। अध्यवसाय से आगे यात्रा शुरू करते हैं तो कषाय तक पहुंच जाते हैं। कषाय से आगे यात्रा शुरू करते हैं तो परमतत्त्व—आत्मा तक पहुंच जाते हैं।

कषाय या अतिसूक्ष्म शरीर में केवल स्पंदन है, कोरी तरंगें। वहां भाव नहीं हैं, कोरी तरंगें हैं। वहां चेतना के स्पंदन भी हैं और कषाय के स्पंदन भी हैं। दोनों स्पंदन हैं। दोनों महासागर हैं। एक है चैतन्य का महासागर और एक है कषाय का महासागर। दोनों में स्पंदन ही स्पंदन हैं, तरंगें ही तरंगें हैं। वे तरंगें बाहर आती हैं। वे अध्यवसाय तक पहुंचती हैं, तब भी तरंगें, केवल स्पंदन। अध्यवसाय का मतलब ही है कि सूक्ष्म चैतन्य का स्पंदन। सूक्ष्म इसलिए कि उसका कोई केन्द्र-विशेष नहीं है। शरीर में उसका कोई विशेष केन्द्र नहीं है। वे अपने

सूक्ष्म रूप में स्पंदन ही स्पंदन हैं। अध्यवसाय में हम देखेंगे तो क्रोध की तरंग होगी, क्रोध का भाव नहीं होगा। परम शरीर में, सूक्ष्म शरीर में क्रोध क़ी तरंगें होंगी, क्रोध का भाव नहीं होगा। वहां तक कोरी तरंगें होती हैं। वे तरंगें जब सघन होकर भाव का रूप लेती हैं, वे लेश्या बन जाती हैं। लेश्या में पहुंचकर भाव बनता है और तरंगें ठोस रूप ले लेती हैं। शक्ति, ऊर्जा पदार्थ में बदल जाती है। तरंग का सघन रूप भाव और भाव का सघन रूप क्रिया। जब भाव सघन बनता है तो वह क्रिया बन जाती है और हमारे स्थूल शरीर में प्रकट होती है और हमें दिखने लग जाती है। हम क्रिया को देखते हैं। क्रोध की क्रिया को देखते हैं, क्रोध के लक्षणों को देखते हैं, क्रोध के चिह्नों को देखते हैं, क्षमा के चिह्नों को देखते हैं, क्षमा के लक्षणों को देखते हैं। उन चिह्नों के सहारे आगे यात्रा शुरू करते हैं। स्थूल से सूक्ष्म की ओर, तब पहले भाव-तंत्र तक पहुंचते हैं, लेश्या-तंत्र तक पहुंचते हैं और फिर तरंगों के जगत् में जाते हैं तो अध्यवसाय आता है और फिर कषाय-तंत्र आता है और फिर उस चैतन्य के स्पंदन तक भी पहुंच जाते हैं, जहां से चैतन्य के स्पंदन उद्‌भूत होते हैं। बहुत बड़ा प्रश्न है। एक चैतन्य का महासागर है। उससे बाहर आते हैं तो कषाय का महासागर मिलता है, जहां से सारी मलिनता बाहर आ रही है। किन्तु चैतन्य तो मलिन नहीं है, वह तो शुद्ध है, फिर यह अशुद्धता क्यों? कारण स्पष्ट है। उस चैतन्य महासागर के चारों ओर एक वलय है—कषाय के महासागर का। एक प्रश्न और होता है कि कषाय का महासागर जब चैतन्य के महासागर को घेरे हुए है तो फिर शुद्ध का प्रश्न ही कहां उठता है। जो कुछ बाहर आएगा वह सारा अशुद्ध ही होगा। शुद्ध-लेश्या कैसे होगी? शुद्ध-भाव कैसे होगा? शुद्ध-अध्यवसाय कैसे होगा? कषाय से छनकर और कषाय के रस के साथ मिलकर जो कुछ भी बाहर आएगा, वह मलिन, अपवित्र और अशुद्ध ही आएगा। शुद्ध कैसे होगा? लेश्या की शुद्धि अध्यवसाय से होती है और अध्यवसाय की शुद्धि एक कषाय से होती है। लेश्या हमारा भाव है। यदि अध्यवसाय शुद्ध न हो तो वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता। अध्यवसाय कभी शुद्ध नहीं होता, यदि कषाय के महासागर का वलय

चैतन्य के स्पंदनों को जाने के लिए रास्ता न छोड़ दे। कषाय मंद होता है, इसका अर्थ होता है कि कषाय-महासागर चैतन्य की रश्मियों को बाहर जाने का रास्ता करता है। चैतन्य की रश्मियां उसी रास्ते से बाहर जाती हैं, जहां कषाय के तीव्र अनुभवों का स्पर्श नहीं होता। उस रास्ते से वे चैतन्य की शुद्ध रश्मियां बाहर आ जाती हैं और ये शुद्ध धाराएं शुद्ध अध्यवसाय का निर्माण करती हैं। शुद्ध अध्यवसाय शुद्ध-भावों का निर्माण करते हैं और शुद्ध-भाव विचारों को शुद्ध बनाते हैं—मन, वचन और काया को शुद्ध बनाते हैं।

शुद्ध और अशुद्ध के दो कारण बन गए। शुद्ध होने का कारण है कषाय की मंदता और अशुद्ध होने का कारण है कषाय की तीव्रता।

प्रश्न होता है कि कषाय की मन्दता कैसे हो? इसका एकमात्र उपाय है—साधना। जो व्यक्ति साधना करता है वह व्यक्ति कषाय को मन्द करने का उपक्रम करता है। साधना ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है, कषाय का मजबूत मोर्चा शिथिल होने लगता है, निष्क्रिय होने लगता है। साधना का मूल प्रयोजन है—कषाय को मंद करना, कषाय की शक्ति को क्षीण करना, चैतन्य की पवित्र धारा में मिल जाने वाले कषाय के अपवित्र जल को निकाल देना, जिससे कि वह शुद्ध बन जाए, पवित्र बन जाए। पवित्र शब्द भी समाप्त हो जाए और अपवित्र शब्द भी समाप्त हो जाए, चैतन्य वैसा का वैसा ही रह जाए। क्योंकि जब अपवित्र होता है तब पवित्र करने की बात प्राप्त होती है। वास्तव में चैतन्य न अपवित्र है और न पवित्र। वह तो एक प्रकाश है, आलोक है, ज्योति है। वह जैसी है वैसी है। उसके लिए पवित्र या अपवित्र विशेषण लगाने की जरूरत नहीं है। विशेषण को इसलिए लगाना पड़ता है कि कषाय के द्वारा जब चैतन्य की धारा अपवित्र हो जाती है, मलिन हो जाती है तो उसकी सापेक्षता में चैतन्य को पवित्र कहना पड़ता है। किन्तु हम साधना के द्वारा उस स्थिति का निर्माण करना चाहते हैं कि चैतन्य कोरा चैतन्य ही रहे। यह पवित्र और अपवित्र विशेषण उससे कट जाए।

वह साधना क्या है जिसके द्वारा कषाय को मंद किया जा सकता है? यह एक प्रश्न है। इस पर हम सोचेंगे तो यह स्पष्ट प्रतिभासित

होगा कि अध्यात्म का समूचा तंत्र, अध्यात्म का समूचा उपदेश और धर्म की सारी गाथाएं कषाय को मंद करने के लिए कही गयी हैं। उनका एकमात्र प्रयोजन भी यही है। अपरिग्रह, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा, संतोष, दान, शील—इन सबका उपदेश इसीलिए है कि कषाय मंद हो, उपदेश और उपदेश का अगला चरण है—अभ्यास। यह सबने जान लिया कि कषाय को मन्द करने के लिए आत्म-नियंत्रण जरूरी है, अभ्यास जरूरी है, फिर प्रश्न होता है कि अभ्यास कहां से प्रारंभ करें? सबसे पहले क्या करें? इस प्रश्न पर धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में चर्चाएं हुई हैं तो मनोविज्ञान ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। दोनों विचारधाराओं की चर्चा कुछ मिलती-जुलती-सी है। अनेक दार्शनिकों ने इस प्रश्न पर चिन्तन किया है। मैं वर्तमान के चिन्तन को पहले प्रस्तुत कर, बाद में अतीत के चिंतन को प्रस्तुत करना चाहूंगा।

टालस्टाय ने इस प्रश्न का सुन्दर समाधान दिया। उन्होंने कहा—'अच्छे जीवन की पहली शर्त है—आत्म-नियंत्रण और आत्म-नियंत्रण की पहली शर्त है—उपवास। हमें आत्म-नियंत्रण का अभ्यास उपवास से शुरू करना चाहिए।' यह है एक महर्षि का चिंतन, जो वर्तमान युग का साधक, साधु या महर्षि कहलाता था।

अब हम प्राचीन चिंतन को लें। भगवान महावीर ने तपस्या के बारह प्रकार बतलाए। उन्होंने कहा—'आत्म-नियंत्रण का प्रारंभ तपस्या से करो, अनशन से शुरू करो।' प्राचीन चिंतन और वर्तमान चिंतन—दोनों एक बिन्दु पर मिल गए। दोनों के कथन में पूर्ण साम्य है। यह यथार्थ है। जो भी आत्मा का अनुभव करने वाले साधक हैं, वे दो मार्ग या दो लक्ष्य पर नहीं पहुंचते। सम्प्रदायों के विचार दो दिशाओं में पहुंच सकते हैं, दो दिशागामी हो सकते हैं, किन्तु अध्यात्म के विचार दो दिशागामी नहीं हो सकते। अध्यात्म को बांटा नहीं जा सकता। अध्यात्म के मार्ग से जो पहुंचेगा वह एक ही बिन्दु पर पहुंचेगा।

भगवान महावीर ने कहा—'अनशन से आत्म-नियंत्रण शुरू करो। आत्मा के नियंत्रण में सबसे बड़ी बाधा है भोजन। भोजन सुस्ती लाता है।' टालस्टाय ने कहा—'जो भोजन का संयम नहीं करता वह सुस्ती

को कैसे मिटा सकेगा? जो आलस्य, सुस्ती और प्रमाद को नहीं मिटा पाता, वह आत्म-नियंत्रण कैसे कर पाएगा।' उन्होंने कहा—'हमारी कुछ मौलिक इच्छाएं होती हैं। यदि हम उन इच्छाओं को समाप्त नहीं कर सकते तो उन इच्छाओं के आधार पर पलने वाली दूसरी जटिल इच्छाओं को कभी समाप्त नहीं कर सकते। जीने की कामना, भोजन की कामना, काम की कामना और लड़ने की कामना—ये मौलिक इच्छाएं हैं। सभी प्राणियों में ये बनी रहती हैं। यदि इन पर नियंत्रण नहीं पाया गया तो इनके आधार पर पलने वाली अन्य जटिल इच्छाओं पर कभी नियंत्रण नहीं पाया जा सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि साधक सबसे पहले मौलिक इच्छाओं पर विजय प्राप्त करे, उन पर नियंत्रण करे।

मौलिक इच्छाओं में पहली है भोजन की इच्छा। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण इच्छा है, क्योंकि हमारे सारे शरीर की क्रियाएं भोजन के द्वारा संचालित होती हैं। हमारी प्राण-ऊर्जा भोजन से बनती है। हम जो खाते हैं, उसका एक रसायन बनता है और वह रसायन हमारे जीवन की प्राण-उर्जा बनकर शरीर-तंत्र का संचालन करता है। हमारे शरीर में दो महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं—तैजस् केन्द्र और शक्ति-केन्द्र। तैजस्-केन्द्र वह है जो खाए हुए भोजन को प्राण की ऊर्जा में बदल देता है। शक्ति-केन्द्र वह है जो प्राण की ऊर्जा का स्रोत है, संग्रह-स्थान है। एक ऊर्जा को पैदा करने का स्थान है और एक ऊर्जा का संग्रह-स्थान है। हम जो कुछ भोजन करते हैं, उसका रसायन बनता है और वह प्राणशक्ति के रूप में बदलता है और उसका सहयोग करता है। जैसा खाते हैं वैसा रसायन बनता है। अब प्रश्न होता है कि कैसा खाएं? क्या खाएं? कितना खाएं? इन प्रश्नों की चर्चा मैं प्रस्तुत प्रसंग में नहीं करूंगा।

इस सारे चिन्तन से एक महत्त्व का सूत्र उपलब्ध हुआ कि हम आत्म-नियंत्रण का अभ्यास उपवास से शुरू करें, अनशन से शुरू करें, कम खाने से करें और खाने की वृत्तियों का संक्षेप करके करें और हमारी वृत्तियों को उभारने वाले रसों के संयम के द्वारा करें—उपवास द्वारा करें। यह आत्म-नियंत्रण का पहला सूत्र है।

आत्म-नियंत्रण का दूसरा सूत्र है—शरीर। हम शरीर को साधें, यह

बहुत आवश्यक है। जब तक स्नायुओं को नया अभ्यास नहीं दिया जाता, स्नायुओं को नई आदत के निर्माण का अभ्यास नहीं दिया जाता, तब तक व्यक्तित्व का निर्माण नहीं किया जा सकता। विलियम जेम्स ने अपनी पुस्तक 'दि प्रिन्सिपल ऑफ साइकोलॉजी' में मनोवैज्ञानिक ढंग से चर्चा करते हुए लिखा है—'अच्छा जीवन जीने के लिए अच्छी आदतों का बनाना जरूरी है। और अच्छी आदतों के निर्माण के लिए अभ्यास जरूरी है। यदि हम अभ्यास किए बिना ही यह चाहें कि हमारी आदतें बदल जायें तो ऐसा कभी नहीं होगा। असफलता ही हाथ लगेगी।' उन्होंने अच्छी आदतों के निर्माण के लिए कुछ सूत्र प्रस्तुत किए हैं—

१. अच्छी आदतें डालनी हों तो सबसे पहले अच्छी आदतों का चिन्तन करो, अभ्यास करो और बुरी आदतों को रोको।
२. अच्छी आदतें डालने के लिए शरीर को एक विशेष प्रकार का अभ्यास दो, क्योंकि शरीर की विशेष स्थिति का निर्माण किए बिना हमारी आदतें अच्छी नहीं हो सकतीं। स्नायुओं को हमने जो पहले से आदतें दे रखी हैं, उनको यदि हम नहीं बदलते तो वे एक चक्र की भांति चलती रहती हैं। ठीक समय आता है और मिठाई खाने की बात याद आ जाती है, क्योंकि हमने जीभ को एक आदत दे रखी है। ठीक समय आता है और स्नायु उस वस्तु की मांग कर लेते हैं। खाने की, सोचने की, विचार करने की, कार्य करने की जैसी आदत हम स्नायुओं में डाल देते हैं, वैसी आदत हो जाती है। जो लोग बहुत ऊंचे मकानों में रहते हैं, वे पहली बार जब सीढ़ियों से उतरते हैं तब बहुत सावधानी से उतरते हैं। दूसरी-तीसरी बार उतरते हैं तो सावधानी कम हो जाती है और जब सौवीं बार उतरते हैं तो कोई सावधानी की जरूरत नहीं होती। पैर अपने आप एक-एक सीढ़ी उतरते हुए नीचे आ जाते हैं। चलने के साथ मन को जोड़ने की वहां आवश्यकता नहीं होती। टाइप करने वाले प्रारंभ में अक्षरों को देख-देखकर टाइप करना सीखते हैं। जब वे अभ्यस्त हो जाते हैं, तब उनकी अंगुलियां

अभीष्ट अक्षरों पर पड़ती हैं और जैसा चाहा वैसा टाइप हो जाता है। फिर 'की बोर्ड' को देखने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि अंगुलियां अभ्यस्त हो चुकी हैं। हम स्नायुओं को जैसी आदत देते हैं, वे अपने आप काम करने लग जाते हैं। उस काम की संपूर्ति में मन की संपृक्ति आवश्यक नहीं होती।

इसी प्रसंग में उन्होंने यह भी कहा—जब आदत डालो तो कोई अपवाद मत रखो, छूट मत रखो। पूरी आदत बना दो। आज ध्यान किया। स्नायुओं को ध्यान की आदत दी। कल छोड़ दिया। परसों छोड़ दिया। चौथे दिन फिर ध्यान में बैठे। इस प्रकार छूट देने से वह आदत नहीं बनती। छूट मत दो। प्रतिदिन वह कार्य करते रहो। भगवान महावीर ने कहा—प्रतिक्रमण करना है तो वह यथासमय करना ही है। ऐसा नहीं कि आज किया, कल छोड़ा, परसों छोड़ा और फिर चौथे दिन किया। ऐसा करने पर प्रतिक्रमण की आदत कभी नहीं बनेगी। आज क्षमा करें, सहिष्णुता का भाव दिखाएं और कल फिर लड़ाई करें, फिर क्षमा करें तो क्षमा की आदत नहीं बनेगी। आदत डालनी है तो कोई अपवाद मत रखो जब तक कि वह आदत न बन जाए। वह स्वभाव न बन जाए तब तक कोई अपवाद मत रखो। यह है हमारा कायक्लेश का सूत्र। कायक्लेश का सूत्र है कि आसन, प्राणायाम, कायोत्सर्ग आदि क्रियाओं द्वारा शरीर को इतना साध लो, जिससे कि वह वही कार्य करे जिसका तुम उसे निर्देश दो। यह है आत्म-नियंत्रण का दूसरा सूत्र—शरीर को साधना।

३. आत्म-नियंत्रण का तीसरा सूत्र है—प्रतिसंलीनता। इसका अर्थ है—जो कुछ हो रहा है वह न होने दें, किन्तु उसे उलट दें। दो क्रम चलते हैं। एक है प्राकृतिक क्रम और एक है साधना का क्रम। एक प्राकृतिक क्रम है। हमें कुछ विशेष अवयव उपलब्ध हैं। एक है शक्ति-केन्द्र। सारी काम की चेष्टाएं इस

केन्द्र से संचालित होती हैं। सारी काम की वृत्तियां यहां उभरती हैं और मनुष्य इसके सहारे अपनी काम-वासना पूरी करता है। यह प्रकृति द्वारा प्रदत्त संस्थान है काम-वासना की पूर्ति के लिए। प्रतिसंलीनता के द्वारा हम इसे बदल सकते हैं।

आचारांग में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रतिपादित है कि जो आस्रव हैं वे ही परिस्रव हैं और जो परिस्रव हैं वे ही आस्रव हैं। जो कर्मबंध के कारण हैं, वे ही कर्ममुक्ति के कारण हैं और जो कर्ममुक्ति के कारण हैं, वे ही कर्मबंध के कारण हैं। जो काम-वासना का संस्थान है, वही ब्रह्मचर्य का संस्थान है। कोई अलग से संस्थान नहीं है। हम अपनी साधना के द्वारा, ऐसे प्रयोगों के द्वारा इस काम-वासना के संस्थान को ब्रह्मचर्य की शक्ति के संस्थान के रूप में बदल सकते हैं। यह इन्द्रिय प्रतिसंलीनता है। जो इन्द्रियां जिस काम के लिए शरीर-रचना में प्राप्त हैं, साधना के द्वारा उनकी आदतों को बदल दें। यह प्रतिसंलीनता का अभ्यास है।

आंख का काम है—रूप को देखना। उसके साथ जुड़ा हुआ है प्रियता और अप्रियता का भाव। सहज जुड़ा हुआ है। आदमी आंख के द्वारा दो ही दृष्टियों से देखना जानता है। या तो वह प्रियता को देखेगा या अप्रियता से देखेगा। यदि हम इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता का अभ्यास करते हैं तो साधना के द्वारा इन इन्द्रियों के स्रोत को बदल देते हैं। फिर आंख से देखेंगे, पर उसके साथ न प्रियता होगी और न अप्रियता होगी। मध्यस्थ भाव, समता भाव रहेगा।

कषायों की प्रतिसंलीनता भी होती है। कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ये चारों हमारे मस्तिष्क के विशेष केन्द्रों द्वारा बाहर आते हैं, प्रकट होते हैं। यह प्रकृति है, स्वभाव है।

एक छोटा बच्चा अपने पिता के साथ दर्शन करने आया। उसने अपने पिता से कहा—'जो पुस्तक और कॉपी खरीद कर लाए हैं, उस पर मेरा नाम लिख दें।' पिता ने कहा—'नाम लिखने की क्या जरूरत है? ऐसे ही इनका उपयोग करो।' बच्चे ने आग्रह किया, पर पिता ने नाम नहीं लिखा। बच्चा गुस्से में आ गया। वह हाथ-पैर पटकने लगा।

पिता को एड़ियों से मारने लगा। यह देखकर मैं हैरान रह गया। इतना छोटा बच्चा और इतना तेज गुस्सा! यह प्रकृति का अनुदान है। यह हमारे जन्म के साथ भीतर से आने वाला अनुदान है। इसके लिए साधना करने की जरूरत नहीं, यह स्वयं प्राप्त होता है। क्रोध आना स्वाभाविक है। यह प्रकृति का अनुदान है। इसमें आश्चर्य नहीं होता।

साधना के द्वारा जब हम प्रतिसंलीनता करते हैं तब उन संस्थानों को बदल डालते हैं, प्रतिसंलीन कर डालते हैं। यह हमारी साधना की उपलब्धि है। यह तब हो सकती है जब क्रोध आदि को उभारने वाले निमित्तों से बचा जाए। कुछ लोग कहते हैं—'निमित्तों से बचने की क्या जरूरत है? कोई जरूरत नहीं है। अपने अन्तर् में वैराग्य होना चाहिए। व्यवहार की भूमिका की हमें जरूरत क्या है? हमें तो निश्चय की भूमिका पर चलना चाहिए।' मैं मानता हूं कि ऐसा करने वाले सामान्य जनता के साथ अन्याय करते हैं और उन्हें गलत रास्ते पर ले जाते हैं। जब निमित्तों के प्रति हम जागरूक नहीं होंगे और निमित्तों से नहीं बचेंगे तो कषाय को कभी नहीं छोड़ा जा सकेगा। कषाय के रास्ते को नहीं बदला जा सकता। कषाय मंद तभी हो सकते हैं जबकि हम कषाय को उत्तेजित करने वाले पदार्थों से भी बचें।

पास में कोई व्यक्ति एक करोड़ रुपया रखकर कहे कि मुझे संतोष है। कोई लोभ नहीं है, ममत्व नहीं है। पड़ा है मेरा क्या लिया। मैं समझता हूं, इसके पीछे शत-प्रतिशत वंचना है। एकाध व्यक्ति लाखों में कोई अपवादस्वरूप निकल सकता है। अन्यथा धोखा ही धोखा है। बाह्य संबंधों से हम मुक्त नहीं हो सकते और कषाय को मंद करने की बात सोचते हैं तो बड़ा धोखा होता है। जो व्यक्ति कषाय को मंद करना चाहता है, उसे कषाय की प्रतिसंलीनता करनी ही होगी।

मन, वचन और काया—ये तीनों योग हैं। तीनों क्रिया-तंत्र के अंग हैं। इनका काम है—कार्य करना। जो काम करेगा वह चंचल होगा। वह कभी स्थिर नहीं होगा। आपको कपड़े धोने हैं और आप चाहें कि हाथ स्थिर रहें, हिलें ही नहीं, यह नहीं हो सकता। कपड़े कभी नहीं धुलेंगे। रसोई पकानी है और आप कायोत्सर्ग कर बैठ जाएं, स्थिर हो जाएं तो

रसोई कभी नहीं बनेगी। काम करना है तो चंचलता करनी होगी। मन का काम चंचलता पैदा करना है। वचन और काया का काम भी चंचलता पैदा करना है। चंचलता इसका स्वभाव है, प्रकृति है। प्रतिसंलीनता करनी है तो इनकी दिशा बदलनी होगी। साधना के द्वारा प्रतिसंलीनता कर मन को स्थिर किया जा सकता है, वाणी को स्थिर किया जा सकता है, काया को स्थिर किया जा सकता है। एक ओर है प्रकृति का अनुदान और दूसरी ओर है साधना का प्रयत्न। साधना के प्रयत्न के द्वारा हम प्राकृतिक अनुदानों को बदल सकते हैं। इन प्राकृतिक अनुदानों को बदलने का नाम ही है साधना और यही है कषाय को मन्द करने की प्रक्रिया।

भगवान महावीर ने आत्म-नियंत्रण के, लेश्या-शुद्धि के, अध्यवसाय-शुद्धि के तीन बाहरी सूत्र बतलाए, जो बाहर से हमें प्रभावित करते हैं। वे तीन सूत्र हैं—उपवास, कायोत्सर्ग और प्रतिसंलीनता। ये तीन बाहरी सूत्र हैं जो हमारे कषाय को मंद करते हैं, लेश्या को शुद्ध करते हैं, अध्यवसाय को पवित्र बनाते हैं। जब ऐसा होता है तब कषाय अपने-आप मंद हो जाता है। कषाय को मंद करने के लिए भी हमें एक क्रम से चलना होगा। यदि सीधे ही हम कषाय को मंद करने चलेंगे तो विफल हो जाएंगे। क्योंकि कषायों का इतना तेज आक्रमण है कि हम उसे सहन नहीं कर पाएंगे। इसलिए हमें सबसे पहले यह सोचना होगा कि कषायों को पोषण कहां से मिलता है? जिस मार्ग से उन्हें पोषण मिलता है, हम उस मार्ग को नष्ट ही कर डालें। जब पोषण बन्द हो जाता है, तब कषाय मंद हो जाता है। मन, वचन और काया—ये तीन माध्यम हैं। इन तीनों के द्वारा मैल जब अन्दर पहुंचता है, तब इन तीनों के द्वारा कषाय पुष्ट होते हैं। जब हम मन, वचन और काया के प्रति जागरूक होते हैं, अनशन शुरू कर देते हैं, काय-क्लेश और प्रतिसंलीनता शुरू कर देते हैं तो कषाय को मिलने वाला पोषण बन्द हो जाता है। जब पोषण नहीं मिलता, बाहर की रसद प्राप्त नहीं होती, तब धीरे-धीरे मूल नष्ट हो जाता है। उसका बल क्षीण हो जाता है। जब हमारा कषाय मंद होता चला जाएगा, तब चैतन्य की रश्मियां अपने-आप बाहर फूटेंगी।

दोनों स्थितियां हमारे सामने हैं। एक स्थिति है—विशुद्ध अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्या की। दूसरी स्थिति है—अशुद्ध अध्यवसाय और अशुद्ध लेश्या की। जैसे-जैसे साधना का बल बढ़ेगा, वैसे-वैसे कषाय मंद होगा। जैसे-जैसे कषाय मंद होगा, वैसे-वैसे अध्यवसाय, लेश्या, भाव, कर्म और विचार अपने-आप शुरू होते चले जाएंगे।

४. स्थूल और सूक्ष्म जगत् का सम्पर्क-सूत्र

१. • व्यक्तित्व के दो खंड—
   * स्थूल व्यक्तित्व का नियन्त्रण।
   * सूक्ष्म व्यक्तित्व का शोधन।
   * केवल दमन या नियन्त्रण नहीं, शोधन।
२. • निषेध से बुरे रंगों के परमाणु भीतर नहीं जाते, फलतः लेश्या शुद्ध।
३. • स्थूल और सूक्ष्म के मध्य दस संस्थान।
४. • सम्पर्क सूत्र लेश्या—
   * यह स्थूल जगत् के कच्चे माल को भीतर पहुंचाता है और सूक्ष्म जगत् के पक्के माल को बाहर पहुंचाता है।

अच्छे जीवन के लिए आत्म-नियंत्रण आवश्यक है। किन्तु वर्तमान का मनोविज्ञान इस भाषा को कम पसंद करता है। आत्म-नियंत्रण और आत्मदमन की भाषा को पुरानी भाषा माना जाता है। वर्तमान का विचार है कि मनोभावों का दमन नहीं होना चाहिए, नियंत्रण नहीं होना चाहिए। मनोभावों का नियंत्रण करने से अनेक विकृतियां पैदा होती हैं। यदि स्वाभाविक मनोभावों को दबाया जाता है, रोका जाता है तो वे दमित वासनाएं व्यक्ति को विकृत बनाती हैं और मस्तिष्क में एक प्रकार का पागलपन भर देती हैं। इसलिए उनका दमन नहीं होना चाहिए। इस बात में कुछ सचाई है, किन्तु किसी भी बात को हम पूरे सत्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं तो स्वयं सत्य का अपलाप हो जाता है। प्रत्येक विचार सापेक्ष होता है। उस सापेक्षता को समझे बिना, उसे सर्वांगीण

या सार्वभौम विचार मानकर जैसा होता है वैसा का वैसा स्वीकार कर लिया जाता है तो सत्य की दिशा उलट जाती है और हम स्वयं असत्य की ओर प्रस्थान कर देते हैं।

यदि केवल दमन ही होता तो बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं होती। किन्तु अध्यात्म की साधना में दमन के साथ-साथ शोधन की क्रिया भी प्रस्तुत है। कोरा दमन नहीं, कोरा नियंत्रण नहीं। आत्म-नियंत्रण, आत्म-शोधन—दोनों साथ-साथ चलते हैं। आत्म-नियंत्रण आत्म-शोधन के लिए है। आत्म-शोधन उद्देश्य है तो आत्म-नियंत्रण उसका साधन है। आत्म-शोधन साध्य है तो आत्म-नियंत्रण उसका साधन है। किन्तु साधन का उपयोग न किया जाए, यह बात समझ में नहीं आती। साधन का उपयोग बहुत ही आवश्यक है, किन्तु इस बात को भी विस्मृत नहीं कर देना चाहिए कि आत्म-शोधन परम आवश्यक है। शोधन की प्रक्रिया निरंतर होनी चाहिए। यह निरंतर चालू रहनी चाहिए। आत्म-शोधन या अन्तर्-शोधन की सबसे बड़ी बाधा है—अहं। यह बहुत बड़ी समस्या है। व्यक्ति कुछ अर्जित किए हुए होता है। न जाने उसने कितनी गलत आदतें, गलत संस्कार अर्जित किए हुए है। किन्तु आदमी उनका प्रायश्चित्त करना नहीं चाहता, उनका शोधन, परिमार्जन और परिष्कार करना नहीं चाहता और इसलिए नहीं चाहता कि अहं उसमें बाधक बन बैठा है। 'मैंने यह किया और मैं यह स्वीकार करूं कि यह अच्छा नहीं हुआ, ऐसा कभी नहीं हो सकता।' अहं की एक ग्रन्थि मन में निर्मित हो जाती है। उसका शोधन नहीं होता, प्रायश्चित्त नहीं होता। वह आदमी दुष्कृत की गर्हा नहीं कर सकता, सुकृत की अनुमोदना नहीं कर सकता और अध्यात्म की शरण में नहीं जा सकता। जो व्यक्ति दुष्कृत की गर्हा नहीं कर सकता, सुकृत की अनुमोदना नहीं कर सकता और अध्यात्म की शरण में—आत्मा की शरण में नहीं जा सकता, वह प्रायश्चित्त नहीं कर सकता। अहं की सबसे बड़ी बाधा है इसमें। जो अहं भाव से पीड़ित है वह विनम्र नहीं हो सकता। वह दूसरों को सहयोग नहीं दे सकता, संयम का भी योग नहीं दे सकता। उसे पग-पग पर अहं सताने लग जाता है। अहं जब विस्मृत होता है तब ममकार बन जाता है। ममकार

कोई अलग नहीं है। अहं का ही एक रूप है—ममकार। जब अहंकार किसी के साथ घनिष्ठ संबंध जोड़ लेता है, किसी को घनिष्ठ मान लेता है तो वह अहंकार ममकार के रूप में बदल जाता है। मेरा शरीर, मेरा धन, मेरा परिवार, मेरा घर—यह जो मेरापन है वह सारा ममकार है। यह अहं का ही विस्तार है। अहंकार ने शरीर, धन आदि के साथ घनिष्ठता स्थापित कर ली, और वह ममकार के रूप में बदल गया। इस अहं का विसर्जन कठिन होता है। आत्म-शोधन में यह बहुत बड़ी बाधा है। जो व्यक्ति आत्म-नियंत्रण करता है, उसके लिए यह सुविधा हो जाती है कि जब तक आत्म-नियंत्रण करता है, बाहरी आवेगों और बाहरी निमित्तों से बचता है तो अहं के शोधन की, अहं के विसर्जन की संभावनाएं उसके सामने सहजरूप में उपस्थित हो जाती हैं।

अहं की ग्रन्थि बहुत जटिल होती है। उसको तोड़ना कठिन होता है। उसके शोधन की प्रक्रिया के दो महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं—स्वाध्याय और ध्यान। इन दो साधनों के द्वारा अहं की ग्रन्थि को काटा जा सकता है। अपने-आपको जानने का प्रयत्न, अध्ययन, मनन और चिन्तन स्वाध्याय है। जब यह ज्ञान और चिंतन एकाग्रता की निश्चित बिन्दु पर पहुंचता है, तब वह ध्यान बन जाता है। ज्ञान और ध्यान, स्वाध्याय और ध्यान एक ही हैं; वास्तव में, दो नहीं हैं। केवल मात्रा का अन्तर है, परिमाण का अंतर है। पानी पानी है और पानी बरफ भी है। पानी में और बरफ में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु बिन्दु का अन्तर है। तापमान के एक बिन्दु पर पानी पानी है और अंतिम बिन्दु पर वही बरफ बन जाता है, जम जाता है। पानी तरल है। ज्ञान तरल है। बरफ ठोस है, सघन है। ध्यान ठोस है, सघन है। ज्ञान ही एक बिन्दु पर पहुंचकर ध्यान बन जाता है। ज्ञान और ध्यान, स्वाध्याय और ध्यान—ये तो ऐसे साधन हैं जो अहं की ग्रन्थि को तोड़ डालते हैं।

आत्म-शोधन की प्रक्रिया के दो साधन हैं—ज्ञान और ध्यान, स्वाध्याय और ध्यान। ये दोनों तप हैं। ये अहं की सारी जड़ों को उखाड़ डालते हैं। आत्म-शोधन नियंत्रण की प्रक्रिया आत्म-शोधन के साथ-साथ चलती है। जहां कोरा आत्म-नियंत्रण होता है, आत्म-शोधन नहीं होता, कोरा

उपवास होता है, कोरा कायक्लेश होता है, कोरी प्रतिसंलीनता होती है, यदि उनके साथ ज्ञान और ध्यान नहीं होता तो मनोविज्ञान की बात सही हो जाती है कि कोरे आत्म-नियंत्रण से मनुष्य में विकृतियां उभरती हैं। किन्तु अध्यात्म के साक्षात् द्रष्टाओं ने किसी एक ही सत्य का प्रतिपादन नहीं किया और किसी एकांगी साधना का उपदेश नहीं दिया। उन्होंने समग्र मार्ग प्रस्तुत करते हुए कहा कि आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि के लिए, उन्नत जीवन की उपलब्धि के लिए, अच्छे जीवन के निर्माण के लिए आत्म-नियंत्रण और आत्म-शोधन—दोनों जरूरी हैं। दोनों साथ-साथ चलने चाहिए। दोनों का योग होना चाहिए।

महावीर से पूछा गया—'क्या ज्ञान मोक्ष का मार्ग है?'

'नहीं, कोरा ज्ञान मोक्ष का मार्ग नहीं है।'

'क्या दर्शन मोक्ष का मार्ग है?'

'नहीं।'

'क्या चरित्र मोक्ष का मार्ग है?'

'नहीं।'

आप आश्चर्य करेंगे यह सुनकर कि महावीर कहते हैं—'ज्ञान मोक्ष का मार्ग नहीं है। दर्शन मोक्ष का मार्ग नहीं है। चारित्र मोक्ष का मार्ग नहीं है।' फिर प्रश्न होता है कि मोक्ष का मार्ग कौन-सा है? फिर महावीर से पूछा—'भंते! तो फिर मोक्ष का मार्ग कौन-सा है?' महावीर ने कहा—'अकेला ज्ञान, अकेला दर्शन, अकेला चारित्र मोक्ष की ओर नहीं ले जा सकते। जब तीनों का योग होता है तब मोक्ष घटित होता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र—तीनों का समन्वित प्रयोग ही मोक्ष का मार्ग है। ये अकेले मोक्ष की ओर नहीं ले जा सकते।'

हम किसी एक बात को पूरी बात न मान लें। हम इस दृष्टि से सोचें कि कोई व्यक्ति किसी भी सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, चिन्तन प्रस्तुत करता है तो वह मात्र एक स्फुलिंग है, एक चिनगारी है। हम एक चिनगारी को पूरी आग न मान लें, उसे मात्र एक चिनगारी ही मानें। आग और है, चिनगारी और है। एक कथन को, एक प्रतिपादन या चिन्तन को पूरा न मानें।

हम कोरे आत्म-नियंत्रण को भी साधक न मानें और कोरे आत्म-शोधन को भी साधक न मानें। जब आत्म-नियंत्रण और आत्म-शोधन—दोनों हैं, दोनों का योग होता है, तब अध्यात्म की यात्रा सम्पन्न होती है और हम जहां पहुंचना चाहते हैं, वहां पहुंच जाते हैं।

हम दो व्यक्तित्वों में जीते हैं। एक है स्थूल व्यक्तित्व और दूसरा है सूक्ष्म व्यक्तित्व। इस भौतिक शरीर से, पौद्गलिक शरीर से जो हमारा संबंध है वह सारा स्थूल व्यक्तित्व है। हमें जीव माना जाता है। हम जीव के रूप में पहचाने जाते हैं, इसलिए कि हमारे स्थूल शरीर में कुछ ऐसी क्रियाएं हैं, लक्षण हैं जो केवल प्राणी में मिलते हैं, पदार्थ में नहीं। पदार्थ और प्राणी के बीच एक भेदरेखा खींची गई। पदार्थ अचेतन होता है और प्राणी सचेतन। सचेतन और अचेतन के बीच भेदरेखा खींची गई, कुछ लक्षण निर्धारित किए। जिनमें अमुक लक्षण मिलते हैं, वह प्राणी, और जिनमें ये लक्षण नहीं मिलते वह प्राणी नहीं होता। वह अचेतन है, पदार्थ है, पौद्गलिक है। हमारे इस स्थूल शरीर की जो भेदरेखाएं हैं वे हमें जीव प्रमाणित करती हैं। हम उनके द्वारा जीव प्रमाणित होते हैं। हमारा सूक्ष्म व्यक्तित्व, हमारी दृष्टि में जीव नहीं है, आत्मा नहीं है। हमारा स्थूल व्यक्तित्व, हमारी दृष्टि में जीव है, आत्मा कोई माने या न माने। सूक्ष्म व्यक्तित्व से स्थूल व्यक्तित्व तक पहुंचने के लिए दस संस्थाओं का निर्माण किया गया है। गति, इन्द्रिय, कषाय, लेश्या, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वेद। ये दस बड़े-बड़े संस्थान हैं, कारखाने हैं। आज के बड़े-से-बड़े कारखाने इनकी तुलना में छोटे पड़ते हैं। छोटे भी इतने कि एक ओर पर्वत है तो एक ओर राई है। वर्तमान की दुनिया के सारे औद्योगिक संस्थानों के आंकड़े हम एकत्र करें और एक स्थूल शरीर के कारखाने के आंकड़े एकत्र करें तो दोनों की तुलना नहीं हो सकेगी। हमारे शरीर का कारखाना सबसे बड़ा प्रमाणित होगा। आज के विज्ञान ने सूक्ष्मता के जगत् में हमारी दृष्टि को इतना स्पष्ट कर डाला है कि आज पुरानी सूक्ष्म बातों को पुष्ट करने के लिए या प्रमाणित करने के लिए हमारे मन में साहस है, तनिक भी हिचक नहीं है। विज्ञान की इस सूक्ष्म जगत् की यात्रा से पूर्व हम स्वयं प्राचीन

तथ्यों को सचोट कहने में हिचकते थे, और कभी-कभी मन-ही-मन उनकी यथार्थता के प्रति संदेह भी अभिव्यक्त कर देते थे। किन्तु हम विज्ञान के बहुत आभारी हैं। आज के वैज्ञानिकों ने इतने सूक्ष्म तथ्य प्रतिपादित किए हैं कि अतीत में प्रतिपादित सूक्ष्म सत्यों को प्रकट करने में हमें कोई संकोच नहीं होता। एक छोटा-सा उदाहरण प्रस्तुत करता हूं। हमारा यह शरीर सेलों से बना है, कोशाणुओं से निर्मित है। शरीर की प्रत्येक कोशिका एक अवयव का निर्माण करती है। ये सेल बहुत सूक्ष्म हैं। एक इंच की लंबाई में २५०० कोषाणुओं को सीधी लाइन में रखा जा सकता है। हर सूक्ष्म कोषाणु एक बड़ा कारखाना है। उसके ग्यारह विभाग हैं। उसका अपना विद्युत्-गृह है, जो विद्युत् पैदा करता है। प्रत्येक कोशिका के पास अपना मस्तिष्क है जो सारा नियंत्रण करता है। पूरी व्यवस्था है। उसका एक विभाग ऐसा है जो प्राप्त वस्तुओं को रसायन में बदल देता है, उसे विटामिन बनाता है। प्रत्येक सेल में दस हजार से लेकर एक लाख तक निर्देश लिखे हुए होते हैं। यदि उनको छापा जाए तो ब्रिटेन के एन्साइक्लोपीडिया जैसे दो हजार भाग (वाल्यूम) निकल सकते हैं। ऐसे अरबों-खरबों सेल हैं हमारे शरीर में। इनकी तुलना किससे करें, कैसे करें? यह स्थूल शरीर के सूक्ष्म जगत् की बात है। सूक्ष्म शरीर का सूक्ष्म जगत् कैसा होगा, कल्पना भी नहीं की जा सकती। जिस सूक्ष्म शरीर ने इस स्थूल शरीर का निर्माण किया, उस स्थूल शरीर की यह सूक्ष्म रचना है। तो जो निर्माता है सूक्ष्म शरीर, उसकी सूक्ष्मता पर विचार करें तो शायद आदमी का दिमाग काम ही नहीं कर पाएगा। बहुत सूक्ष्म है, सूक्ष्म शरीर का सूक्ष्म जगत्।

इस सूक्ष्म शरीर ने स्थूल शरीर के साथ संपर्क स्थापित करने के लिए या स्थूल शरीर को जीव का व्यक्तित्व प्रदान करने के लिए दस बड़े कारखाने खोल रखे हैं। इन कारखानों का काम यह है कि जो सूक्ष्म आए उसे स्थूल बनाना, उसे स्थूल शरीर में भेजना और इस स्थूल शरीर के व्यक्तित्व को जीव का स्वरूप प्रदान करना, जिससे कि हम पहचान सकें कि यह जीव है।

गति का कारखाना ऐसा है जो किसी को मनुष्य, किसी को पशु,

तिर्यञ्च बनाता है, प्राणियों की जितनी जातियां-उपजातियां हैं, वे सारी इसी की निर्मितियां हैं। वह अमुक-अमुक प्रकार के सेलों का निर्माण करता है और अपने-अपने ढंग के प्राणी निर्मित हो जाते हैं। हर प्राणी के सेल भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं और वे भिन्न-भिन्न प्रकार का काम करते हैं। बड़ी बुद्धि से काम लेना पड़ता है इस गति के कारखाने को। एक छोटा-सा उदाहरण लें। इन वर्षों में मच्छरों को मारने के लिए डी॰ डी॰ टी॰ का प्रयोग किया गया। प्रारंभिक वर्षों में मच्छर कम होने लगे। किन्तु मच्छरों के कोशाणुओं ने ऐसा परिवर्तन कर लिया कि अब डी॰ डी॰ टी॰ का उन पर कोई असर नहीं होता। वे बढ़ रहे हैं।

इन्द्रियों का संस्थान भी बहुत बड़ा है। यह सारी इन्द्रियों का काम संचालित करता है। जीव का एक लक्षण है—गति। जो मनुष्य होता है, पशु होता है, हम उसे जीव मानते हैं। जीव का दूसरा लक्षण है—इन्द्रिय। जिसके इन्द्रियां होती हैं वह जीव होता है। अजीव में इन्द्रियां नहीं होतीं।

कषाय का कारखाना भी बहुत विशाल है। जीव का तीसरा लक्षण है—कषाय। जो क्रोध करता है, मान और माया करता है, लोभ करता है, वह जीव होता है। पत्थर में न क्रोध है, न मान है, न माया और न लोभ है। वह अजीव है। जिसमें कषाय है वह जीव होता है। जिसमें कषाय नहीं है, वह जीव नहीं होता। वह अजीव होता है। कषाय हमारे स्थूल व्यक्तित्व का एक लक्षण है। कषाय के परमाणुओं को संप्रेषित करना, उनके स्रावों को बाहर भेजना, जो सूक्ष्म जगत् में सूक्ष्म हैं, उन परमाणुओं को स्थूल बनाकर और एक भाव का रूप देकर बाहर भेजना इस कारखाने का काम है।

चौथा संस्थान है लेश्या का। जिसमें लेश्या होती है वह जीव होता है। जिसमें 'ओरा' होती है, वह जीव होता है। यहां एक प्रश्न उभरता है कि ओरा तो अचेतन में भी होती है, अजीव में भी होती है। जो भी पदार्थ हैं, उनमें से रश्मियां निकलती हैं। पदार्थ का लक्षण ही है—रश्मियों को विकीर्ण करना। हर पदार्थ से रश्मियां निकलती हैं। रश्मियां ओरा बन जाती हैं। एक ईंट की रश्मियां भी ओरा बन जाती हैं। ऐसी स्थिति में हम यह कैसे मानें कि जिसमें लेश्या होती है, ओरा होती है वह

जीव होता है और जिसमें लेश्या नहीं होती, ओरा नहीं होती वह अजीव होता है? यह लक्षण घटित नहीं होता। इसमें दोष है। ओरा जीव और अजीव दोनो में होती है। यह प्रश्न आता है। हम इसे समझें। यह सच है कि पदार्थ में, अजीव में भी ओरा होती है। किन्तु उसकी ओरा निश्चित होती है, वह बदलती नहीं। जीव की ओरा अनिश्चित होती है, बदलती रहती है। कभी उसकी ओरा अच्छी होती है और कभी बुरी होती है। कभी उसके रंग अच्छे हो जाते हैं और कभी बुरे हो जाते हैं। और यह इसलिए होता है कि उसको बदलने वाला लेश्या-तंत्र, भाव-तंत्र भीतर विद्यमान है। पदार्थ में कोरा विकिरण होता है, किन्तु उस विकिरण को बदलने वाला, परिवर्तित करने वाला कोई तत्त्व भीतर नहीं है। प्राणी की ओरा का नियामक तत्त्व है—लेश्या। लेश्या के दो भेद हैं—द्रव्य-लेश्या और भाव-लेश्या, पौद्गलिक-लेश्या और आत्मिक-लेश्या। वह निरंतर बदलती रहती है। पदार्थ में यह परिवर्तन नहीं होता। पदार्थ के बारे में एक वैज्ञानिक निश्चित बात कह सकता है, निश्चित नियम बना सकता है। उनके सार्वभौम नियमों की व्याख्या की जा सकती है किन्तु प्राणी के बारे में कोई निश्चित नियम या व्याख्या नहीं की जा सकती। यह सामियाना बंधा है। यह इच्छा हो तो छाया करे, इच्छा न हो तो न करे, ऐसा कभी नहीं होता। यदि यह बंधा है तो निश्चित ही छाया करेगा, किन्तु प्राणी के लिए यह घटित नहीं होता। वह जब इच्छा होती है तब छाया में बैठ जाता है और जब इच्छा होती है तब धूप में बैठ जाता है। गर्मी लगती है तो छाया में आ जाता है और जब सर्दी लगती है तो धूप में चला जाता है। प्राणी की यह स्वतंत्रता है। अ-प्राणी की यह स्वतंत्रता नहीं होती। रेलगाड़ी के लिए यह संभव नहीं है कि वह यह सोचे, मैं पटरी पर इतने मील चली हूं, अब सीधे रास्ते से चलूं। किन्तु एक छोटी-सी चींटी के लिए यह संभव है। प्राणी की जो विशेषता है, वह है उसकी स्वतंत्रता। उसकी विचार की स्वतंत्रता। विचार का संस्थान, भाव का संस्थान इतना बड़ा है कि उसके लिए कोई नियम नहीं बनाया जा सकता, उसकी कोई निश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती। आज के मनोवैज्ञानिकों के

हजारों-हजारों प्रयोगों और अन्वेषणों के बावजूद सभी प्राणियों के लिए कोई सार्वभौम नियम नहीं बताया जा सका और भविष्य में भी नहीं बताया जा सकेगा।

प्राणी और पदार्थ में यह मौलिक अन्तर है कि पदार्थ की ओरा निश्चित होती है। उसमें परिवर्तन करने वाला नियामक तत्त्व नहीं होता। प्राणी की ओरा बदलती रहती है। उसमें कभी काला, कभी लाल, कभी पीला, कभी नीला और कभी सफेद रंग उभर आता है। आदमी के भावों के अनुरूप रंग बदलते रहते हैं। आदमी गुस्से में होता है तो लाल रंग का ओरा बन जाता है। आदमी शांत होता है तो सफेद रंग का ओरा बन जाता है। ओरा प्राणी का लक्षण है, किन्तु इसके साथ इतना और जोड़ देना चाहिए कि परिवर्तनशील ओरा प्राणी का लक्षण है। लेश्या प्राणी का लक्षण है।

यह लेश्या का बहुत बड़ा कारखाना है। कषाय की तरंगें और कषाय की शुद्धि होने पर आने वाली चैतन्य की तरंगें—इन सब तरंगों को भाव के सांचे में ढालना, भाव के रूप में इनका निर्माण करना, और उन्हें विचार तक, कर्म तक, क्रिया तक पहुंचा देना—यह इसका काम है। यह सबसे बड़ा संस्थान है। सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच में यदि कोई संपर्क-सूत्र है तो वह वास्तव में है लेश्या। लेश्या ही संपर्क सूत्र है। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति के द्वारा जो कुछ बाहर से आता है वह कच्चा माल होता है। लेश्या उसे लेती है और उसे कषाय तक पहुंचा देती है। वह कच्चा माल कषाय के संस्थान तक पहुंच जाता है। यह लेश्या का काम है। फिर भीतर से वह कच्चा माल पक्का बनकर आता है। जो कर्म जाता है वह फिर विपाक होकर आता है। भीतरी स्राव जो रसायन बनकर आता है उसे लेश्या फिर अध्यवसाय से लेकर हमारे सारे स्थूल तंत्र तक, मस्तिष्क और अन्तःस्रावी ग्रन्थियों तक पहुंचा देती है। इसलिए यदि हमारे स्थूल शरीर में लेश्या के प्रतिनिधि संस्थानों को खोजें, उनके बिक्री संस्थानों को खोजें तो जितनी अन्तःस्रावी ग्रन्थियां हैं, ये सारी लेश्या की प्रतिनिधि संस्थाएं हैं, बिक्री संस्थान हैं। उनके सेल्स मैनेजर वहां बैठे हैं। अच्छे ढंग से उनके माल की सप्लाई

कर रहे हैं।

अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के जो स्राव हैं, वे कर्मों के स्राव भीतर से आते हैं लेश्या के द्वारा और यहां आकर वे सारे बाहरी व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। सारा बाहरी व्यक्तित्व उससे बदल जाता है। जो भी माल आता है, वह रंगीन आता है। भीतर जाता है, वह भी रंगीन जाता है। बाहर आता है, वह भी रंगीन आता है। कषाय शब्द का चुनाव भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। कषाय का अर्थ होता है—रंगा हुआ। लाल रंग से रंगा हुआ या केवल रंगा हुआ। रंगे हुए कपड़े को काषायिक कपड़ा कहा जाता है।

भीतर में बड़ा रंग का संस्थान है—कषाय का तंत्र। वहां जो कुछ भी जाता है वह रंगीन होकर ही जाता है। वहां बिना रंग की कोई वस्तु नहीं है। वहां जो कुछ है वह सारा रंगा हुआ है। रंग ही रंग का सारा संस्थान है। वहां से जो कुछ भी आता है वह रंगकर आता है। जितने कर्म के परमाणु हैं वे सारे के सारे रंग के परमाणु हैं।

एक आदमी हिंसा का विचार करता है। तो काले रंग के परमाणुओं को आकर्षित करता है। एक आदमी असत्य बोलता है तो काले रंग के परमाणुओं को आकर्षित करता है। गंदले काले रंग के परमाणु। एक आदमी क्रोध करता है तो मलिन लाल रंग के परमाणु आकर्षित होते हैं। रंग दो प्रकार के होते हैं। एक है—प्रकाशमान रंग और एक है—गंदला रंग। एक आदमी माया का व्यवहार करता है तो गंदले नीले रंग के परमाणु आकर्षित करता है। जो आदमी बुरे कार्य करता है, अठारह पाप-स्थानों का सेवन करता है, उनका आचरण करता है तो गन्दा काला, गन्दा नीला, गन्दा लाल, गन्दा पीला, गन्दा सफेद पांचों गन्दे रंगों के परमाणु आकर्षित होते हैं और वे भीतर के कषाय-तंत्रों तक पहुंच जाते हैं। उनको पहुंचाने वाली है—लेश्या। संपर्क-सूत्र का सारा कार्य लेश्या के हाथ में है। फिर वहां से पक-पकाकर जब विपाक होता है, पूरे रंग कर जब वे बाहर आते हैं, तब लेश्या उन्हें संभालती है और उन्हें बाहर तक पहुंचा देती है, विपाक तक पहुंचा देती है। वे विपाक हमारे भिन्न-भिन्न अन्तःस्रावी ग्रन्थियों में आकर भिन्न-भिन्न प्रकार की वेदनाएं और

प्रतिक्रियाएं प्रकट करते हैं। यह रंग का सबसे बड़ा संस्थान है—लेश्या-तन्त्र। हमारा सारा जीवन-तन्त्र रंगों के आधार पर चलता है। आज के मनोवैज्ञानिकों और वैज्ञानिकों ने यह खोज की है कि व्यक्ति के अन्तर्-मन को, अवचेतन मन को और मस्तिष्क को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला है—रंग। रंग हमारे समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। यह बहुत बड़ी सचाई है। हम सबसे ज्यादा रंग से प्रभावित होते हैं। रस का भी प्रभाव होता है, गन्ध और स्पर्श का भी प्रभाव होता है, किन्तु रंग जितना प्रभाव डालता है, उतना कोई नहीं डालता। हम सब रंगों से प्रभावित होते हैं। हमारे जीवन का संबंध रंग से है। हमारी मृत्यु का संबंध रंग से है। हमारे पुनर्जन्म का संबंध रंग से है। हमारे भावों-विचारों का संबंध रंग से है। जिस प्रकार के रंग हम ग्रहण करते हैं, वैसे ही हमारे भाव बन जाते हैं। जब हम हिंसा का विचार करते हैं तब काले रंग के परमाणु आकर्षित होते हैं और हमारी आत्मा के परिणाम भी काले रंग के अनुरूप बन जाते हैं। जैसा सान्निध्य मिलता है, वैसा बन जाता है। स्फटिक के सामने जैसा रंग आता है, वह वैसा ही दीखने लग जाता है। स्फटिक का अपना रंग नहीं होता। उसके सामने काला रंग आता है तो वह काला, पीला रंग आता है तो वह पीला, लाल रंग आता है तो वह लाल और नीला रंग आता है तो वह नीला बन जाता है। आत्मा के परिणामों का अपना कोई रंग नहीं होता। सामने जिस रंग के परमाणु आते हैं। आत्मा का परिणाम उस रंग में बदल जाता है। वैसी ही हमारी भाव-लेश्या हो जाती है। यह संस्थान हमारे जीवन की प्रत्येक गतिविधी से सम्बद्ध संस्थान है। इसलिए इस विषय पर हमें बहुत विस्तार से चर्चा करनी होगी।

एक व्यक्ति मरता है। वह अगले जन्म में पैदा होता है। पूछा गया कि वह अगले जन्म में क्या होगा? कैसा होगा? उत्तर मिला—जिस लेश्या में मरेगा उसी लेश्या में उत्पन्न होगा। जिस रंग में मरेगा उसी रंग में पैदा होगा।

ज्ञान और ध्यान के साथ, कर्म और जीवन के साथ, मृत्यु और पुनर्जन्म के साथ—सबके साथ रंगों का सम्बन्ध है। स्थूल व्यक्तित्व का

ऐसा कौन-सा विषय है, जिसके साथ रंग का सम्बन्ध न हो। यह अंगुली हिलती है। इसका भी अपना रंग है। एक अंगुली का नाम है—तर्जनी। इसका काम है तर्जना देना। इसे ही तर्जनी क्यों कहा गया? दूसरी अंगुली को तर्जनी क्यों नहीं कहा गया? इसे तर्जनी इसलिए कहा गया कि इसका रंग तर्जना देने वाला है। हमारी अंगुलियों का, हमारे घुटने और एड़ी का, हमारे पैर तक के भाग का रंग, हमारे कटि तक के भाग का रंग और शरीर के ऊपरी भाग तक का रंग अलग-अलग है। सारा रंग ही रंग है। जो भी हम खाते हैं, वह आहार-पर्याप्ति के कोष में जाता है। आहार-पर्याप्ति की वे कोशिकाएं सबसे पहले उन परमाणुओं को रंग और रूप में बदलती हैं। उनको रंग देती हैं। हमारा सारा विचार रंग से सम्बद्ध है। हमारा चिन्तन, स्मृति, रंग से सम्बद्ध है। सारे व्यक्तित्व को लेश्या रंग प्रभावित किए हुए है। इसलिए इस विषय पर विस्तार से चर्चा करना आवश्यक है।

पांचवां संस्थान है—योग का, प्रवृत्ति का। यह भी व्यक्तित्व के पहचान का एक लक्षण है। योग का अर्थ है—चंचलता। प्रश्न हो सकता है कि यह जीव का लक्षण कैसे बन सकता है? चंचलता परमाणु में भी होती है। इसका उत्तर है कि जीव में स्वेच्छाकृत चंचलता होती है, परमाणु में स्वेच्छाकृत चंचलता नहीं होती। प्राणी का लक्षण केवल गति नही है, किन्तु स्वेच्छाकृत गति है। गति अचेतन में भी होती है। दुनिया मे ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जिसमें गति न हो। पुद्गल और जीव—दोनो में गति है। पुद्गल में स्वेच्छाकृत गति नहीं होती, जीव में स्वेच्छाकृत गति होती है। इसलिए योग भी जीव का एक लक्षण है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, उपयोग और वेद—ये पांचों ही जीवों के लक्षण हैं। जिसमें ज्ञान होता है, वह जीव और जिसमें ज्ञान नहीं होता, वह अजीव। जिसमें देखने की शक्ति होती है, वह जीव और जिसमें देखने की शक्ति नहीं होती, वह अजीव। जिसमें अनियत आचरण की क्षमता होती है, वह जीव जिसमें यह क्षमता नहीं होती, वह अजीव। जिसमे उपयोग की शक्ति—चाहे तो जानना और न चाहे तो न जानना—होती है वह जीव और बाकी अजीव। जिसमें दूसरे प्राणी को उत्पन्न करने

ग्रा जन्म देने की क्षमता होती है, वह जीव और जिसमें यह क्षमता नहीं होती, वह अजीव।

ये दस ऐसे संस्थान हैं जो हमारे सूक्ष्म व्यक्तित्व और स्थूल व्यक्तित्व के बीच में बैठे हैं और सूक्ष्म शरीर से आने वाले अनुदान को उपलब्ध कर, उसे स्थूल बनाकर स्थूल व्यक्तित्व में संप्रेषित करते हैं और स्थूल व्यक्तित्व को एक जीव होने का गौरव प्रदान करते हैं।

५. जो व्यक्तित्व का रूपान्तरण करता है (१)

१. ● व्यक्ति बदलना चाहता है :
व्यक्तित्व के तीन अंग—भाव शोधन, विचार नियन्त्रण, व्यवहार नियन्त्रण

२. ● शोधन की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया—लेश्या या भावकेन्द्र पर जागना।

३. ● भावकेन्द्र अन्तः और बाह्य—दोनों से प्रभावित होता है।

४. ● बुरे के नियंत्रण से बाहरी तत्त्व लेश्या को प्रभावित नहीं करते तब भावकेन्द्र शक्तिशाली होकर भीतर से आने वाले बुरे स्रावों या विपाकों को निष्क्रिय बनाकर बाहर फेंकने में समर्थ होता है।

५. ●

अशुद्ध भाव	**शुद्ध भाव**
* कृष्ण—अजितेन्द्रिय	पद्म—जितेन्द्रिय
* कृष्ण—चपलता	तैजस्—स्थिरता
* कृष्ण—मन की अशांति	पद्म—मन की शांति
* नील—रस लोलुपता	पद्म—रस विजय
* कापोत—वक्रता	तैजस्—सरलता

हर समझदार व्यक्ति अपना रूपान्तरण चाहता है, व्यक्तित्व को बदलना चाहता है। जो जैसा है, वैसे में संतुष्ट नहीं होता, और अच्छा बनना चाहता है। व्यक्तित्व के रूपान्तरण की यह भावना प्रत्येक व्यक्ति में सतत बनी रहती है। परन्तु प्रश्न है कि व्यक्तित्व का रूपान्तरण कैसे हो और कहां हो? वह कौन-सा केन्द्र है जहां पहुंचकर व्यक्ति रूपान्तरित हो सकता है, अपने व्यक्तित्व को बदल सकता है। व्यक्तित्व का आवरण और व्यक्तित्व का रूपान्तरण—ये दो बातें हैं। व्यक्तित्व पर आवरण तो

जब चाहे तब डाला जा सकता है। जो व्यक्ति जैसा है, वैसा दीखना कम पसन्द करता है। वह बहुत बार अपने व्यक्तित्व पर आवरण डाले रहता है जिससे कि दूसरा उसे पहचान न सके, उसके असली रूप को जान न सके। आदमी को यथार्थ में जान पाना, पहचान पाना बहुत ही कठिन है। क्योंकि उसके व्यक्तित्व पर इतने आवरण हैं कि कोई भी मूलरूप को नहीं जान सकता। कोई भी व्यक्ति अपने आपको क्रोधी या मायावी प्रदर्शित करना नहीं चाहता। क्रोधी व्यक्ति अपने आपको अत्यनत शान्त और क्षमाशील प्रदर्शित करना चाहता है और मायावी व्यक्ति भी अपने आपको बहुत ऋजु और सरल दिखाना चाहता है। वह स्वयं को वीतराग जैसा दिखाना चाहता है। इस प्रकार व्यक्तित्व पर अनेक आवरण डाल दिए जाते हैं। व्यक्ति की पहचान नहीं हो सकती। व्यक्ति को समझने में जितना धोखा होता है उतना धोखा और किसी को समझने में नहीं होता। पदार्थ को समझने में कोई धोखा नहीं होता। किन्तु व्यक्ति को सही रूप में पहचानने में धोखा होता है और इसका कारण स्पष्ट है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व पर आवरण डालना जानता है। उसमें आवरण डालने की तीव्र बुद्धि है, क्षमता है।

व्यक्तित्व का रूपान्तरण दूसरी बात है। रूपान्तरण करना आवरण डालना नहीं है। रूपान्तरण में व्यक्ति बिल्कुल बदल जाता है। व्यक्ति नया हो जाता है। उसका नया जन्म हो जाता है। फिर आवरण डालने की बात नहीं होती। रूपान्तरण से व्यक्ति अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी हो सकता है। अच्छा बुरा बन सकता है और बुरा अच्छा बन सकता है। हमारी इस दुनिया में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसे सर्वथा अच्छा कहा जा सके और कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसे सर्वथा बुरा कहा जा सके। हम जिसको बुरा मानते हैं वह अच्छा भी है और जिसे अच्छा मानते हैं वह बुरा भी है। अच्छाई और बुराई—दोनों साथ-साथ चलती हैं। अन्तर इतना-सा होता है कि अच्छाई जब उभरकर सामने आती है, तब बुराई नीचे रह जाती है और जब बुराई उभरकर सामने आती है, तब अच्छाई नीचे रह जाती है। इसलिए हमें उस बिन्दु की खोज करनी है, जहां व्यक्ति का रूपान्तरण होता है या जो व्यक्ति

को रूपान्तरित करता है। खोज से यह निष्पत्ति हुई कि वह बिन्दु है—लेश्या। लेश्या एक ऐसा चैतन्य-केन्द्र है, जहां पहुंचने पर व्यक्ति का रूपान्तरण घटित होता है।

चेतना के तीन स्तर हैं—

१. स्थूल चेतना का स्तर—यह स्थूल शरीर के साथ कार्यशील रहता है।
२. लेश्या का स्तर—यह विद्युत् शरीर—तैजस् शरीर के साथ काम करता है।
३. अध्यवसाय का स्तर—यह अति सूक्ष्म शरीर (कर्म शरीर) के साथ काम करता है।

शरीर तीन हैं—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और अति-सूक्ष्म शरीर। स्थूल शरीर है—औदारिक, सूक्ष्म शरीर है—तैजस् और अति-सूक्ष्म शरीर है—कर्म शरीर। इन तीन स्तरों पर तीन चेतना-केन्द्र काम करते हैं। एक है—चित्त चेतना-केन्द्र, दूसरा है—लेश्या चेतना-केन्द्र और तीसरा है—अध्यवसाय चेतना-केन्द्र। ये तीनों तीन स्तरों पर काम करते हैं। चित्त का संबंध हमारे स्थूल शरीर से है। चित्त, मन और इन्द्रियां—ये सब स्थूल शरीर से संबद्ध हैं। लेश्या हमारे स्थूल से संबद्ध नहीं है। जिनके मस्तिष्क है, सुषुम्ना है, नाड़ी-संस्थान है उनके लेश्या होती है जिन तो जीवों में ये नहीं होते, केवल एक स्पर्न इन्द्रिय ही होती है, उनके भी लेश्या होती है। यह लेश्या-तंत्र, भावों का निर्माण करने वाला तंत्र, यह चेतना-केन्द्र सबसे अधिक सक्रिय और जाग्रत होता है। जितनी स्नायविक क्रिया है, वह सारी शरीर से सम्बन्ध रखती है। मन का कोई भी विचार, वाणी की कोई भी प्रवृत्ति, शरीर की कोई भी क्रिया और बुद्धि या चित्त की कोई भी क्रिया इस शरीर-तंत्र के बिना, स्नायविक योग के बिना नहीं होती। ज्ञानवाही स्नायु और क्रियावाही स्नायु—दोनों प्रकार के स्नायु इन सारी क्रियाओं का संपादन करते हैं, किन्तु लेश्या के लिए इन स्नायुओं की कोई अपेक्षा नहीं है। यह स्नायु से परे, स्थूल शरीर से परे है। यहां यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आत्म-नियंत्रण स्नायविक स्तर पर होता है और आत्म-शोधन लेश्या के स्तर पर होता है।

हमारे व्यक्तित्व के तीन पहलू हैं—भाव, विचार और व्यवहार। व्यवहार हमारी कायिक प्रवृत्ति है, कायिक आचरण है। विचार हमारी मानसिक प्रवृत्ति है। ये दोनों स्नायुओं से संबंधित हैं। मन भी स्नायविक प्रवृत्ति है और व्यवहार भी स्नायविक प्रवृत्ति है। भाव स्नायविक प्रवृत्ति नहीं है। वह लेश्या-केन्द्र से होने वाली क्रिया है। व्यवहार का नियंत्रण किया जा सकता है। इस प्रकार बैठो, इस प्रकार मत बैठो। यह करो, वह मत करो। यह सब स्नायिक प्रवृत्ति है। इस पर नियंत्रण किया जा सकता है। वाणी की प्रवृत्ति पर नियंत्रण किया जा सकता है और मन की क्रिया पर भी नियंत्रण किया जा सकता है। किन्तु जब हम व्यवहार और विचार से परे जाते हैं, भाव के जगत् में प्रवेश करते हैं और उस चेतना के स्तर पर जाते हैं, वहां नियंत्रण कोई काम नहीं देता। हमारा यह प्रसिद्ध सूत्र है कि योग प्रवृत्ति का, क्रियात्मक आचरण का त्याग किया जा सकता है, प्रत्याख्यान किया जा सकता है। किन्तु आन्तरिक मलिनता का त्याग और प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। प्रमाद और कषाय का त्याग कभी नहीं होता। जितना त्याग या प्रत्याख्यान होता है, वह सारा-का-सारा क्रियात्मक प्रवृत्तियों का होता है। वह क्रियात्मक प्रवृत्ति चाहे मन की हो, चाहे वाणी की हो, चाहे शरीर की हो। सारा नियंत्रण, त्याग या प्रत्याख्यान होगा इन क्रियात्मक प्रवृत्तियों का। इसका तात्पर्य है कि स्थूल शरीर की चेतना तक, स्थूल शरीर की स्नायविक क्रिया तक ही त्याग और नियंत्रण होता है। इससे आगे जो कुछ होता है, वह स्वाभाविक होता है, किया हुआ नहीं होता। भाव और लेश्या के क्षेत्र में नियंत्रण नहीं, शोधन होता है। हमारे में नियंत्रण का भी अवकाश है—और शोधन का भी अवकाश है। हम नियंत्रण के क्षेत्र में शोधन को न लाएं और शोधन के क्षेत्र में नियंत्रण को न लाएं। दोनों की अपनी-अपनी सीमाएं हैं। एक है—नियंत्रण की सीमा, एक है—शोधन की सीमा।

बहुत बार ऐसा होता है कि व्यक्ति नियंत्रण करना चाहता है, शोधन करना चाहता है, संकल्प करना चाहता है, अच्छा होना चाहता है, फिर भी वह वैसा हो नहीं पाता। त्याग करता है, प्रत्याख्यान करता है, दृढ़

निश्चय करता है, परन्तु जो अन्तर में बदलना चाहिए वह नहीं बदलता, जो आदत बननी चाहिए वह नहीं बनती। तब व्यक्ति के मन में प्रश्न उभरता है। इसका अच्छा समाधान इस लेश्या-तंत्र के द्वारा मिलता है। यदि हम स्नायविक स्तर पर इस प्रश्न को समाहित करना चाहें तो हो नहीं सकता। स्नायविक स्तर की साधना केवल नियंत्रण तक ले जाती है, रूपान्तरण तक नहीं ले जाती। जब तक हम रूपान्तरण के स्तर पर नहीं जागते, वहां चित्तवृत्तियों का जागरण नहीं करते, चेतना को वहां नहीं जगाते, वहां ध्यान नहीं करते तो नियंत्रण हो सकता है, शोधन नहीं हो सकता। जब तक शोधन नहीं होता तब तक नियंत्रण की बात सामने आती रहेगी, रूपान्तरण नहीं होगा। रूपान्तरण के बाद नियंत्रण समाप्त हो जाता है, क्योंकि रूपान्तरित व्यक्ति के लिए नियंत्रण की जरूरत नहीं होती। जो व्यक्ति शुक्ल-लेश्या में, पद्म-लेश्या में और तेजो-लेश्या में पहुंच जाता है, उस व्यक्ति के लिए नियंत्रण की बात बहुत कम आवश्यक होती है। जो व्यक्ति वीतराग बन गया, उसके लिए नियंत्रण की जरूरत ही नहीं होती। जो व्यक्ति अप्रमत्त अवस्था में चला जाता है, उसके लिए नियंत्रण किस काम का! जब तक लेश्या के द्वारा अपने व्यक्तित्व का रूपान्तरण नहीं हो जाता, तब तक नियंत्रण को नहीं छोड़ा जा सकता। ये दोनों सीमाएं हैं और इन दोनों सीमाओं को हमें बहुत ही स्पष्टता से समझ लेना है।

भाव से विचार और विचार से क्रिया। क्रिया स्थूल है। विचार उससे सूक्ष्म है और भाव उससे भी सूक्ष्म। क्रिया और विचार—दोनों स्नायविक प्रेरणाएं हैं। भाव स्नायविक प्रवृत्ति नहीं, शरीर की प्रवृत्ति नहीं है। वह स्थूल शरीर से परे, फिजिकल-बॉडी से परे जो लेश्या-शरीर या लेश्या-तंत्र है, लेश्या का चेतना-केन्द्र है, उसकी प्रवृत्ति है, उसकी क्रिया है। शोधन का, रूपान्तरण का यह पहला बिन्दु है। वहां पहुंचकर हम रूपान्तरण कर सकते हैं। व्यक्ति को पहचानने का भी यही बिन्दु है। स्नायविक बिन्दु के जगत् में बहुत धोखा दिया जा सकता है और व्यक्ति को पहचानने में बहुत बड़ा धोखा हो सकता है। कोई व्यक्ति बहुत क्रूर होता है किन्तु दूसरे से मिलने में इतना विनम्र व्यवहार करता

है कि व्यक्ति छलना में आ जाते हैं, धोखे में आ जाते हैं। व्यावसायिक जगत् में न जाने इस प्रकार के कितने धोखे चलते हैं। वह मायावी व्यक्ति अपने आपको इतना मिलनसार, इतना विनम्र और इतना स्वार्थ से ऊपर उठा हुआ प्रदर्शित करता है और जब उसका अन्तरंग स्वरूप सामने आता है तब दोनों स्वरूपों में कोई सामंजस्य ही नजर नहीं आता। दोनों एक-दूसरे से अत्यन्त विपरीत। इसीलिए व्यक्तित्व के पहचान की कसौटी यह मानस-जगत् और व्यवहार-जगत् नहीं है, किन्तु भाव-जगत् है, जहां कोई धोखा नहीं हो सकता। जो जैसा है, वैसा रूप ही वहां मिलेगा।

प्राचीनकाल में साधना के आचार्य अपने शिष्य की पहचान, उसकी योग्यता की परख उसके आभामंडल के आधार पर करते थे। उनकी लेश्याओं और भावमंडलों को देखकर उसे जान लेते थे। जैसा भावमंडल वैसा आभामंडल। आभामंडल बता देगा कि इस व्यक्ति का भावमंडल कैसा है और भावमंडल यह बता देगा कि व्यक्ति कैसा है। वहां कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। आज की दुनिया में ऐसे वैज्ञानिक उपकरण प्राप्त हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति के अन्तर्मन को देखा जाता है। अपराधों की जांच की जाती है। अपराधों की खोज करने वाली शाखाएं इस प्रकार के उपकरणों का उपयोग करती हैं। ये मशीनें बता देती हैं कि अमुक ने चोरी की या नहीं की। अमुक झूठ बोल रहा है या सच? व्यक्ति को पूछने की जरूरत नहीं है। मशीन के सामने बिठा दिया जाता है। यंत्र की सुई घूमती है। ग्राफ उतरता है। पता लग जाता है—अपराध का और अपराधी का। इसमें भी धोखा हो सकता है क्योंकि सामने जब यह वातावरण होता है तो व्यक्ति के मन में भी क्रियाएं बदल जाती हैं। इसमें धोखे की संभावना है, किन्तु आभामंडल में धोखा होने की कोई संभावना नहीं है।

आज के वैज्ञानिकों ने अनेक गवेषणाओं के बाद यह घोषणा की कि शरीर में जो रोग होगा, उसकी पूर्व-सूचना तीन महीने पहले मिल जाएगी। तीन महीने से पहले वह रोग आभामंडल में उतर आएगा। फिर धीरे-धीरे वह स्थूल शरीर तक पहुंचेगा। उसको वहां अभिव्यक्ति होने

में तीन महीने लग जाएंगे। तीन महीने पहले जब यह ज्ञात हो जाएगा कि अमुक रोग उभरने वाला है, तब व्यक्ति उसकी पूर्व-चिकित्सा करा लेगा, जिससे कि वह रोग उभरे ही नहीं। अनेक महीनों पूर्व यह घोषणा की जा सकती है कि यह व्यक्ति अमुक दिन मरेगा, क्योंकि आभामंडल पर मृत्यु पहले ही उतरने लग जाती है।

देवताओं का आभामंडल मृत्यु से छह मास पूर्व क्षीण होने लग जाता है। उन्हें सूचना मिल जाती है कि छह मास बाद उन्हें देवजन्म को छोड़कर अन्यत्र जाना होगा, दूसरा जन्म लेना होगा। उनकी मृत्यु को जानने का आभामंडल सशक्त माध्यम है।

हमारे सूक्ष्म-जगत् में घटित होने वाले सारे निर्देशों को आभामंडल लाता है। अध्यवसाय में, कर्म-शरीर में जो-जो घटित होने वाली घटनाएं सूक्ष्म-स्पंदन के रूप में घटित हो रही हैं, उनको भाव जगत् में उतारने वाला आभामंडल है और भाव-जगत् में जो घटनाएं उतरती हैं, उनके सारे निर्देश आभामंडल में पहुंचते हैं।

हम भाषा से परिचित हैं और लिपि से परिचित हैं। हम दोनों को जानते हैं। किन्तु यह बहुत ही स्थूल बात है। मन जब कुछ सोचता है तब चित्र होता है, भाषा नहीं होती। हम जो मन में सोचते हैं, उसे भाषा में अभिव्यक्त करते हैं। सोचते हैं, तब उसका चित्र होता है और बोलते हैं, तब लिपि बन जाती है। मनःपर्यवज्ञानी हमारे मन के भावों को तत्काल जान जाता है। वह लिपि को नहीं पढ़ता, किन्तु चित्रों को पढ़ता है। एक व्यक्ति ने आज कुछ सोचा। जैसे ही उसने सोचा, विचार पूरा किया कि उसके विचारों के चित्र मन से निकलकर आकाशमंडल में फैल जाते हैं। हजार वर्ष बाद भी, एक मनःपर्यवज्ञानी, जिसमें मानसिक अवस्थाओं को पढ़ने की क्षमता है, वह उन विचारों द्वारा उत्सर्जित चित्रों को देखकर जान जाएगा कि उस अमुक व्यक्ति ने यह सोचा था। मानसिक चित्र, मन की आकृतियां आकाशमंडल में भरी पड़ी हैं। मन की भाषा चित्र की भाषा है, लिपि की भाषा नहीं है। भाव की भाषा उससे भी सूक्ष्म है। वह रेखाओं की भाषा है। वहां स्पंदन रेखाओं का रूप ले लेते हैं। अध्यवसाय की भाषा कोरी

तरंगों की भाषा है। वहां कोई रेखाएं नहीं हैं।

* अध्यवसाय की भाषा तरंग की भाषा है, स्पंदन की भाषा है।
* लेश्या की भाषा रेखांकन की भाषा है।
* मन की भाषा चित्र की भाषा है।
* आदमी की भाषा लिपि की भाषा है—अक्षरात्मक भाषा है।

हम जो सूक्ष्म जगत् में करते हैं, वह सारा स्थूल जगत् में उतरता है। मनोवैज्ञानिकों ने जो व्याख्याएं की हैं, वे वास्तव में जटिल बनी हैं। वे अधूरी हैं। क्योंकि वे व्यवहार की व्याख्या परिस्थिति के आधार पर करते हैं। एक व्यक्ति कभी घृणा भी करता है और कभी प्रेम भी करता है। यह कैसे हो सकता है कि एक ही व्यक्ति कभी घृणा करे और कभी प्रेम करे। आश्चर्य इस बात का है कि वह व्यक्ति प्रातःकाल जिससे घृणा करता है, सायंकाल उससे प्रेम करने लग जाता है। यह क्यों होता है? व्यावहारिक मनोविज्ञान इस प्रश्न के उत्तर में कहता है कि जो व्यक्ति जिस प्रकार के ऑब्जेक्ट से जो बात सीखता है, वह वैसा ही करने लगता है। वह व्यक्ति बचपन में ही यह बात सीख चुका है। माता ने उसे कभी दुलारा, प्यार किया तो उसने प्रेम सीख लिया। माता ने उसे कभी डांटा, फटकारा तो उसने घृणा सीख ली, क्रोध करना सीख लिया और उत्तेजित होना सीख लिया। व्यक्ति जो कुछ सीखता है, वह सारा व्यवहार से सीखता है। मनोविज्ञान व्यवहार का इससे आगे कोई समाधान नहीं दे पाता। किन्तु हमारा व्यवहार इतना सरल नहीं है। वह इतना जटिल और इतनी जटिलताओं से भरा है कि केवल परिस्थिति के प्रतिबिम्बों को ग्रहण करने से पूरा समाधान नहीं हो सकता। किन्तु यदि हम इन सारी समस्याओं को व्यवहार-जगत् से विचार-जगत् तक ले जाएं, विचार-जगत् से भाव-जगत् तक ले जाएं और भाव-जगत् से अध्यवसाय-जगत् तक ले जाएं, तब हमें पूरी व्याख्या प्राप्त हो सकती है, पूरा समाधान हो सकता है।

अध्यवसाय के जगत् में, कर्म-शरीर के जगत् में एक मूर्च्छा है। प्रेम भी मूर्च्छा है और घृणा भी मूर्च्छा है। प्रेम करना भी मूर्च्छा है और घृणा करना भी मूर्च्छा है। दोनों एक हैं, दो नहीं हैं। केवल मात्रा का

अन्तर है। केवल प्रकंपनों का अन्तर है और कोई अन्तर नहीं है। विज्ञान के जगत् में इन विरोधी बातों को सुलझाने का बहुल प्रयत्न हुआ है। एक है—रंग और एक है—शब्द। वैज्ञानिक कहेगा—इनमें कोई अन्तर नहीं है। केवल फ्रीक्वेन्सी का अन्तर है। रंग को सुना जा सकता है। यदि रंग को शब्द की फ्रीक्वेन्सी प्राप्त हो जाए तो वह भी सुनाई दे सकता है। फ्रीक्वेन्सी का अन्तर मिट जाए तो रंग और शब्दों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। ध्वनि को देखा जा सकता है, यदि उसे रंग की फ्रीक्वेन्सी प्राप्त हो जाए। प्रेम, घृणा आदि मूर्च्छा की फ्रीक्वेन्सियां हैं, मूर्च्छा के प्रकंपन हैं। प्रकंपनों की मात्रा घट-बढ़ जाती है, तब प्रेम उभरता है, घृणा उभरती है। प्रेम ही आवृत्तियों के भेद से घृणा बन जाता है। एक ही मूर्च्छा के नानारूप बन जाते हैं। क्रोध भी मूर्च्छा है, मान भी मूर्च्छा है, माया और लोभ भी मूर्च्छा है। भय भी मूर्च्छा है, कामवासना भी मूर्च्छा है। एक ही मूर्च्छा के ये नानारूप हैं। ये नानारूप हमारे जीवन में अभिव्यक्त होते रहते हैं। इसलिए एक बच्चा जो कभी प्रेम करता है, कभी घृणा करता है, वह केवल मां से ही नहीं सीखता, जैसा कि मनोविज्ञान मानता है, किन्तु प्रेम और घृणा का सारा प्रवाह उस मूर्च्छा से आ रहा है जो भीतर पल रही है। वह मूर्च्छा बाह्य-जगत् की उत्तेजनाओं का निमित्त पाकर उभरती है, उत्तेजित होती है। हम सूक्ष्म-जगत् और स्थूल-जगत् की घटनाओं को ठीक से समझ लेते हैं तो व्यक्तित्व के रूपान्तरण की बात भी स्पष्टता से समझ में आ जाती है।

व्यक्तित्व का रूपान्तरण लेश्या की चेतना के स्तर पर हो सकता है। लेश्याएं अच्छी होंगी तो व्यक्तित्व बदल जाएगा। लेश्याएं बुरी होंगी तो व्यक्तित्व बदल जाएगा। दोनों ओर बदलेगा, रूपान्तरण घटित होगा। इसलिए हमें बहुत आश्चर्य होता है कि एक दुर्दान्त डाकू था और वह अचानक संत बन गया। एक संत था वह अचानक डाकू बन गया। यह कैसे होता है? जिस व्यक्ति को हमने पचास वर्ष तक संत का जीवन जीते देखा और उसी को अन्तिम अवस्था में डाका डालते हुए देखते हैं, आश्चर्य होता है। जिस व्यक्ति को हमने पचास वर्ष तक डाकू का जीवन जीते देखा और उसी को जब एक संत के रूप में देखते

हैं, तो आश्चर्य होता है। इतना बड़ा परिवर्तन कैसे घटित होता है? इसमें केवल आवरण का ही परिवर्तन नहीं हुआ है। डाकू ने संत का चोगा नहीं पहना और संत ने डाकू का चोगा नहीं पहना। किन्तु दोनों में रूपान्तरण घटित हुआ है। यह रूपान्तरण भाव-जगत् में घटित होता है तब ऐसा होता है। यह भाव-जगत् की घटना है, लेश्या-जगत् की घटना है। वह एक ऐसा संस्थान है, कारखाना है, जहां सब कुछ बदल जाता है। वहां व्यक्ति के सारे भावों का रूपान्तरण हो जाता है और व्यक्ति आमूलचूल बदल जाता है। जब भाव बदल जाता है, तब भाव के पीछे चलने वाला विचार अपने आप बदल जाता है। जब विचार बदल जाता है, तब विचार के पीछे चलने वाला व्यवहार अपने आप बदल जाता है।

हम फिर बदलने की बात को समझें। हम व्यवहार को नियंत्रण के द्वारा ही बदल सकते हैं। हम विचार को नियंत्रण के द्वारा ही बदल सकते हैं। ऐसा विचार मत करो कि निषेध ही चलेगा। दोनों चलेंगे। वास्तव में विधि और निषेध अलग-अलग नहीं हैं। दोनों एक हैं। कुछ लोग इस बात पर उलझ जाते हैं कि इस वैज्ञानिक युग में नियंत्रण की बात करना सारे विज्ञान को उलट देना है। वे भूल जाते हैं इस बात को कि विधि और निषेध को सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। विद्युत् के दो प्रकार हैं--पोजिटिव और नेगेटिव। दोनों को अलग कर दें, बिजली नहीं जलेगी, दोनों का योग करें, बिजली जल उठेगी। विधि और निषेध--दोनों निरन्तर साथ-साथ चलते हैं। एक का विधान करते हैं तो दूसरे का निषेध स्वतः प्राप्त हो जाता है।

आज की चिकित्सा-प्रणाली में थोड़ा-सा अन्तर है। वह है खंड चिकित्सा-प्रणाली। एक समय ऐसा था जब अखंड चिकित्सा-प्रणाली चलती थी। घुटने में दर्द है। पुराने चिकित्सक घुटने का इलाज नहीं करते। वे कहते--यह तो रोग का लक्षण है। यह घुटने में अभिव्यक्त हुआ है। घुटने में क्या है जो रोग हो जाए? यह तो इस बात की सूचना देता है कि शरीर में रोग है। सिर में दर्द है। सिर के दर्द का इलाज, नहीं होगा। शरीर का इलाज होगा। न घुटने के दर्द का इलाज, न सिर के

दर्द का इलाज, न कान के दर्द का इलाज, न हाथ के दर्द का इलाज। ये सारे शरीर के अंग हैं, अवयव हैं। शरीर को देखो कि बीमारी कहां है? मूल को देखो कि बीमारी कहां है? पूरे शरीर की चिकित्सा करो, ये सारे दर्द मिट जाएंगे। शरीर स्वस्थ होने पर न घुटने का दर्द रहेगा, न सिर का दर्द रहेगा, न कान और हाथ का दर्द रहेगा। यह अखंडित चिकित्सा-प्रणाली है। शरीर के खंड-खंड का इलाज नहीं, पूरे शरीर का इलाज करो।

खण्डित चिकित्सा-प्रणाली से कुछ विकृतियां भी पैदा हुई हैं। भ्रान्तियां भी पैदा हुई हैं। इस प्रणाली से चिकित्सा होती है, मादक गोलियां लेते हैं, स्नायुओं में शामकता बढ़ती है और वे कुछ ठीक होते हुए से लगते हैं। किन्तु जब शामकता की शक्ति थोड़ी-सी क्षीण होती है, तब वह अवयव पुनः दर्द करने लग जाता है। सिरदर्द हुआ, सेरोडिन, एनासिन आदि गोलियां लीं। सिर का दर्द मिट गया-सा लगता है। रोज-रोज इन गोलियों का प्रयोग होता है। जैसे ही इनका नशा दूर होता है, वह रोग फिर प्रकट हो जाता है। इन शामक औषधियों ने, खंड चिकित्सा-प्रणाली ने कभी रोग का समाधान नहीं दिया। उसे मिटाया नहीं।

अखण्ड चिकित्सा-प्रणाली समूचे शरीर का निदान करती है, पूरे शरीर का इलाज करती है और शरीर के मूल केन्द्रों को स्वस्थ बनाती है। हृदय की गति, लीवर की गति, गुर्दे की क्रिया आदि-आदि जब ठीक होते हैं तब जहां अवरोध है, दर्द है, वह अपने आप ठीक हो जाता है। सारे अवरोध समाप्त हो जाते हैं।

मानसिक चिकित्सा-प्रणाली या आध्यात्मिक चिकित्सा-प्रणाली भी अखंड चिकित्सा-प्रणाली है। इस अखंड प्रणाली में ही विधि और निषेध साथ-साथ चलेंगे। यहां दोनों को अलग नहीं किया जा सकता। नियंत्रण का काम नियंत्रण करेगा, निषेध का काम निषेध करेगा और विधि का काम विधि करेगी। भावों की शुद्धि जहां होती है, वहां भाव शुद्ध होंगे, जहां विचार और नियंत्रण की सीमा है, वहां उनकी शुद्धि होगी।

व्यक्तित्व का रूपान्तरण कैसे घटित होता है, इसे हम समझें। यह हम स्पष्ट कर चुके हैं कि व्यक्तित्व का रूपान्तरण स्थूल-शरीर

की सीमा में नहीं हो सकता। वह हो सकता है—लेश्या की चेतना के स्तर पर। अब पुनः प्रश्न होता है कि हम उस लेश्या की चेतना के स्तर पर कैसे पहुंचें? किस माध्यम से पहुंचें जिससे कि हमारा व्यक्तित्व रूपान्तरित हो?

हमें यह यात्रा स्थूल-शरीर से ही प्रारंभ करनी होगी। हमें रंग का सहारा लेना होगा। रंग हमारे व्यक्तित्व को बहुत प्रभावित करते हैं। वे व्यक्तित्व पर जितना प्रभाव डालते हैं, उतना प्रभाव और कोई नहीं डालता। रंग स्थूल व्यक्तित्व को भी प्रभावित करते हैं और सूक्ष्म व्यक्तित्व को भी प्रभावित करते हैं। वे तैजस्-शरीर और लेश्या-तंत्र को भी प्रभावित करते हैं। रंगों का अखंड साम्राज्य है। वे अध्यवसाय ठेठ कर्म-शरीर तक काम करते हैं। आगे-पीछे चारों ओर रंग ही रंग हैं। यदि हम रंगों की क्रियाओं और उनके मनोवैज्ञानिक प्रभावों को समझ लेते हैं तो व्यक्तित्व के रूपान्तरण में हमें बहुत बड़ा सहयोग मिल सकता है। जो व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को उदात्त करना चाहता है, अच्छा बनाना चाहता है तो वह सबसे पहले कुछ नियंत्रण करेगा। वह अपने मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण करेगा। उनको वश में रखेगा। क्योंकि समाज में रहने वाला कोई भी व्यक्ति जिसका इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं होता, मन पर नियंत्रण नहीं होता, वह समाज में प्रतिष्ठित नहीं होता। इसलिए वह सबसे पहले मन और इन्द्रियों पर एक सीमा तक नियंत्रण करता है। समाज में जो व्यक्ति ऊंचे आसन पर हैं, उनके लिए नियंत्रण करना और अधिक जरूरी हो जाता है। इसीलिए राजनीति के आचार्यों ने कहा—'जो बड़ा नेता होना चाहे वह सबसे पहले अपने पर नियंत्रण करे। अपनी इन्द्रियों पर काबू रखे। वे इन्द्रियों पर इतना नियंत्रण तो अवश्य ही रखें जिससे समाज में उनकी उच्छृंखलता प्रदर्शित न हो। लोग व्यवहार को देखते हैं। अध्यात्म सामने नहीं आता। व्यवहार सामने आता है। व्यवहार में भद्दा रूप प्रदर्शित न हो, यह अपेक्षित है। व्यक्ति में भद्दापन हो या न हो, समाज उसकी चिन्ता नहीं करता। वह इस बात की चिन्ता करता है कि व्यक्ति का भद्दापन प्रदर्शित न हो। नेता अपनी जबान पर इतना नियंत्रण तो अवश्य ही रखे कि वह ऐसी बात कभी न कहे जिससे

सारा संगठन विघटित हो जाए। कभी-कभी नेता की एक बात पर सारा शासन-तंत्र ही टूट जाता है। नेता अपने मन पर भी इतना नियंत्रण तो अवश्य ही रखे कि जो अपने मन में आया और वह कर ले—ऐसा कभी न हो। कुछ सोच-समझकर करे।

मन पर, इन्द्रियों पर, वाणी पर और व्यवहार पर एक सीमित नियंत्रण की अपेक्षा सबको रहती है। किन्तु यदि कृष्ण लेश्या है, काले रंग के परमाणु निरंतर खींचे जा रहे हैं तो व्यक्ति के भाव बुरे बन जाते हैं। वह हजार बार ऐसा निश्चय कर ले, राजनीति का पाठ पढ़े, उपदेश सुने, फिर भी जब प्रसंग आएगा तो वह ऐसी बात कह देगा, जिस पर उसका कोई नियंत्रण नहीं है। ये काले रंग के परमाणु उसे संचालित कर रहे हैं। काले रंग के परमाणुओं से बनने वाले भाव उसे संचालित कर रहे हैं। वे भाव विचारों पर उतरते हैं। विचार व्यवहार पर उतरते हैं और व्यक्ति चाहे या न चाहे, वह अभद्र बात कह दी जाती है। व्यक्ति के मन में फिर चिन्तन आता है कि ऐसा नहीं कहना चाहिए था।

जब तक ये काले रंग के परमाणु, नीले और कापोतवर्ण के परमाणु आकर्षित होते रहते हैं और वे लेश्या-तंत्र और भाव-तंत्र को प्रभावित करते हैं, तब व्यक्ति का विचार हो या न हो, वह वैसा व्यवहार करना चाहे या न चाहे, किन्तु वह व्यवहार घटित हो जाएगा। इस बिन्दु पर आकर पुरुषार्थ की सीमा को भी समझना होता है। यह एक ऐसा बिन्दु है जहां पुरुषार्थ की सीमा का मूल्य समझ में आ सकता है।

हमारा कर्तृत्व स्वतंत्र है। आत्मा का कर्तृत्व स्वतंत्र है। हम पुरुषार्थ करते हैं, किन्तु पुरुषार्थ की सीमा है चित्त तक, स्थूल शरीर तक, स्नायविक जगत् तक। जहां भाव का जगत् है वहां पुरुषार्थ की सीमा बदल जाती है। यदि हमारे वैसे परमाणुओं का संग्रह हो रहा है, या हम वैसा संग्रह करते जा रहे हैं तो यह हमारा स्थूल पुरुषार्थ—चित्त, मन और शरीर-तंत्र का पुरुषार्थ—वहां काम नहीं दे सकता। स्थूल-जगत् में कभी-कभी ऐसा लगता है, कि पुरुषार्थ तो चला, फिर भी वह सफल नहीं हुआ। वह सारी व्याख्या स्थूल-जगत् से लेना चाहता है। वह स्नायविक जगत् से,

स्थूल-शरीर की सीमा तक काम करने वाली चेतना से समाधान लेना चाहता है। वहां उसका समाधान प्राप्त नहीं हो सकता। यदि हमारे पुरुषार्थ के विपरीत, पुरुषार्थ करते हुए भी परिणाम विपरीत आता है तो हमें फिर लेश्या के जगत् में, भाव के जगत् में जाकर समाधान खोजना होगा। कहीं ऐसा तो नहीं हो रहा है कि एक ओर तो हमारा पुरुषार्थ चल रहा है और उधर मन के द्वारा बुरे विचारों के परमाणुओं को, काले, नीले और कापोत वर्ण के परमाणुओं को खींचे जा रहे हैं तो पुरुषार्थ पर ऐसा आघात होगा, उन परमाणुओं से वह पुरुषार्थ टकराएगा और वह सफल नहीं होगा। हर बात को सापेक्षता से समझना होता है। महावीर ने कहा—'पुरुष! तू ही तेरा मित्र है, तू ही तेरा शत्रु है।' यह भी सापेक्ष बात है। किस सीमा में आत्मा मित्र होता है, और किस सीमा में आत्मा शत्रु होता है? पुरुषार्थ की मित्र और शत्रु बनाने की क्या मर्यादाएं हैं? यदि हम स्थूल-जगत् के साथ सूक्ष्म-जगत् को नहीं समझते हैं, विचार, व्यवहार और चित्त की चेतना के साथ लेश्या और अध्यवसाय की चेतना को नहीं जोड़ते हैं तो पूरा समाधान प्राप्त नहीं होता। इसलिए व्यक्तित्व के रूपान्तरण के लिए हमें सूक्ष्म-जगत् पर ध्यान देना होता है।

दो शब्द हैं—अजितेन्द्रिय और जितेन्द्रिय। सामाजिक-प्रतिष्ठा प्राप्त करने वाला व्यक्ति एक सीमा तक जितेन्द्रिय होना चाहता है। साधना करने वाला व्यक्ति व्यापक सीमा तक जितेन्द्रिय होना चाहता है। किन्तु समस्या दोनों के सामने है कि क्या नियंत्रण से ही जितेन्द्रिय हो सकते हैं? बहुत कठिन बात है। जितेन्द्रिय होने के लिए इस नियंत्रण कक्ष से परे जाकर रंगों की समस्या पर भी हमें ध्यान देना होगा। यदि हम चमकते हुए पीले रंग के परमाणुओं को आकर्षित करते हैं तो जितेन्द्रिय होने की स्थिति निर्मित हो जाती है। हम जितेन्द्रिय हो सकते हैं। पद्म-लेश्या का अभ्यास करने वाला व्यक्ति जितेन्द्रिय हो जाता है। कृष्ण और नील लेश्या में रहने वाला व्यक्ति अजितेन्द्रिय होता है। कृष्ण-लेश्या का सूत्र है—अजिइंदिओ—अजितेन्द्रिय। पद्म लेश्या का सूत्र है—जिइदिओ—जितेन्द्रिय। ये दोनों प्रकार के परमाणु एक-दूसरे से विरोधी हैं। जब तक काले रंग के परमाणुओं का प्रभाव बना रहता है, तब तक हम जितेन्द्रिय नहीं

हो सकते। जब पीले रंग के परमाणुओं से हमारा लेश्या-तंत्र और आभामंडल सक्रिय होता है, तब हमें जितेन्द्रिय होने की सुविधा मिल जाती है।

सूक्ष्म और स्थूल—इन दोनों जगत् के प्रभावों को समझकर हम अपने व्यक्तित्व के रूपान्तण के लिए प्रयत्न करें। वह पुरुषार्थ कभी विफल नहीं होगा।

६. जो व्यक्तित्व का रूपान्तरण करता है (२)

१. • भावना या सम्मोहन—जप, मंत्र चित्र-निर्माण।
२. • रंगों का ध्यान
३. • विचय ध्यान
४. • शरीर प्रेक्षा
५. • चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा
६. • चैतन्य-केन्द्र और वृत्ति-जागरण
   * स्वाधिष्ठान—क्रूरता, गर्व, मूर्च्छा, अवज्ञा, अविश्वास।
   * मणिपूर—सुषुप्ति, घृणा, ईर्ष्या, पैशुन्य, लज्जा, भय, मोह, कषाय, विषाद, तृष्णा।
   * अनाहत—लौल्य, तोड़फोड़, कपट, वितर्क, आशा, चिन्ता, ममता, दंभ, वैकल्य, अविवेक, अहंकार, समीहा।

आत्म-नियंत्रण से परे आत्म-शोधन की चर्चा होती है। आत्म-शोधन हुए बिना आत्म-नियंत्रण का कार्य पूरा नहीं होता। आत्म-नियंत्रण की अपनी सीमा है। आदत को बदलने के लिए, स्वभाव को बदलने के लिए, व्यक्तित्व के पूरे रूप को बदलने के लिए आत्म-शोधन आवश्यक है। यह कोरा दिशान्तरण नहीं है, मार्गान्तरीकरण नहीं है किन्तु सम्पूर्ण रूपान्तरीकरण है। मनोविज्ञान का मार्गान्तरीकरण एक मौलिक वृत्ति के मार्ग को बदलने की प्रक्रिया है, उसको दूसरी दिशा में ले जाने की पद्धति है। व्यक्ति में काम की मनोवृत्ति है। जब वह वृत्ति उदात्त बनती है, तब कला, सौन्दर्य आदि अनेक विशिष्ट अभिव्यक्तियों में बदल जाती है। आत्म-शोधन में दिशान्तरण नहीं होता, किन्तु स्वभाव मूलतः बदल

जाता है। उसका सर्वथा विलय हो जाता है और वह वृत्ति बदल जाती है। उसके तीव्र विपाकों, तीव्र अनुभवों को इतना मंद कर दिया जाता है कि वह आदत या स्वभाव कोई बाधा उपस्थित न कर सके।

प्रश्न है कि आत्म-शोधन की प्रक्रिया क्या है और उसके सूत्र कौन-कौन-से हैं? अध्यात्म के साधकों ने, आत्म-द्रष्टाओं ने इस दिशा में बहुत ही महत्त्वपूर्ण खोजें कीं और सौभाग्य है कि उनकी खोजें आज भी हमारे समक्ष सुरक्षित हैं।

मनुष्य की जितनी आदतें बनती हैं, उनका मूल उद्‌गम-स्थल है—ग्रन्थि-तंत्र। हमारे शरीर के दो मुख्य भाग हैं—एक है नाड़ी-तंत्र और दूसरा है—ग्रन्थि-तंत्र। नाड़ी-तंत्र में हमारी वृत्तियां अभिव्यक्त होती हैं, अनुभव में आती हैं और फिर व्यवहार में उतरती हैं। व्यवहार, अनुभव या अभिव्यक्तीकरण—यह सब नाड़ी-तंत्र का काम है। किन्तु आदतों का जन्म, आदतों की उत्पत्ति ग्रन्थि-तंत्र में होती है। जो हमारी अन्तःस्रावी ग्रन्थियां हैं, उनमें आदतें जन्म लेती हैं। वे ही आदतें मस्तिष्क के पास पहुंचती हैं, अभिव्यक्त होती हैं और व्यवहार में उतरती हैं। इसीलिए विज्ञान के क्षेत्र में एक नए शब्द का प्रचलन हुआ है—'न्यूरो एण्डोक्रीन सिस्टम'। इसका अर्थ है—ग्रन्थि-तंत्र और नाड़ी-तंत्र का संयुक्त कार्य।

हमारी वृत्तियां, भाव या आदतें—इन सबको उत्पन्न करने वाला सशक्त तंत्र है—लेश्या-तंत्र। जब तक लेश्या-तंत्र शुद्ध नहीं होता, तब तक आदतों में परिवर्तन नहीं हो सकता। लेश्या-तंत्र को शुद्ध करना आवश्यक है। उसको शुद्ध करने की प्रक्रिया को समझने से पहले यह समझना जरूरी है कि अशुद्धि कहां जन्म लेती है और कहां प्रकट होती है। यदि हम उस तंत्र को ठीक समझ लेते हैं तो उसे शुद्ध करने की बात को समझने में बड़ी सुविधा हो जाती है।

बुरी आदतों को उत्पन्न करने वाली तीन लेश्याएं हैं—कृष्ण-लेश्या, नील-लेश्या और कापोत-लेश्या। क्रूरता, हत्या की भावना, कपट, असत्य बोलने की भावना, प्रवंचना, धोखाधड़ी विषय की लोलुपता, प्रमाद, आलस्य—आदि जितने दोष हैं; यह सब इन तीन लेश्याओं से उत्पन्न होते हैं। हमारे इस स्थूल शरीर में इन लेश्याओं के संवादी स्थान हैं,

जिनमें ये वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। अधिवृक्कग्रन्थियां (एड्रीनल ग्लैण्ड्स) और जनन-ग्रन्थियां (गोनाड्स)—ये जो ग्रन्थियां हैं—इन लेश्याओं के प्रतिनिधि या संवादी स्थान हैं। उन तीन लेश्याओं के भाव यहां जन्म लेते हैं।

हम योग-शास्त्र की दृष्टि, लेश्या के सिद्धान्त की दृष्टि और वर्तमान के शरीर-शास्त्र की दृष्टि—इन तीनों दृष्टियों से इस पर विचार करें और इसकी तुलना करें।

वर्तमान विज्ञान की दृष्टि के अनुसार कामवासना का स्थान है--जनन-ग्रन्थियां (गोनाड्स) वहां कामवासना उत्पन्न होती है। वहां भय, आवेग, बुरे भाव जन्म लेते हैं। इन दोनों ग्रन्थियों 'एड्रीनल और गोनाड्स' को योग-शास्त्र की भाषा में स्वाधिष्ठान-चक्र और मणिपूर-चक्र कहा जाता है। आश्चर्य न करें। सत्य को हम किसी छोर से पकड़ें, एक ही सत्य उपलब्ध होगा। यदि हम सत्य की दिशा में चलते हैं तो किसी भी कोण से चलें—चाहे शरीर को खोजते-खोजते चलें, चाहे योग की खोज में चलें और चाहे अध्यात्म के दर्शन की खोज में चलें, किसी भी खोज में चलें जहां सत्य का बिन्दु है, वहां तक पहुंच जायेंगे। सबका एक-सा अनुभव होगा।

योग का एक ग्रन्थ है—आत्म-विवेक। उसमें बताया है कि क्रूरता, वैर, मूर्च्छा अवज्ञा और अविश्वास—ये सब स्वाधिष्ठान-चक्र में उत्पन्न होते हैं। तृष्णा, ईर्ष्या लज्जा, घृणा, भय, मोह, कषाय और विषाद—ये सब मणिपूर-चक्र में जन्म लेते हैं।

तीसरा है—अनाहत-चक्र। यह हृदय के स्थान का चक्र है। इस चक्र में लोलुपता, तोड़फोड़ की भावना, आशा, चिन्ता, ममता, दंभ, अविवेक, अहंकार--सारे जन्म लेते हैं।

ये तीन चक्र हैं—स्वाधिष्ठान-चक्र, मणिपूर-चक्र और अनाहत-चक्र--जहां हमारी सारी वृत्तियां जन्म लेती हैं।

अब हम लेश्या की दृष्टि से विचार करें। अविरति, क्षुद्रता, निर्दयता, नृशंसता अजितेन्द्रियता--ये कृष्ण-लेश्या के परिणमन हैं। ईर्ष्या, कदाग्रह, अज्ञान, माया, निर्लज्जता, विषय-वासना, क्लेश, रस-लोलुपता--ये नील-लेश्या

के परिणमन हैं। वक्रता—वक्र-आचरण, अपने दोषों को ढांकने की मनोवृत्ति, परिग्रह का भाव, मिथ्या दृष्टिकोण, दूसरे के कर्म को भेदने की वृत्ति, अप्रिय कथन—ये कापोत-लेश्या के परिणमन हैं।

शरीर-शास्त्रीय दृष्टि, योग-शास्त्रीय दृष्टि और लेश्या-दृष्टि—इन तीनों को हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें। लेश्या के सिद्धान्त में जो तीन लेश्याएं हैं, योग-शास्त्र की दृष्टि में जो तीन चक्र हैं और शरीर-शास्त्रीय दृष्टि में जो एड्रीनल और गोनाड्स ग्रन्थियां हैं—इन सबका वर्णन समान-सा है। लेश्या का सिद्धान्त मानता है कि सारी आदतें तीन लेश्याओं में जन्म लेती हैं। योग-शास्त्र मानता है कि सारी आदतें तीन चक्रों में जन्म लेती हैं और शरीर-शास्त्र के अनुसार ये सारी आदतें दो ग्रन्थियों में जन्म लेती हैं। अद्‌भुत समानता है—तीन प्रतिपादनों में, यह सत्य स्पष्ट हो गया कि सारी बुरी वृत्तियां पेडू के पास वाले स्थान से लेकर नाभि के स्थान तक या हृदय के स्थान तक जन्म लेती हैं। इतना ही स्थान है इनका। इस सत्य को समझ लेने पर बदलने की बात को समझने में बहुत सरलता हो जाती है।

शरीर के तीन भाग हैं—एक भाग है नाभि के ऊपर का जो ऊर्ध्वलोक कहलाता है। दूसरा भाग है—नाभि का जो तिर्यग् लोक या मध्यलोक कहलाता है। तीसरा भाग है—नाभि के नीचे का जो अधोलोक कहलाता है। आदतें या बुरी वृत्तियां अधोलोक में या मध्यलोक में जन्म लेती हैं। ऊर्ध्वलोक का भी कुछ हिस्सा आ जाता है। जब हमारा मन, हमारे विचार नाभि से नीचे के भाग में शक्ति-केन्द्र तक दौड़ते रहते हैं, तथा बुरी वृत्तियां उभरती हैं, विकसित होती हैं। उनका चक्र चलता रहता है। बाद में आदत बन जाती है। उसका अनुबंध हो जाता है। हमें सबसे पहले यह करना होगा कि हमारा मन नाभि-केन्द्र पर न जाए। उसे हृदय से ऊपर के भाग में यात्रा करने दें। उसी भाग में लगाए रखें। हमारा मन यदि ऊपरी भाग की यात्रा में लगा रहेगा तो आदतों में स्वतः परिवर्तन होना शुरू हो जाएगा। मन की यात्रा जितनी नीची होगी उतनी आदतें बिगड़ती जाएंगी। आदतों का बनना-बिगड़ना मन के रमण और विरमण पर आधृत है। मन शरीर के नीचे के भाग में रमण

न करे, विरमण करे। मन शरीर के ऊपरी भाग में रमण करे, विरमण न करे।

भगवान महावीर ने कहा—'जे आसवा ते परिसवा। जे परिसवा ते आसवा।' जो आने के मार्ग हैं, वे ही जाने के मार्ग हैं और जो जाने के मार्ग हैं, वे ही आने के मार्ग हैं। आने और जाने के मार्ग दो नहीं होते। जो भीतर जाते हैं, वे बाहर आते हैं और जो बाहर आते हैं, वे भीतर जाते हैं। जिनका आस्रव होता है, उनका परिस्रव होता है। यह चक्र बराबर चलता रहता है।

तेरापंथ धर्मसंघ के चौथे आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने राजस्थानी भाषा में एक पद्य में इस तथ्य को बहुत ही सुन्दर अभिव्यक्ति दी है। वह पद्य है—

'जिण कर्म ना उदयथकी, हणे कोई पर प्राण।
तिण करम ने कहिए सही, प्राणातिपात पापठाण ॥'

—जिस कर्म के उदय से हिंसा कर्म के परमाणु विपाक में आए, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के द्वारा वे बाहर आए, मस्तिष्क तक पहुंचे और व्यक्ति में हिंसा करने की भावना जगा गए, व्यक्ति में वह भावना प्रबल बनी और वह व्यवहार में हिंसा करने उतर गया। जब वह व्यवहार में हिंसा करने उतरा तो फिर कर्म का बंध हुआ, फिर वे काले परमाणु आए और भीतर चले गए। पूरा वर्तुल बन गया। इधर से प्रकट होकर उधर काम में आते हैं और फिर से उनका आक्रमण होता चला जाता है। इस वर्तुल से बाहर निकलना कठिन होता है।

हिंसा आदि वृत्तियों से आकृष्ट होने वाले परमाणु रंगीन होते हैं। गणधर गौतम ने भगवान से पूछा—'भंते! प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह आदि वृत्तियों के कितने रंग, कितने रस, कितने गंध और कितने स्पर्श होते हैं?' भगवान ने कहा—'प्राणातिपात आदि में दो वर्ण, दो गंध, पांच रस और चार स्पर्श होते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ—इन सब में भी ये होते हैं। ये सारी आदतें पौद्गलिक हैं। इनमें वर्ण होता है, गंध होता है, रस होता है और स्पर्श होता है। ये रंगीन परमाणु

हमारी ग्रन्थियों में आते हैं और नई आदतों के लिए नई सामग्री दे जाते हैं।'

इस वर्तुल से निकलने का रास्ता क्या है—यह एक प्रश्न है। प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा इस वर्तुल से बाहर निकला जा सकता है। यही एक मात्र साधन है जो इस वर्तुल को तोड़ सकता है। फिर प्रश्न होता है कि प्रेक्षाध्यान के द्वारा क्या होगा? प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा हम मन की गति को बदल देते हैं। मन रमण करता है। रमण का अर्थ है--प्रियता या अप्रियता में जाना। या तो मन की प्रियता का भाव लेकर हमारे शरीर में एक लहर बनकर दौड़ता है या अप्रियता का भाव लेकर हमारे शरीर में एक लहर बनकर दौड़ता है। प्रियता का भाव राग है और अप्रियता का भाव द्वेष है। जब मन राग की या द्वेष की लहर के साथ दौड़ता है, तब नाना प्रकार की तरंगें उत्पन्न करता है। यह उसका रमण है। जब हम मन को प्रेक्षा करने में लगा देते हैं तब वह विरमण में बदल जाता है। वह सीधा चैतन्य के पास पहुंच जाता है।

गौतम ने महावीर से पूछा--'भन्ते! प्राणातिपात का विरमण, मृषावाद का विरमण, अदत्तादान का विरमण, मैथुन का विरमण, क्रोध, मान, माया और लोभ का विरमण इनमें कितने वर्ण, कितने रस, कितने गंध और कितने स्पर्श होते हैं?'

भगवान महावीर ने कहा—'इनमें कोई वर्ण नहीं होता, कोई रस नहीं होता, कोई गंध नहीं होता और कोई स्पर्श नहीं होता। क्योंकि ये सब चैतन्य की रश्मियां हैं।' रमण है—पुद्गल और विरमण है--चैतन्य। रमण है रंगयुक्त और विरमण है रंगमुक्त। जब हम प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग करते हैं, राग और द्वेष—दोनों से छूटकर केवल जानने की दृष्टि से शरीर को देखते हैं, तब हम केवल जानते हैं, देखते हैं। प्रेक्षा-ध्यान में हम केवल जानें, देखें, कोई संवेदन न करें। प्रिय-अप्रिय की कोई प्रतिक्रिया न करें। केवल जानें, देखें। समताभाव, तटस्थभाव और द्रष्टा भाव को बनाए रखें। जब मन की यह स्थिति बनती है और रागद्वेष से शून्य मन से हम शरीर की प्रेक्षा करते हैं, तब हमारा समूचा शरीर करण बन जाता है—पारदर्शी, शुद्ध और पवित्र बन जाता है। हम ग्रन्थि-तंत्र को बदलने के लिए चैतन्य केन्द्रों की परीक्षा करते हैं। समूचे शरीर

को करण करने के लिए पूरे शरीर की प्रेक्षा करते हैं।

स्थानांग सूत्र का एक मार्मिक प्रसंग है। जिस व्यक्ति को अतीन्द्रिय ज्ञान—अवधिज्ञान उपलब्ध होता है, तो वह अवधिज्ञानी व्यक्ति किस माध्यम से देखता है? देखने का माध्यम है—शरीर। शरीर से ही प्रकाश की किरणें निकलेंगी। अवधिज्ञान की ज्योति प्रकट होगी तो इसी शरीर से होगी। यह शरीर एक ढक्कन है। हम जब तक केवल स्नायविक संस्थान के भीतर यात्रा करते हैं और स्नायु-संस्थान के माध्यम से ही जानते-देखते हैं, जब तक शरीर करण नहीं बनता। किन्तु जब हम प्रेक्षा का प्रयोग करते हैं—अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय का प्रयोग करते हैं, तब यह समूचा शरीर करण बन जाता है। जब पूरा शरीर करण बन जाता है, तब अवधिज्ञानी पूरे शरीर से देखता है। यदि पूरा शरीर करण नहीं बनता, केवल दायां कंधा करण बनता है, तब अवधिज्ञानी दायें कंधे से देखेगा। यदि बायां कंधा करण बनता है, तो अवधिज्ञानी बायें कंधे से देखेगा। यदि आगे के चैतन्य-केन्द्र करण बन गए तो अवधिज्ञानी आगे से देखेगा। यदि पीछे सुषुम्ना में कोई चैतन्य-केन्द्र करण बन गया तो अवधिज्ञानी पीछे से देखेगा। यदि सहस्र केन्द्र जागृत हो गया, करण बन गया तो अवधिज्ञानी सिर से देखेगा। यह देशावधिज्ञान है। जिसे देशावधिज्ञान प्राप्त होता है, वह व्यक्ति शरीर के किसी एक हिस्से से जानता-देखता है। जिसे सर्वावधिज्ञान प्राप्त होता है, वह पूरे शरीर से जानता-देखता है।

हमारे शरीर की प्रत्येक कोशिका में करण बनने की क्षमता है। वह पारदर्शी निर्मल और तैजस् बन सकती है और सारे आवरणों को दूर कर सकती है। आवश्यकता है करण बनने की।

करण के दो अर्थ हैं। एक अर्थ है शरीर का संस्थान और दूसरा अर्थ है चित्त की धारा, परिणाम। हमारे इस भौतिक शरीर का सबसे बड़ा शासक है—चित्त। समूचे शरीर में चित्त का शासन है। मन उसी का अनुचर है, उसके पीछे चलने वाला कर्मचारी है। मूल शासक है—चित्त। चित्त अपौद्गलिक है, मन पौद्गलिक है। चित्त अवर्ण है, मन सवर्ण है। इस स्थूल शरीर-तंत्र में लेश्या के बाद सबसे पहला स्थान है चित्त का।

यह सारे तंत्र को संचालित करता है। मन, शरीर और वचन—तीनों इसके द्वारा संचालित हैं। जब प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा चित्त निर्मल बनता है, करण बन जाता है, तब हमारी ग्रन्थियां भी निर्मल बनने लग जाती हैं।

योग-शास्त्र में कमल और चक्र—ये दो शब्द मिलते हैं। हमारे शरीर में ये कमल हैं—नाभि कमल, हृदय कमल आदि। ये चक्र हैं—मणिपूर-चक्र, अनाहत-चक्र आदि। जैन आचार्यों ने इन पर विशद प्रकाश डाला है। उन्होंने बताया कि शरीर का जो अवयव करण बनता है, शरीर में जो शुद्धि होती है, उसमें केवल कमल और चक्र—दो ही आकार नहीं बनते। स्वस्तिक, नंद्यावर्त, कलश आदि अनेक आकार बनते हैं। जब तक व्यक्ति जागृत नहीं होता, सम्यग्-दृष्टि नहीं होता, तब तक उसके सारे चैतन्य-केन्द्र भद्दे आकार के होते हैं, गिरगिट के आकार के होते हैं। जब वे चैतन्य-केन्द्र जागृत हो जाते हैं, व्यक्ति सम्यग्-दृष्टि हो जाता है, आंतरिक शुद्धि होती है तब ये सारे आकार बदल जाते हैं, पवित्र और सुन्दर आकार वाले हो जाते हैं।

नाभि के ऊपर के स्थान जब बदल जाते हैं, तब नाभि-केन्द्र का शोधन अपने आप होने लग जाता है। आदत को बदलने का सबसे बड़ा सूत्र है—ग्रन्थि-तंत्र का परिवर्तन, मन की यात्रा का परिवर्तन। मन की यात्रा नाभि, पेडू और नीचे तक न हो किन्तु हृदय, गला, नासाग्र, भृकुटि और सिर की ओर हो। मन की दिशा नीचे की ओर न हो, बुद्धि की दिशा नीचे की ओर न हो, किन्तु ऊर्ध्वगामी हो। ऊर्ध्वरमण का नाम ही है—विरमण और नीचे की ओर यात्रा का नाम है—रमण। उर्ध्वरमण से हमारी ग्रन्थियां शुद्ध होने लगती हैं, आदतों में अपने आप परिवर्तन होने लग जाता है। उनमें स्वभावतः रूपान्तरण शुरू हो जाता है, तब आदतों को पोषण देने वाला कोई नहीं रहता। कृष्ण-लेश्या, नील-लेश्या कापोत-लेश्या—ये तीनों लेश्याएं बदल जाती हैं। कृष्ण-लेश्या शुद्ध होते-होते नील-लेश्या बन जाती है। नील-लेश्या विशुद्ध होते-होते कापोत-लेश्या बन जाती है। कापोत-लेश्या जब शुद्ध होती है तब तेजो-लेश्या बन जाती है। हामरी समूची यात्रा तेजो-लेश्या से प्रारंभ होती है। रंग का मनोविज्ञान बताता है कि अध्यात्म की यात्रा लाल रंग से

शुरू होती है। बालसूर्य जैसे लाल रंग से अध्यात्म की यात्रा प्रारंभ होती है। हमारी अध्यात्म यात्रा तेजो-लेश्या से शुरू होती है। तेजो-लेश्या का रंग है—बालसूर्य जैसा। यह यात्रा जब होती है तब सारी धाराएं बदल जाती हैं। कृष्ण-लेश्या में आवृत्ति ज्यादा, तरंगें छोटी। नील-लेश्या में तरंग की लंबाई बढ़ जाती है, आवृत्ति कम हो जाती है। कापोत-लेश्या में तरंग की लम्बाई और बढ़ जाती है तथा आवृत्ति कम हो जाती है। तेजो-लेश्या में आते ही परिवर्तन शुरू हो जाता है। पद्म-लेश्या में और बदलता है। शुक्ल-लेश्या में पहुंचते ही आवृत्ति कम हो जाती है, केवल तरंग की लम्बाई मात्र रह जाती है। एक ही तरंग बन जाती है। इस लेश्या में व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण हो जाता है।

व्यक्तित्व के रूपान्तरण की प्रक्रिया है—लेश्या का शोधन, लेश्या के शोधन की प्रक्रिया है—ग्रन्थि-तंत्र का शोधन और ग्रन्थि-तंत्र के शोधन की प्रक्रिया है—प्रेक्षा-ध्यान। यदि हम प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा समूचे शरीर को देखते हैं तो पूरा शरीर करण बन जाता है। वह एक दर्पण बन जाता है। निर्मल दर्पण। उसकी मलिनता समाप्त हो जाती है। उसका आवरण समाप्त हो जाता है। ज्ञान का आवरण और दर्शन का आवरण समाप्त हो जाता है। शक्ति का प्रतिरोध समाप्त हो जाता है। मोह या मूर्च्छा का वलय टूट जाता है। देखने की शक्ति तीव्र हो जाती है। जिस व्यक्ति की विद्युत् तीव्र हो गई, तैजस् तीव्र हो गई, उस व्यक्ति के देखने मात्र से शरीर वज्र-सा बन जाता है।

गान्धारी की घटना है। गान्धारी ने दुर्योधन को देखा। उसके देखने मात्र से दुर्योधन का शरीर वज्रमय बन गया। वह अभेद्य बन गया। उसे भेद पाना कठिन हो गया।

कौरव-पांडव का युद्ध हुआ। दुर्योधन अजेय था। उसको मार पाना सरल नहीं था, क्योंकि उसका समूचा शरीर वज्रमय था। सबके सामने कठिन समस्या थी। भीम और अर्जुन जैसे वीर भी उसे मार डालने में असमर्थ थे। वज्र पर कोई प्रहार टिकता नहीं। आखिर रहस्यदाता वहां थे। उन्होंने रहस्योद्घाटन किया कि यदि दुर्योधन को मारना है तो उसके कटिभाग पर प्रहार करो, क्योंकि वह भाग वज्रमय नहीं बन सका है।

जब गान्धारी ने दुर्योधन की तरफ देखा, तब दुर्योधन कटिवस्त्र पहने हुए था। शरीर का जितना भाग निर्वस्त्र था, वह गान्धारी की तैजस्-शक्ति से वज्रमय बन गया और कटिभाग, जो सवस्त्र था, वह ज्यों का त्यों रह गया। पांडवों को रहस्य का पता लगा। दुर्योधन की कटि पर प्रहार हुआ और वह तत्काल धराशायी हो गया।

तैजस्-शरीर के विकास के साथ निकलने वाली रश्मियों के कारण, दर्शनशक्ति के कारण शरीर का कण-कण वज्रमय बन जाता है। जब निर्मल मन, निर्मल चेतना और तैजस् शरीर की विकसित शक्ति के साथ शरीर के कण-कण को देखा जाता है, तब शरीर का आवरण टूटता है और शरीर के सोये हुए चैतन्य-केन्द्र जाग जाते हैं। उनकी मूर्च्छा टूट जाती है और शक्ति का वलय बन जाता है।

स्वभाव को बदलने के लिए, व्यक्तित्व को रूपान्तरित करने के लिए दो साधन हैं—ज्ञान और दर्शन, केवल जानना और केवल देखना। इनसे बड़ा कोई साधन नहीं। साधन वही होता है, जो उपादान होता है। मिट्टी के घड़े का साधन मिट्टी ही हो सकती है। यदि मिट्टी न हो तो मिट्टी का घड़ा नहीं बन सकता, चाहे कितना ही कुशल कुम्हार हो, चाक हो, और भी सारे उपकरण हों। उपादान चाहिए। उपादान के बिना कार्य निष्पन्न नहीं होता।

मूल उपादान है—जानना और देखना। आत्मा का मूल स्वभाव है—जानना और देखना। जब हम जाग जाते हैं, केवल देखने और जानने की शक्ति का उपायेग करने लग जाते हैं और जब हमारा चित्त या मन केवल देखने और जानने की शक्ति का सहारा लेकर ग्रन्थि-तंत्र को जानता है, देखता है तब ग्रन्थि-तंत्र शुद्ध होने लगता है। वह निवारण, मूर्च्छाशून्य और प्रतिरोध की शक्ति से शून्य होने लगता है। जब ग्रन्थि-तंत्र शुद्ध होता है, तब अपने आप लेश्या-तंत्र शुद्ध होने लगता है। क्योंकि लेश्या-तंत्र के पास जो कुछ जाता है, वह ग्रन्थि-तंत्र के माध्यम से ही जाता है।

चक्र नाम की भी सार्थकता है। चक्र इसलिए कि वह घूमता रहता है। अरहट्ट की माला है। वह नीचे कुएं में जाती है। पानी भरकर लाती

है। बाहर आकर खाली होती है और फिर नीचे जाकर भरती है। यह चक्र चलता ही रहता है।

भीतर से जो परिस्राव आता है, उस स्राव को ग्रन्थियां बाहर लाती हैं और शरीर की ग्रन्थियां अपने माध्यम से बाहर की वस्तु को अन्दर ले जाती हैं। जब ग्रन्थियां शुद्ध होने लगती हैं, तब लेश्याएं शुद्ध होने लगती हैं। जब लेश्या शुद्ध होने लगती है, तब अध्यवसाय शुद्ध होने लगता है। जब अध्यवसाय शुद्ध होते हैं तब कषाय के तीव्र विपाक नहीं आ सकते। वे मन्द हो जाते हैं। उनका परिणाम मंद हो जाता है। मन्द विपाक कोई भी बुरी आदत का निर्माण नहीं कर सकता।

यह है शोधन की प्रक्रिया। अध्यात्म के आचार्यों ने इस आत्म-शोधन की प्रक्रिया को इतने सुन्दर ढंग से प्ररूपित किया है कि उसे ठीक समझकर यदि हम उसका प्रयोग करें तो व्यक्तित्व के रूपान्तरण में कोई कठिनाई नहीं होगी।

७. वृत्तियों के रूपान्तरण की प्रक्रिया

- भावना के प्रयोग की पद्धति—
  - ✻ कायोत्सर्ग (आटो रिलेक्शेसन)
  - ✻ अनुप्रेक्षा (सेल्फ एनेलिसिस, आटो एनेलिसिस)
  - ✻ भय क्या है? क्या मैं परिष्कार कर सकता हूं?
  - ✻ मैं क्या होना चाहता हूं?
  - ✻ परिणाम-भय से शक्ति क्षीण होती है।
  - ✻ अपाय विचय
  - ✻ विपाक विचय
  - ✻ दर्शनकेन्द्र पर ध्यान
  - ✻ विवेक
  - ✻ आत्मसूचन-भावना (आटो सजेशन)
  - ✻ व्युत्सर्ग-विसर्जन (आटो थेरेपी)
  - ✻ प्रतिपक्ष-भावना का चित्त-निर्माण

मनुष्य धर्म की शरण आना चाहता है। धर्म में शरण देने की क्षमता है। 'धम्मो दीवो पइट्ठाणं।'

धर्म एक दीप है, प्रकाशपुंज है, एक प्रतिष्ठा है, आधार है, एक गति है। शरण देने वाले और भी अनेक हो सकते हैं, पर यह उत्तम शरण है, जो हमें त्राण देता है। आदमी अधर्म से बचना चाहता है और धर्म की शरण में आना चाहता है। इसका प्रयोजन है—रूपान्तरण, बदलना। अधर्म के जीवन में जो उपलब्ध नहीं होता, उसे उपलब्ध करने के लिए और जो उपलब्ध होता है, उसे छोड़ने के लिए वह धर्म की शरण में

आता है। बुरी आदतें, बुरे विचार, भय, घृणा, ईर्ष्या, चिंता, व्यग्रता और मानसिक तनाव–ये सारे अधर्म के जीवन में उपलब्ध होते हैं आदमी इन्हें छोड़ना चाहता है। मन की शांति, तनावमुक्ति, प्रेम, मित्रता सबके साथ सौजन्यपूर्ण व्यवहार, उदारता और सौहार्द–इन सबको उपलब्ध करना चाहता है। इसलिए वह धर्म की शरण में आता है।

धर्म की शरण मिले और आदमी बदले नहीं, यहां एक प्रश्न-चिह्न हमारे समक्ष आता है। धर्म की शरण मिले और कुछ भी न बदले तो मानना चाहिए कि कहीं कोई त्रुटि अवश्य है। या तो धर्म उपलब्ध नहीं हुआ या व्यक्ति धर्म को उपलब्ध नहीं हुआ। कहीं न कहीं कोई त्रुटि अवश्य है। इस प्रश्न पर हम विचार करें। यही वह प्रश्न है जहां व्यक्ति बदल सकता है। जिसके जीवन में धर्म सिद्ध हो जाता है, उसमें धर्म के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं, उसमें तेजो-लेश्या, पद्म-लेश्या और शुक्ल-लेश्या के लक्षण प्रकट होने लग जाते हैं। धर्म की यात्रा शुरू होती है और लेश्याओं के भाव, विचार और व्यवहार हमारे जीवन में मूर्त बनने लग जाते हैं–

'औदार्यं दाक्षिण्यं पापजुगुप्सा च निर्मलो बोधः।
लिंगानि धर्मसिद्धे प्रायेण जनप्रियत्वं च ॥'

जिसके जीवन में धर्म सिद्ध होता है, उसमें ये लक्षण प्रकट होते हैं–

तर्क शास्त्र का एक नियम है कि लिंग के द्वारा लिंगी को जाना जाता है। साधन के द्वारा साध्य को जाना जाता है। धुएं को देखकर व्यक्ति अग्नि का अनुमान करता है। वैसे ही उपर्युक्त लक्षणों को देखकर जान लिया जाता है कि अमुक आदमी में धर्म सिद्ध हो चुका है। जिस व्यक्ति में उदारता है, दाक्षिण्य है–हर बात को अनुकूलता से स्वीकार करता है, पापजुगुप्सा है–बुरी आदतों के प्रति घृणा है, दूसरों की बुरी आदतों के प्रति ही घृणा नहीं, अपनी बुरी आदतों के प्रति भी घृणा है। उसका ज्ञान इतना निर्मल होता है कि हर बात सत्यपूर्ण ही निकलती है, उसके मुंह से कभी झूठी बात नहीं निकलती। वह जो सोचता है, जो भाव करता है ज्ञान की प्रत्येक रश्मि, प्रत्येक धारा निर्मलता के साथ प्रवाहित होती है–ये लक्षण बताते हैं कि व्यक्ति में धर्म सिद्ध हो गया

है। पांचवां लक्षण है कि धार्मिक व्यक्ति जनप्रिय होता है। यह हो ही, ऐसा जरूरी नहीं है। चार लक्षण होने जरूरी हैं।

लेश्या के परिवर्तन के द्वारा ही जीवन में धर्म सिद्ध हो सकता है। जब कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन लेश्याएं बदल जाती हैं, और तेजो, पद्म और शुक्ल—ये तीन लेश्याएं अवतरित होती हैं, तब परिवर्तन घटित होता है। लेश्याओं के बदले बिना जीवन नहीं बदल सकता। लेश्याएं कोरी जानने की नहीं हैं। यह कोरा तत्त्वज्ञान नहीं है। ये बदलने के सूत्र हैं। ये रटने के सूत्र नहीं, अभ्यास के सूत्र हैं।

मार्क्स ने ठीक ही कहा था—दर्शन कोरा ज्ञान देता है, जीवन को परिवर्तित नहीं करता, रूपान्तरित नहीं करता। आज धर्म का रूप भी लगभग ऐसा ही हो गया है कि व्यक्ति जीवनभर धर्म का आचरण करता है और मौत के समय उसका लेखा-जोखा किया जाए तो परिणाम शून्य आता है। जीवन में कोई परिवर्तन घटित नहीं हुआ। ऐसी स्थिति में जो विचार बनते हैं, वे अस्वाभाविक नहीं लगते कि धर्म केवल प्रियता की अनुभूति देता है, कोरा ज्ञान देता है, व्यक्ति को बदलता नहीं है। किन्तु यह सचाई धर्म के आवरण की सचाई है, धर्म की सचाई नहीं है। ये केवल धर्म की चमड़ी की सचाई है, धर्म की आत्मा की सचाई नहीं है। धर्म की सचाई यह है कि जो धार्मिक होगा वह निश्चित ही बदलेगा। यह हो नहीं सकता कि धार्मिक हो, धर्म का आचरण करता हो और पहले से न बदला हो। धार्मिक होने का अर्थ ही है कि परिवर्तन की यात्रा पर चल पड़ना, रूपान्तरण की ओर प्रस्थान कर देना। यहां से तेजो-लेश्या की यात्रा शुरू हो जाती है, अध्यात्म की यात्रा शुरू हो जाती है। जब तेजो-लेश्या की यात्रा प्रारम्भ होती है तब अध्यात्म के स्पंदन जाग जाते हैं। जब अध्यात्म के स्पंदन जागते हैं, तब परिवर्तन अपने आप शुरू हो जाता है। इस प्रकार के सुखद स्पंदन जागते हैं कि जिन स्पंदनों का जीवन में पहले कभी अनुभव नहीं किया था। बहुत बड़ी भ्रान्ति टूट जाती है। व्यक्ति ने मान रखा था कि सुख पदार्थ से ही उपलब्ध होता है। किन्तु तेजो-लेश्या के स्पंदन जैसे ही जागते हैं, जैसे ही दर्शन-केन्द्र पर ध्यान होता है और वे चमकीले स्पंदन जागते

हैं और तब जो सुख का अनुभव होता है वह अपूर्व होता है। व्यक्ति की भ्रान्ति टूट जाती है। वह सोचता है—मैंने मान रखा था कि सुख तो पदार्थ से ही मिलता है, किन्तु आज यह स्पष्ट अनुभव हो रहा है कि जैसा सुख दर्शन-केन्द्र के जागने पर अनुभूत होता है वैसा सुख जीवन में किसी भी पदार्थ से नहीं मिला। सारी धारणाएं बदल जाती हैं, सारी यात्रा बदल जाती है और स्वभाव का परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। मैं सोचता हूं कि धर्म के आचरण से यदि आदमी का स्वभाव न बदलता हो, बुरी आदतें न बदलती हों तो धर्म का आचरण व्यर्थ है। ऐसे धर्म का आचरण क्यों किया जाए? क्या प्रयोजन है उसका? हमारे सामने कोई प्रयोजन तो होना चाहिए। अधर्म को छोड़ें, बहुत सारी बातों का नियंत्रण करें और उपलब्ध कुछ भी न हो तो दोनों ओर से गए, न इधर के रहे, न उधर के रहे—'नो हव्वाए नो पाराए।'

व्यक्तित्व को रूपान्तरित करने की सबसे बड़ी प्रक्रिया है—प्रेक्षा-ध्यान। प्रेक्षा-ध्यान के द्वारा हमारा पूरा व्यक्तित्व बदल जाता है। अनजाने बदलता है। हम केवल एक लक्ष्य का निर्धारण करते हैं, एक ध्येय की प्रतिमा को निर्मित करते हैं कि मन को निर्मल करना है, मन की मलिनता से होने वाली बुरी आदतों को छोड़ना है, इस प्रतिमा का निर्माण कर हम प्रेक्षा-ध्यान में बैठते हैं, शरीर की प्रेक्षा करते हैं, दीर्घश्वास की प्रेक्षा करते हैं, चैतन्य-केन्द्रों की प्रेक्षा करते हैं, धीरे-धीरे रूपान्तरण घटित होने लगता है। हमें पता ही नहीं लगता, अपने आप बदलना शुरू हो जाता है। पता लगना ज्ञान की बात है। ज्ञान हो तो पता लग सकता है। ज्ञान न हो तो पता नहीं लग सकता। पता लगे या न लगे, बदलना प्रारम्भ हो जाता है। ज्ञान होना एक बात है और बदलना दूसरी बात है।

प्रेक्षा-ध्यान की साधना करने वाले व्यक्तियों में कल्पनातीत रूपान्तरण हुआ है। हमें भी ज्ञात नहीं हुआ कि रूपान्तरण क्यों हुआ और व्यक्तियों को भी ज्ञात नहीं हुआ कि रूपान्तरण क्यों हुआ।

रूस के वैज्ञानिकों ने ऐसे सूक्ष्म यंत्र बनाए कि जिनसे हमारे जैविक सक्रिय बिन्दुओं का पता लगाया जा सकता है। वहां सुइयां चुभाई जाती हैं और इच्छित परिणाम उपलब्ध किए जाते हैं। आदमी को बुरी आदतों

से कैसे मुक्त किया जाए—यह चिंता आज सारी दुनिया के लोग कर रहे हैं। प्राचीन समय में बुरी आदतों से छुटकारा दिलाने की चिन्ता केवल धार्मिक लोग ही करते थे, पर आज ज्ञान बहुत बढ़ गया। आज यह चिंता सब क्षेत्रों के लोग करते हैं। राजनीतिक भी करते हैं, वैज्ञानिक भी करते हैं, डॉक्टर भी करते हैं, धार्मिक भी करते हैं, सब लोग करते हैं। रूस के वैज्ञानिकों के सामने एक प्रश्न आया कि आदमी को तम्बाकू की आदत से कैसे मुक्त किया जाए? उन्होंने सत्तर आदमी चुने। उनके कानों पर एक्यूपंक्चर का प्रयोग किया। कान के तीन भाग हैं—एक है भीतर का भाग, एक है मध्य का भाग, एक है बाहर का भाग। वैज्ञानिकों ने आदमी के कान के मध्य भाग में, जहां जैविक सक्रिय बिन्दु थे, वहां सुइयां चुभोईं। पांच दिन तक यह प्रयोग चला। इसका परिणाम यह आया कि सत्तर व्यक्तियों में से पचास व्यक्तियों ने तम्बाकू पीना सर्वथा छोड़ दिया। शेष बीस व्यक्तियों ने पीना कम कर दिया। इसका निष्कर्ष यह निकाला गया कि बहिष्कर्ण के जैविक बिन्दुओं पर यदि सुई चुभोई जाए तो व्यक्ति के मन में तम्ब कू के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है।

प्रेक्षा-ध्यान स्वभाव-परिवर्तन की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। केवल यही एक प्रक्रिया नहीं है, और भी प्रक्रियाएं हैं। प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति में तीन तत्त्व मुख्य हैं—प्रेक्षा, भावना और अनुप्रेक्षा। ये तीन मुख्य तत्त्व हैं। हम केवल प्रेक्षा का ही प्रयोग नहीं कर रहे हैं, केवल दर्शन-शक्ति का ही प्रयोग नहीं कर रहे हैं, हम साथ ही साथ भावना का भी प्रयोग कर रहे हैं और अनुप्रेक्षा का भी प्रयोग कर रहे हैं। भावना का प्रयोग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है परिवर्तन के लिए। बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन है। आज के बहुत सारे मनोवैज्ञानिक आत्म-सम्मोहन या पर-सम्मोहन के द्वारा अनेक प्रकार की जटिलतम आदतों को बदलने में सफल हुए हैं। इस दिशा में बहुत विशाल साहित्य निर्मित हुआ है। भावना का प्रयोग आत्म-सम्मोहन या आत्म-संशन का प्रयोग है।

महावीर ने कहा—जो साधक भावनायोग से शुद्धात्मा बन जाता है, वह जल में नौका की तरह हो जाता है—भावणायोगसुद्धप्पा, जले

न भावना के आधार पर व्यक्ति संसार समुद्र को तर जाता है। भावना के योग से बुरी आदतों से मुक्त हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है।

भारतीय साहित्य में आत्म-संशन का बहुत बड़ा महत्त्व रहा है। इसके प्रयोग होते रहे हैं। वैदिक साहित्य में इसका एक प्रसंग इस प्रकार है—

मेरे मुंह में वाक् सदा स्फूर्त रहे। मेरी नसों में प्राण सदा प्रवाहित रहे। मेरी आंखों में देखने की शक्ति रहे। मेरे कानों में सुनने की शक्ति बनी रहे। इस प्रकार के आत्म-संशन के द्वारा प्राचीन ऋषि अपनी शक्तियों का विकास करते थे और अपनी शक्तियों को बनाए रखते थे, जीवित रखते थे। वे सौ वर्ष तक जीने में सफल हो जाते थे।

आदमी की अकालमृत्यु का एक कारण है—हीन-भावना। जब आदमी हीन-भावना से ग्रस्त होता है, तब वह अपनी सारी शक्तियों को खो बैठता है। आत्म-संशन बहुत सक्रिय तत्त्व है। अपनी शक्तियों को सूचित करना, जाग्रत करना और जीवित रखना—यह आत्म-संशन का एक प्रकार है। अपनी शक्तियों के प्रति मूर्च्छित हो जाना, उदासीन हो जाना, हीन-भावना से ग्रस्त हो जाना—यह भी आत्म-संशन का एक प्रकार है। दोनों का अपना-अपना प्रभाव होता है।

फ्रान्स देश के एक प्रोफेसर वालदी ने आत्म-संशन के कुछ प्रयोग किए। एक व्यक्ति से कहा—'तुम्हारे हाथ में एक चम्मच दे रहा हूं। वह बहुत गर्म है। उसे कैसे छूओगे? छूओगे तो हाथ जल जायेंगे। यह चम्मच लो।' उस व्यक्ति ने चम्मच हाथ में लिया और वह जल गया। हाथ में फफोले हो गए। चम्मच में कुछ नहीं था। वह कोरा चम्मच था, ठंडा था। किन्तु उस चम्मच से हाथ जल उठा। फफोले हो गए। यह कैसे हुआ? यह सारा आत्म-संशन आत्म-सूचन या आत्म-सम्मोहन के द्वारा घटित हुआ। व्यक्ति का एक स्तर है—चेतना का, लेश्या का या भावना का। जब उस स्तर तक कोई बात चली जाती है, तैजस्-शरीर—शारीरिक विद्युत् तक कोई बात चली जाती है, वहां वह घटित होने लगता है, जो चाहा जाता है। पदार्थ ही प्रभावित नहीं करता, किन्तु पदार्थ के साथ जाने वाली चेतना भी प्रभावित करती है। चेतना के स्तर पर हम जिस बात को पकड़ लेते हैं, हमारे जीवन में वही घटित

होने लग जाता है। सचमुच घटित हो जाता है।'

डॉक्टरों ने एक प्रयोग किया। एक स्वस्थ आदमी था। एक डॉक्टर आया। उसकी नब्ज देखकर कहा—'अरे! तुम्हें तो ज्वर हो गया है।' वह घर के बाहर निकला। दूसरा डॉक्टर रास्ते में मिला। उसने कहा 'यह क्या, लगता है, तुम्हें ज्वर हो गया है।' आगे चला। एक तीसरा डॉक्टर मिला। उसने कहा—'अरे भाई! तुम्हें ज्वर कब से हो गया है?' वह व्यक्ति घबरा गया। वह घर गया। अपने घरेलू डॉक्टर को बुलाया। डॉक्टर आया। उसने कहा—'बुखार हो गया है।' बुखार बढ़ता ही गया। वह १०४ डिग्री तक पहुंच गया। व्यक्ति घबरा गया। यह तो आत्म-संशन का प्रयोग था। प्रयोग का चक्का घूमा। नया डॉक्टर आया, उसने सारी परीक्षा कर कहा—'अरे! किसने कहा तुम्हें ज्वर है? तुम तो स्वस्थ हो। तुम्हारी नाड़ी स्वस्थ है। बुखार नहीं है। जिसने बुखार बतलाया वह डॉक्टर पागल था। तुम चिंता मत करो। कोई ज्वर नहीं है। तुम ज्वर की बात को मन से निकाल दो।' कुछ घंटों बाद परीक्षण किया गया। बुखार नहीं था।

बुखार आ जाता है, बुखार चला जाता है, बिना बीमारी के। बिना घटना के क्रोध आ जाता है, क्रोध चला जाता है। स्थानांग सूत्र में क्रोध की उत्पत्ति के कई कारण बताए गए हैं। उनमें एक है—पर-हेतुक क्रोध और एक है—आत्म-हेतुक क्रोध। एक है—दूसरे के निमित्त से आने वाला क्रोध और एक है—अपने आप आने वाला क्रोध। मन में इस प्रकार का भाव निर्मित हुआ कि क्रोध फूट पड़ा, क्रोध उभर आया। कोई बाह्य कारण नहीं है। यह अपने ही निमित्त से आने वाला क्रोध है। इसी प्रकार अपने ही निमित्त से, बिना किसी बाहरी निमित्त के अभिमान भी आता है, कपट और भय भी आता है। घृणा भी आती है। अपने आप होने वाले भय से हम बहुत परिचित हैं। आप बैठा है। विचारों का प्रवाह चलता है। ऐसे विचार अचानक उभरते हैं कि व्यक्ति भयंकर रूप से डरने लग जाता है। वह शारीरिक दृष्टि से प्रताड़ित जैसा हो जाता है। हमारे भीतरी जगत् में घटित होने वाली घटनाएं बड़ी विचित्र हैं। हम केवल बाहरी निमित्तों में ही नहीं होते। बाहर के जर्म्स आते

हैं, हम बीमार पड़ जाते हैं। ऐसा ही नहीं है। बिना बाहरी जर्म्स के भी हम बीमार हो जाते हैं। हमारे भीतर भी बीमारी के अनेक निमित्त हैं। होमियोपैथिक के प्रवर्तक डॉ. हनीमेन ने कहा था—'बीमारी की जड़ में कीटाणु नहीं, किन्तु बीमारी की जड़ हमारे बहुत गहरे में है।' यथार्थ में बीमारी की जड़ें लेश्याओं में हैं। जब तक लेश्या शुद्ध रहेगी, आदमी कभी बीमार नहीं होगा। जब-जब लेश्या विकृत होती है, आदमी बीमार होना शुरू हो जाता है। इस शरीर में तो उस बीमारी की अभिव्यक्ति मात्र होती है। बाहरी कीटाणु मिलते हैं, तो वे भी बीमारी के निमित्त बन जाते हैं। बाहरी कीटाणु न मिलें, तो भी बीमारी व्यक्त हो जाती है।

साधना में भावना का बहुत महत्त्व है। बुरी आदतों की जड़ों को उखाड़ डालने का यह एक सशक्त माध्यम है। इसके द्वारा पुरानी आदतें मिटती हैं और नई आदतों का निर्माण होता है। भावना दोनों काम करती है—ध्वंस भी करती है और निर्माण भी करती है। बुरी आदतों के बदलने और नई आदतों के निर्माण का बिन्दु है—लेश्या-तंत्र, भाव-तंत्र। वहां रूपान्तरण घटित होता है। क्योंकि लेश्या के पास तैजस् की शक्ति है, विद्युत् की शक्ति है। विद्युत् की शक्ति के बिना इतना बड़ा परिवर्तन नहीं हो सकता। आज का सारा वैज्ञानिक-चमत्कार विद्युत् पर आधृत है। यदि आज के युग में विद्युत् समाप्त हो जाए तो सारा विज्ञान ही धराशायी हो जाएगा। विज्ञान का अपना कोई स्वतंत्र जीवन नहीं है। तैजस्-शरीर में जो क्षमता है, जो विद्युत् है, उसके द्वारा ही जीवन-तंत्र का सारा परिवर्तन घटित होता है। लेश्या के पास विद्युत् की यह बहुत बड़ी शक्ति है। तैजस् शरीर और लेश्या की चेतना—ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। दोनों सहकारी हैं। दोनों साथ मिलकर काम करते हैं। इसलिए परिवर्तन घटित करने के लिए लेश्या पर ध्यान देना होता है। उसमें सम्मोहन का भी बहुत बड़ा हाथ है। इसका कारण स्पष्ट है कि हम जिस चेतना के स्तर पर प्रभावित होते हैं, वह चेतना है लेश्या। यहीं हम प्रभावित होते हैं—दूसरों के द्वारा, बाहरी स्रावों से और भीतरी स्रावों से। यह प्रभावित होने का जो विद्युत् चुम्बकीय-क्षेत्र हमारे शरीर में है, वह है लेश्या। सम्मोहन का प्रभाव यहीं होता है। इसीलिए भावना का

महत्त्व है। भावना, सम्मोहन, मंत्र—ये सारे एक ही कोटि में आ जाते हैं। जप क्या है? एक ही बात को बार-बार दोहराना। बार-बार दोहराते-दोहराते वह बात भीतर तक पहुंच जाती है। और मंत्र क्या है? यही तो है मंत्र। हम मंत्र का जप करते हैं, मंत्र की आराधना करते हैं और मंत्र के द्वारा हमारी प्राणधारा, ऊर्जा भीतर की तैजस् ऊर्जा तक पहुंच जाती है। जब तक वहां नहीं पहुंचती, मंत्र का जागरण नहीं होता। मंत्र का जागरण बिना, मंत्र का चैतन्य हुए बिना, मंत्र कोई काम नहीं कर सकता। वही मंत्र फल देता है जो जागृत है, चेतनावान् है। मंत्र-जागरण का अर्थ है—भीतर की तैजस् शक्ति से बाहर की प्राण ऊर्जा को जोड़ देना, उसका एक संबंध स्थापित कर देना।

भावना, आत्म-संशन, जप और मंत्र—ये सारे परिवर्तन के साधन हैं। अब हमें समझना होगा कि भावना का प्रयोग कैसे करें? भावना के प्रयोग की विधि को समझे बिना हम परिवर्तन घटित नहीं कर सकते। हमने यह सिद्धान्तरूप से स्वीकार कर लिया कि भावना द्वारा व्यक्तित्व का परिवर्तन हो सकता है, होता है, किन्तु प्रश्न है कि वह कैसे होता है? भावना का प्रयोग हम कैसे करें? अपने मन की बात, अपनी स्थूल चेतना की बात को भीतर तक कैसे पहुंचाएं? इस प्रक्रिया को जान लेना आवश्यक है।

इस प्रक्रिया का पहला सूत्र है—कायोत्सर्ग। भावना का प्रयोग करना है तो पहले कायोत्सर्ग करना होगा। कायोत्सर्ग यदि नहीं है—शरीर की प्रवृत्तियों का शिथिलीकरण नहीं है, स्नायविक प्रवृत्तियों का शिथिलीकरण नहीं है तो बात आगे नहीं पहुंच सकती, क्योंकि आगे अवरोध है। स्नायु अवरोध पैदा कर रहे हैं। आगे जाने के लिए रास्ता साफ नहीं है। पहले रास्ते से सारे अवरोध मिटाने होंगे। कायोत्सर्ग इसका साधन है। इसके द्वारा हम समीकरण करते हैं।

जैन योग परंपरा में सर्वाधिक बल कायोत्सर्ग पर दिया है। कायोत्सर्ग हमारे जीवन का अभिन्न अंग है। मुनि स्थान से बाहर जाए। एक किलोमीटर या अधिक जाए, आए तो सबसे पहले उसे कायोत्सर्ग करना होता है। फिर वह दूसरे काम में लग जाता है। भिक्षा के लिए, शौच

के लिए या अन्य किसी प्रयोजन से बाहर जाए तो आते ही सबसे पहले कायोत्सर्ग करे। कायोत्सर्ग करना अनिवार्य है। स्वाध्याय करे तो स्वाध्याय से पूर्व कायोत्सर्ग करे। ध्यान करे तो ध्यान से पूर्व कायोत्सर्ग करे। सोये तो सोने से पहले कायोत्सर्ग करे। उठे तो उठते ही कायोत्सर्ग करे। प्रतिलेखन करे, अहिंसा की दृष्टि से वस्त्रों का निरीक्षण करे तो निरीक्षण करने से पूर्व कायोत्सर्ग करे और निरीक्षण के बाद कायोत्सर्ग करे। नींद में कोई दुःस्वप्न आ जाए तो तत्काल उठकर कायोत्सर्ग करे। किसी कारणवश या प्रमादवश कोई हिंसा हो जाए, कभी झूठ बोल दिया जाए, कभी अस्वाभाविक या बुरा आचरण हो जाए तो प्रायश्चित्त के लिए कायोत्सर्ग करे। नदी को पार करे तो कायोत्सर्ग करे। प्रतिक्रमण के प्रारम्भ में कायोत्सर्ग करे और प्रतिक्रमण के अन्त में कायोत्सर्ग करे। आठ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, पच्चीस, पचास, सौ, पांच सौ और हजार श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग ही कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग के बिना मुनि का कोई जीवन ही नहीं होता। यह व्यवस्था इसलिए की गई कि यदि हमें किसी बात को भीतर तक पहुंचाना है, तो जब तक कायोत्सर्ग नहीं होगा, शरीर का शिथिलीकरण नहीं होगा, स्नायविक अनुरोध नहीं मिटेंगे, बात भीतर तक नहीं पहुंच पायेगी। कायोत्सर्ग अत्यन्त आवश्यक है। शरीर की प्रवृत्तियों का विसर्जन करें, शिथिलीकरण करें, मांसपेशियों का, हाथों का, पैरों का शिथिलीकरण करें। अध्यात्म की यात्रा कब शुरू हो सकती है? समाधि कब उपलब्ध हो सकती है? इसकी शर्त क्या है? इसकी शर्त है—कोई प्रवृत्ति न करें। हाथ का संयम करें। प्रश्न होगा कि हाथ का संयम करना कौन-सी बड़ी बात है? हाथ बहुत महत्त्वपूर्ण अवयव है हमारे शरीर का। एक्यूपंक्चर पद्धति के विकास ने यह सिद्ध कर दिया है कि हमारे मस्तिष्क में जो चैतन्य-केन्द्र, जैविक सक्रिय-बिन्दु हैं वे सारे के सारे केन्द्र हाथ में हैं। हाथ में क्या नहीं है। जो शरीर में है वह सारा हाथ में है। फिर कहा—पैरों का संयम करो। यह और अजीब बात है। क्योंकि हाथ तो फिर भी एक उत्तम अवयव है। पैर शरीर का निम्नतम भाग है। पैर बहुत महत्त्वपूर्ण अवयव है। पैर के अंगूठे और अंगुली में चैतन्य केन्द्र हैं, ग्लैण्ड्स हैं। पैर के अंगूठे में

पिच्यूटरी ग्लैंड है। पैर के अंगूठे में आंख हैं, कान हैं। प्राचीनकाल में यह बताया जाता था कि जब आंख की ज्योति कम हो जाए तो पैर की अंगुलियों पर तेल की मालिश की जाए। यह कहां का सम्बन्ध है? ज्योति कम हुई आंख की और तेल मालिश करना होता है पैर की अंगुलियों पर। आज यह बात विचित्र-सी नहीं लगती। जब हमें यह पता लग गया कि पैर की अंगुलियों में आंख हैं, कान हैं, तब ये बातें अनहोनी-सी नहीं लगतीं। आंख और कान का इलाज पैर की अंगुलियों से किया जा सकता है और पिच्यूटरी या पिनियल ग्लैण्ड का समाधान पैर के अंगूठे से किया जा सकता है।

प्राचीन काल में जैन परंपरा में महाप्राण ध्यान की पद्धति प्रचलित थी। यह ध्यान की महत्त्वपूर्ण पद्धति थी। आचार्य भद्रबाहु ने बारह वर्ष तक महाप्राण ध्यान की साधना की थी। जो महाप्राण-ध्यान में जाता है, वह संसार से पूर्णरूप से विलग हो जाता है। कोई संपर्क नहीं रहता। सारे बाह्य संपर्क टूट जाते हैं। साधक गहरी समाधि की अवस्था में चला जाता है। यदि परिस्थितिवश साधक को अवधि से पहले सचेत करना होता है तो उसका एकमात्र उपाय है—पैर के अंगूठे को दबाना।

आचार्य पुष्यमित्र महाप्राण-ध्यान की साधना में लगे। एक शिष्य उनकी देखरेख के लिए नियुक्त था। कुछ दिन बीते। किसी को पता नहीं था कि आचार्य विशिष्ट साधना में संलग्न हैं। ऊहापोह होने लगा। कुछ शिष्यों ने सोचा—इसने आचार्य को मार डाला है। ऊहापोह बढ़ा। राजा तक यह बात गई। राजा आया। उत्तर साधक से पूछताछ की। उसने कहा—'आचार्य विशिष्ट साधना में संलग्न हैं। अभी साधना का काल पूरा नहीं हुआ है।' राजा ने कहा—'मैं अभी आचार्य से मिलना चाहता हूं। आवश्यक काम है।' उत्तर साधक अन्दर गया। आचार्य के पैर के अंगूठे को दबाया। आचार्य सचेत हो गए। उन्होंने कहा—'असमय में कैसे उठा दिया?' उत्तर साधक बोला—'ऐसा ही घटना-चक्र घटित हो गया। मैं क्या करूं।'

प्रश्न हो सकता है कि अंगूठे का और ध्यान का क्या संबंध हो सकता है? हमारे में समाधि घटित होती है—दर्शन-केन्द्र और ज्योतिकेन्द्र

में गहराई में जाने पर। अंगूठे में दोनों केन्द्र हैं। यह सुन्दर स्थान है। यह सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का संगम-बिन्दु है। यह इड़ा और पिंगला का संगम-स्थल है। जो व्यक्ति यहां पहुंच जाता है, समाधि घटित हो जाती है। साधक महाप्राण की स्थिति में चला जाता है। इस केन्द्र को हमें जागृत करना है।

हाथ और पैर बहुत की महत्त्व के केन्द्र हैं। पांव को निकम्मा न मानें। जब हम भूमि पर चलते हैं, तब एड़ी विद्युत् ग्रहण कर सारे शरीर को पहुंचाती है। कितना महत्त्वपूर्ण काम है!

जब हाथ का संयम—हाथ का शिथिलीकरण, पैर का संयम—पैर का शिथिलीकरण, वाणी का संयम—वाणी का शिथिलीकरण घटित होता है, तब इन्द्रियों के तनाव कम हो जाते हैं। उनमें उठने वाली आकांक्षाओं की तरंग कम हो जाती है। जब यह सब घटित होता है, तब अध्यात्म-रमण या अध्यात्म की यात्रा शुरू होती है। जब अध्यात्म की यात्रा शुरू होती है, तब आत्मा समाधि में चली जाती है।

निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है कि समाधि में जाने के लिए, अध्यात्म की यात्रा शुरू करने के लिए, आदतों को बदलने के लिए सबसे पहली शर्त है—कायोत्सर्ग। जब तक हम कायोत्सर्ग करना नहीं सीख लेते, तब तक ये सब घटित नहीं हो सकते।

भावना योग की प्रारंभिक चर्चा मैंने की है। विस्तार आगे किया जाएगा।

८. स्वभाव-परिवर्तन का दूसरा चरण

१. • स्वभाव-परिवर्तन के छह सूत्र—
   * कायोत्सर्ग
   * अनुप्रेक्षा
   * विवेक
   * ध्यान
   * शरण
   * भावना।

२. • अध्यात्म से रूपान्तरण। साधक कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं का अतिक्रमण कर तैजस्, पद्म और शुक्ल लेश्याओं में चला जाता है।

३. • लौकिक और लोकोत्तर की भेदरेखा।

४. • रूपान्तरण का अंतिम चरण है—प्रतिपक्ष भावना का निर्माण।

अध्यात्म ने मनुष्य को बदलने की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया दी। उस प्रक्रिया के अनेक चरण हैं। उसका पहला चरण है—कायोत्सर्ग। कायोत्सर्ग है—शरीर का शिथिलीकरण। इससे पुरानी आदतों में परिवर्तन आता है, उसका शोधन होता है।

कायोत्सर्ग का संकल्प सूत्र है—'तस्स उत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहिकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं।'

साधक संकल्प की भाषा में कहता है—'जो आदत या स्वभाव प्रिय नहीं है, उसको उत्तर करने के लिए, उसका उदात्तरूप करने के लिए,

प्रायश्चित्त करने के लिए, विशोधि करने के लिए, मन को निर्मल बनाने के लिए, जो व्यसन या आदत का घाव हो गया है, उस घाव को भरने के लिए, उस शल्य को मिटाने के लिए, उन बुरी आदतों के द्वारा जो मूर्च्छा के परमाणु कर्म के परमाणु चारों ओर शरीर और मन पर व्याप्त हो गए हैं, उन पापकारी परमाणुओं का उन्मूलन करने के लिए, मैं कायोत्सर्ग करता हूं।

कायोत्सर्ग सब दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला है, स्वभावों को बदलने वाला है। जो कायोत्सर्ग की प्रक्रिया को नहीं जानता, वह स्वभाव-परिवर्तन नहीं कर सकता।

सेल्फ हिप्नोटिज्म के विशेषज्ञों ने चार सूत्र प्रस्तुत किए हैं। इस पद्धति का पहला सूत्र है—आटो रिलेक्शेसन। इसका अर्थ है—स्व-शिथिलीकरण। यह कायोत्सर्ग की ही प्रक्रिया है। कायोत्सर्ग किए बिना स्वभाव-परिवर्तन की प्रक्रिया फलित नहीं हो सकती। चाहे स्वभाव को बदलना हो, चाहे किसी बीमारी की चिकित्सा करनी हो तो सबसे पहले कायोत्सर्ग करना होगा। यह पहला सूत्र है।

स्वभाव परिवर्तन का दूसरा सूत्र है—सेल्फ एनेलिसिस—अनुप्रेक्षा। जिसे हम बदलना चाहते हैं, जिस आदत में परिवर्तन लाना चाहते हैं, उसका विश्लेषण करना होता है। उसकी अनुप्रेक्षा करनी होती है। आत्म-निरीक्षण और आत्म-विश्लेषण करना होगा। सेल्फ एनेलिसिस हिप्नोटिज्म का दूसरा सूत्र है। कायोत्सर्ग की पद्धति का दूसरा सूत्र है—अनुप्रेक्षा। दोनों समानान्तर रेखाओ पर चलते हैं। यदि मैं क्रोध को छोड़ना चाहता हूं तो मुझे सबसे पहले अपना आत्म-विश्लेषण करना होगा कि क्रोध क्यों बुरा है? क्यों छोड़ना चाहता हूं? यदि वह बुरा नहीं है तो छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। क्या क्रोध बुरा है—इसका मैं विश्लेषण करूं। इस विश्लेषण पर जाऊंगा, अनुप्रेक्षा करूंगा, गहरे में उतरूंगा, अपाय विचय ध्यान की स्थिति तक पहुंच जाऊंगा। वहां मुझे ज्ञात होगा कि क्रोध एक प्रकार का ज्वर है। वह जब शरीर में उतरता है तब शरीर को तोड़ देता है और शक्तियों को क्षीण कर देता है। क्रोध मस्तिष्क का ज्वर है, हृदय का ज्वर है और एड्रीनल ग्रन्थि का ज्वर है। वह

तीनों शक्तियों को क्षीण करता है। व्यक्ति जब क्रोध करता है तब सबसे पहला प्रहार मस्तिष्क पर होता है। मस्तिष्क ज्वर-पीड़ित हो जाता है। उस समय इतनी उत्तेजना और इतनी अतिरिक्त ऊर्जा खपती है कि बड़ी बेचैनी छा जाती है और सारा अंग-प्रत्यंग प्रतप्त जैसा हो जाता है। क्रोध का दूसरा प्रहार होता है—हृदय पर। क्रोध आते ही हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। उसकी गति तेज हो जाती है और उसे अस्वाभाविक ढंग से काम करना पड़ता है। क्रोध का तीसरा प्रहार होता है—एड्रीनल ग्रन्थि पर। क्रोध के आते ही एड्रीनल ग्रन्थि को अतिरिक्त स्राव करना पड़ता है और उसकी शक्तियां क्षीण होने लगती हैं। इस प्रकार मस्तिष्क की शक्ति क्षीण होती है, हृदय की शक्ति क्षीण होती है और एड्रीनल ग्रन्थि की शक्ति क्षीण होती है। ये तीनों—मस्तिष्क, हृदय और एड्रीनल ग्रन्थि—जीवन के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। क्रोध के कारण इन तीनों की शक्तियां क्षीण होती हैं। जब मस्तिष्क की शक्तियां क्षीण होती हैं, तब सारा नाड़ी-तंत्र गड़बड़ा जाता है। जब हृदय की शक्ति क्षीण होती है तब समूचा रक्त-संचार अस्त-व्यस्त हो जाता है। जब एड्रीनल ग्रन्थि-तंत्र की शक्तियां क्षीण होती हैं तब व्यक्ति की कर्मजा शक्ति नष्ट हो जाती है।

ये हैं—क्रोध के परिणाम। यह उसका विपाक विचय है। अनुप्रेक्षा करते-करते जब मैं इन परिणामों तक पहुंचता हूं तब मुझे लगता है कि क्रोध कम करना चाहिए, उसे छोड़ देना चाहिए।

फिर एक प्रश्न होता है—क्या मैं क्रोध को छोड़ सकता हूं? साधक इस पर विचार करता है। इस प्रश्न पर विचार करते-करते वह इस तथ्य पर पहुंचता है कि मुझमें बहुत बड़ी क्षमता है। मैं क्रोध को छोड़ सकता हूं। इस चिंतन से वह अनुप्रेक्षा के अगले चरण पर पहुंच जाता है। वह विवेक पर पहुंच जाता है।

कायोत्सर्ग का तीसरा सूत्र है—विवेक। साधक सोचता है कि मैं क्रोध को इसलिए छोड़ सकता हूं कि मैं क्रोध नहीं हूं। क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है। यदि क्रोध मेरा स्वभाव होता तो मैं क्रोध को कभी नहीं छोड़ पाता। कोई भी व्यक्ति अपने स्वभाव को नहीं छोड़ सकता। किन्तु क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है, स्वरूप नहीं है, मैं क्रोध नहीं हूं और उससे भिन्न

हूं। मैं ज्ञानमय हूं। मैं दर्शनमय हूं। मैं आनन्दमय हूं। क्रोध मेरे ज्ञान को आवृत करता है। क्रोध मेरे दर्शन को आवृत करता है। क्रोध मेरे आनन्द को आवृत करता है। उसे विकृत करता है। वह मेरी शक्तियों को विनष्ट करता है। इस चिंतन से वह इस विवेक पर पहुंच जाता है—मैं क्रोध नहीं हूं और क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है।

स्वभाव-परिवर्तन के तीन सूत्र हैं—कायोत्सर्ग, अनुप्रेक्षा और विवेक।

जब साधक ने यह मान लिया कि क्रोध मेरा स्वभाव नहीं है, मैं क्रोध नहीं हूं, तब बात बहुत सुलझ जाती है, ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। जब ज्ञान स्पष्ट हो जाता है, तब चरण अपने आप आगे बढ़ने लगते हैं।

भगवान ने कहा—'पढमं नाणं तओ दया।' पहले ज्ञान स्पष्ट होना चाहिए। आत्म-सम्मोहन का एक कथन है—ज्ञान एक शक्ति है। ज्ञान जब स्पष्ट हो जाता है, तब आचरण की सुविधा हो जाती है।

स्वभाव-परिवर्तन का चौथा सूत्र है—ध्यान। दर्शन-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करें। दोनों भृकुटियों के बीच का स्थान है—दर्शन-केन्द्र। यह हमारे अन्तर्-ज्ञान का केन्द्र है। यह अन्तर्दृष्टि और सम्यक्-दृष्टि का केन्द्र है। जितना आन्तरिक ज्ञान प्रकट होता है, वह इसी केन्द्र से प्रकट होता है। जब ध्यान दर्शन-केन्द्र पर स्थापित होता है, तब अपनी बात को भीतर तक पहुंचाने में बड़ी सुविधा हो जाती है। मनोविज्ञान मानता है कि जो बात हमारे स्थूल मन तक पहुंचती है, वह कार्यकर नहीं होती। उससे व्यक्तित्व का परित्तर्वन नहीं हो सकता। जब हम दर्शन-केन्द्र पर ध्यान करते हैं तब हमारा विचार, हमारा संकल्प अन्तर्मन तक पहुंच जाता है। वह संकल्प लेश्या-तंत्र और अध्यवसाय-तंत्र तक पहुंच जाता है। परिवर्तन घटित होने लगता है।

दर्शन-केन्द्र पर ध्यान करना चौथा चरण है।

स्वभाव-परिवर्तन का पांचवां सूत्र है—शरण। हमें शरण में जाना होगा। आत्म-सम्मोहन के वर्तमान सिद्धान्त में शरण की बात नहीं मिलती। वहां आत्म-शिथिलीकरण, आत्म-विश्लेषण और आटो-सजेशन की बात मिलती है, स्वतः सूचना की बात मिलती है। किन्तु शरण की बात नहीं मिलती।

शरण में जाना--बहुत महत्त्व का सूत्र है। प्रश्न है—किसकी शरण में जाना? और किसी दूसरे की शरण में जाने की जरूरत नहीं है, अपनी ही शक्ति की शरण में जाना है या हमें उसकी शरण में जाना है जो अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-आनन्द और अनन्त-शक्ति का धनी है। जिसमें ये चारों अनन्त प्रस्फुटित हो चुके हैं, उसकी शरण में जाना है, जिसमें ये बीज अंकुरित हो चुके हैं, पल्लवित, पुष्पित और फलित हो चुके हैं, उसकी शरण में जाना है। किसी व्यक्ति विशेष की शरण में नहीं जाना है। इस अनन्त चतुष्टयी की शरण में जाना है। जब यह शरण उपलब्ध हो जाती है तब तैजस् शक्ति का विकास होता है। उस समय विद्युत् की इतनी तीव्र तरंगें उपलब्ध होती हैं कि रूपान्तरण का क्रम प्रारंभ हो जाता है।

एक सूफी संत थे—संत खैयाद। बहुत बड़े साधक थे। जा रहे थे घोर जंगल से। शिष्य साथ में था। समय हुआ और वे नमाज पढ़ने बैठे। कंबल बिछाया। उस पर बैठ गए। शिष्य भी बैठ गया। इतने में शेर के दहाड़ने की आवाज आयी। शिष्य डरा। उसने अपना कंबल समेटा और वह तत्काल पेड़ पर चढ़कर बैठ गया। किन्तु संत खैयाद अविचल भाव से वैसे ही बैठे रहे। नमाज पढ़ते रहे। शेर वहां आ पहुंचा। आस-पास में सूंघकर चला गया। नमाज पूरी हुई। शिष्य पेड़ से उतरकर नीचे आया। दोनों आगे बढ़ गए। जा रहे थे। इतने में एक जंगली कुत्ता सामने आ गया। जैसे ही कुत्ता सामने आया, संत खैयाद ने अपना डंडा संभाला और डंडा लेकर प्रतिरोध की मुद्रा में खड़े हो गए। शिष्य देखता रहा। वह पूछ बैठा—'गुरुदेव! यह क्या? जब शेर आया तब तो आप अविचल भाव से बैठे रहे और एक कुत्ता सामने आया तो आप प्रतिरोध की मुद्रा में खड़े हो गए। मैं रहस्य समझ नहीं पाया।' संत खैयाद बोले--'उस समय खुदा मेरे साथ था और अब तुम मेरे साथ हो। उस समय मैं परम आत्मा की शरण में था, खुदा मेरी रक्षा कर रहा था। अब तुम मनुष्य मेरे साथ हो।'

सचमुच जब हम अनन्त की शरण में जाते हैं, अनन्त-चतुष्टयी की शरण में चले जाते हैं, तब अनन्त-चतुष्टयी के स्पंदन से तैजस् शरीर

और चेतना का कण-कण तादात्म्य स्थापित कर लेता है, तादात्म्य का अनुभव करता है, उस समय हमारी तैजस् की धाराएं इतनी फूट पड़ती हैं, फिर किसी का भय नहीं हो सकता।

शरण में जाना—स्वभाव-परिवर्तन का पांचवां सूत्र है। जब हम अनन्त-चतुष्टयी की शरण में जाते हैं, तब हमारे सामने अनन्त-ज्ञान दौड़ता है। अनन्त-दर्शन की धाराएं दौड़ती हैं। अनन्त-आनन्द की धाराएं विकसित होती हैं और अनन्त-शक्ति के अनुभव के बीज फूटने लग जाते हैं। ऐसी स्थिति में रूपान्तरण कैसे नहीं होगा? जो उन क्षणों में विद्यमान होते हैं, उनमें वैसा परिणमन होने लग जाता है। भीतरी परिणमन शुरू हो जाता है। एक बिन्दु ऐसा आता है कि परिणमन होते-होते वह स्थूल रूप ले लेता है, सघन रूप ले लेता है और व्यक्ति सचमुच बदल जाता है।

स्वभाव-परिवर्तन का छठा सूत्र है—भावना। यह है आत्म-सूचना—सेल्फ सजेशन। हम अपने आपको सूचना दें। जब हम गहरे ध्यान की स्थिति में बैठे हों, तब सूचना दें कि मैं क्रोध को छोड़ना चाहता हूं। मैं क्रोध से मुक्त हो रहा हूं। मैं क्रोध को नहीं चाहता। क्रोध के परमाणु मेरे पास नहीं रह सकते। क्रोध मुझे उत्तेजित नहीं कर सकता। क्रोध मेरे मस्तिष्क में और मेरे स्नायु-तंत्र में अपनी तरंग कभी नहीं फैला सकता। पूरे निश्चय और दृढ़ता के साथ ये सूचनाएं दें, सुझाव दें, अपने आपको संबोधित करें, भावित करें। चित्त को इतना भावित कर लें, उस पर इतनी पुट लगा लें कि चित्त बिल्कुल भावित हो जाए।

एक सामान्य वस्तु है, किन्तु उसको भावित करने पर उसकी शक्ति बढ़ जाती है, क्षमता बढ़ जाती है। बिना भावित किए किसी भी वस्तु की क्षमता नहीं बढ़ती। अन्न जब आग पर पकाया जाता है, तब वह आग से भावित हो जाता है। रंगीन बोतलों में पानी सूर्य की रश्मियों में रखा जाता है। वह पानी रंग से भावित हो जाता है। सामान्य पानी की जो शक्ति है और सूर्य की रश्मियों में रंगीन बोतलों द्वारा भावित पानी की जो शक्ति है, उसकी तुलना नहीं हो सकती। उस भावित पानी में चिकित्सा के गुण उपलब्ध हो जाते हैं। इस पानी से असाध्य रोगों की चिकित्सा की जाती है। अनेक रोग मिटते हैं। पानी भावित किया

जाता है, दूध भावित किया जाता है, चीनी और सब्जी भावित की जाती है और न जाने कितनी चीजें भावित की जाती हैं। चुंबक पर पानी की बोतलें रखी जाती हैं और पानी चुंबक से भावित हो जाता है, चुम्बकीय बन जाता है। उस पानी में औषधीय गुण बढ़ जाते हैं। नाना प्रकार की बीमारियों को मिटाने के लिए वह पानी काम आता है। भोजन और पेय पदार्थों को यदि धूप में रखें तो उनका गुण-धर्म बदल जाता है। मंत्र विद्या का प्रयोक्ता जल को भावित करता है। वह मंत्र का जाप करता है और जल को अभिमंत्रित करता जाता है। वह जल शक्तिशाली हो जाता है। उसमें इतनी क्षमता आ जाती है कि वह बड़े-बड़े उपद्रवों को मिटा सकता है। फिर वह केवल पानी नहीं रहता और कुछ बन जाता है।

हम एक भावना को लें और ५.१० मिनट तक मन को भावित करते जाएं। ऐसा प्रयत्न करें कि उस भावना से हमारा पूरा चित्त भावित हो जाए। केवल एक-दो बार दोहराने से कुछ नहीं बनता। उसमें समय लगाना चाहिए। पहले उच्च स्वर में बोल-बोलकर मन को भावित करें, फिर मन्द स्वर में भावित करें और फिर उच्चारण किए बिना मानसिक स्तर पर चित्त को भावित करें। हम तीनों प्रकार से मन को भावित करें और भावना को वहां तक पहुंचा दें जहां उसे पहुंचना है।

जब मन भावित हो जाए, तब हम व्युत्सर्ग करें। मन के भावित हो जाने पर—मैं अपने पुराने स्वभाव का व्युत्सर्ग करता हूं, छोड़ता हूं, मेरा इसके साथ कोई संबंध नहीं है—ऐसा कहें।

जब तक 'मैं' और 'मेरा' यह संबंध बना रहता है, तब तक आदत नहीं बदल सकती, स्वभाव नहीं बदल सकता। हमें व्युत्सर्ग करना होगा—'मैं' और 'मेरे' का। अब मैं इस आदत को छोड़ता हूं, मेरा इसके साथ कोई संबंध नहीं है। यह मेरी नहीं है और मैं इसका नहीं हूं। इतना हो जाने पर फिर वह साधक उद्यत होकर कहता है—'मैं फिर नहीं करूंगा। इसके लिए मैं पूर्णरूप से सावधान और जागृत होता हूं।' यह पूरी प्रक्रिया है स्वभाव-परिवर्तन की, व्यक्तित्व के रूपान्तरण की, आदत को बदलने की।

सामान्य धारणा यह है कि स्वभाव नहीं बदलता, नहीं बदला जा

सकता। किन्तु यह सही नहीं है। यदि कोई व्यक्ति दो-तीन महीने तक इन सूत्रों का प्रयोग करता है तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि आदत को बदलना होगा। वह पूर्ववत् रह नहीं सकती। जो सत्य है उस सत्य को हम कैसे टाल सकते हैं। निश्चय की भाषा में इसीलिए बोल रहा हूं कि इस प्रक्रिया के निष्कर्ष में कोई संदेह नहीं है। जो शाश्वत सत्य है, वहां संदिग्ध भाषा बोलने की जरूरत नहीं। इसीलिए मैं निश्चयपूर्वक कहता हूं कि आदत बदलती है। यह ध्रुव सत्य है। जो प्रयोग करेगा, इस प्रक्रिया से गुजरेगा, वह अपनी आदतों को अवश्य ही बदल देगा। समय का अंतर हो सकता है, संकल्प-शक्ति का अन्तर हो सकता है, निश्चय और आंतरिक शक्तियों के श्रद्धा का अंतर हो सकता है, किन्तु निष्पत्ति का अंतर नहीं हो सकता। दृढ़ निश्चय के साथ प्रक्रिया का अभ्यास करने पर स्वभाव अपने आप बदल जाता है। यदि हम स्वभाव-परिवर्तन की बात न मानें तो मिथ्यादृष्टि कभी सम्यग्-दृष्टि नहीं हो सकता, सम्यग्-दृष्टि कभी व्रती नहीं हो सकता, व्रती कभी महाव्रती नहीं हो सकता, महाव्रती कभी अप्रमत्त नहीं हो सकता और अप्रमत्त कभी वीतराग और केवली नहीं हो सकता। जो धर्म स्वभाव-परिवर्तन की बात को नहीं मानता, वह धर्म अपने अनुयायियों को धोखे में डालता है, उनका विकास नहीं कर सकता। एक योग्य शिक्षक अपने शिष्यों को बदलने में सक्षम होता है, वह शिष्यों को बदल देता है, रूपान्तरित कर देता है। आइंस्टीन स्कूल में पढ़ रहा था। अध्यापक ने गणित का प्रश्न पूछा। उत्तर ठीक नहीं दिया जा सका। अध्यापक ने कहा—'आइंस्टीन! तुम बुद्धू हो और बुद्धू ही बने रहोगे। कभी आगे नहीं बढ़ सकोगे।' समय बदला और एक दिन वह आया कि आइंस्टीन और गणित पर्यायवाची बन गए।

आन्ध्र में एक गुरु अपने पांच सौ शिष्यों को पढ़ा रहा था। उसके मन में भावना जागी। उसने एक प्रयोग शुरू किया और पांच सौ के पांच सौ शिष्य स्मृति, बुद्धि और मेधा में अग्रणी बन गए।

मैं अपनी बात कहूं। एक दिन था कि मैं अपने साथियों में सबसे पिछड़ा हुआ था। आचार्य तुलसी का मार्ग-दर्शन मिला। उनका वरद हस्त

मुझे उपलब्ध हुआ। धीरे-धीरे रूपान्तरण घटित होने लगा—ज्ञान के क्षेत्र में, विद्या और मेधा के क्षेत्र में, स्वभाव और व्यवहार के क्षेत्र में।

रूपान्तरण की प्रक्रिया से प्रत्येक मनुष्य तलहटी से शिखर तक पहुंच सकता है। प्रक्रिया के बिना यह संभव नहीं है। बिना मार्ग पर चले, बिना आरोहण किए, कोई शिखर को नहीं छू सकता। जो जहां है, वहीं रहेगा। जहां पचास वर्ष पहले था, उसी बिन्दु पर वह पचास वर्ष बाद भी रहेगा। कोई अन्तर नहीं आएगा। क्योंकि उसे प्रक्रिया उपलब्ध नहीं है और यदि प्रक्रिया उपलब्ध भी है और वह उसका अभ्यास नहीं कर रहा है, ऐसी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता।

अध्यात्म का समूचा मार्ग रूपान्तरण की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का अभ्यास क्रम है। जो व्यक्ति इस अभ्यास-क्रम को स्वीकार कर लेता है, वह निश्चित ही अपनी लेश्याओं को बदल देता है। वह कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं का अतिक्रमण कर या उन्हें बदलकर वह तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याओं में चला जाता है। वह इन लेश्याओं के स्पंदनों के अनुभवों में चला जाता है। वहां जाने पर स्वभाव में अपने आप परिवर्तन प्रारम्भ हो जाता है। यह है हमारे स्वभाव-परिवर्तन की प्रक्रिया।

मैं फिर इस बात को दोहराना चाहता हूं कि जो धार्मिक अपने स्वभाव को बदलना नहीं चाहता है, वह यथार्थ में धार्मिक नहीं है। जो धर्म-गुरु अपने अनुयायियों के स्वभाव को बदलने का उपक्रम नहीं करता, वह अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक नहीं कहा जा सकता। दोनों ओर से उपक्रम चलना चाहिए। अनुयायी बदलना चाहे और मार्ग-दर्शक उन्हें बदलने की प्रक्रिया बतलाए, अभ्यास-क्रम बतलाए, ऐसा होने पर ही धर्म की तेजस्विता, धर्म की वास्तविकता प्रकट होगी और धर्म का अलौकिक रूप लोकोत्तर स्वरूप हमें प्राप्त होगा। धर्म लौकिक नहीं है, वह लोकोत्तर है। वह लोकोत्तर इसलिए है कि लौकिक पदार्थ से जो नहीं मिलता, वह धर्म से मिलता है। धन लौकिक उपक्रम से प्राप्त होता है। सत्ता लौकिक उपक्रम से मिलती है। दुनिया के सारे उपक्रम लौकिक हैं। इन लौकिक प्रयत्नों से अनेक चीजें मिलती हैं, किन्तु मन की शान्ति, स्वभाव का परिवर्तन, व्यक्तित्व का रूपान्तरण, सहज और अलौकिक आनन्द

प्राप्त नहीं होता। ये सब धर्म से मिलते हैं। अध्यात्म इनकी उपलब्धि का साधन है। इसीलिए धर्म या अध्यात्म लोकोत्तर या लोकोत्तम तत्त्व है। जब हम लोकोत्तम तत्त्व के प्रति चलते हैं, उस दिशा में प्रस्थान करते हैं और यदि हमें वही प्राप्त हो, जो लौकिक प्रयत्नों से प्राप्त होता है, वह कुछ भी न मिले जो लौकिक प्रयत्नों से नहीं मिलता तो फिर लौकिक उपाय और लोकोत्तर के बीच में कोई भेद रेखा नहीं खींची जा सकेगी। लौकिक और लोकोत्तर के बीच में यही भेद रेखा हो सकती है कि जो लौकिक उपायों से नहीं मिलता वह लोकोत्तर उपायों से मिल जाता है। भेदरेखा का आदि बिन्दु यही होगा। आज के इस बौद्धिक, तार्किक और वैज्ञानिक युग में इस प्रश्न पर और अधिक गहराई से चिन्तन करना आवश्यक है। हम धर्म और अध्यात्म के लोकोत्तर स्वरूप का अभ्यास करें और उस अभ्यास के द्वारा ऐसी उपलब्धियां करें जो लौकिक अभ्यास से संभव नहीं हैं।

आज अपराधों की बाढ़-सी आ रही है। लौकिक साधनों के बावजूद आज अपराध बढ़ रहे हैं, कम नहीं हो रहे हैं। हिन्दुस्तान जैसे गरीब देश में यदि अपराध हों तो माना जा सकता है कि यहां धन का अभाव है, गरीबी है, इसलिए लोग अपराध करते हैं। किन्तु दुनिया के सबसे वैभवशाली देश में यदि हिन्दुस्तान से हजार गुना अपराध हों तो इसे क्या माना जाए? यह नहीं कहा जा सकता कि वहां अपराध अभाव या गरीबी के कारण बढ़ रहे हैं। वहां अपराधों का मूल कारण है—अतिभाव। तब हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि लौकिक पदार्थों के विकास से अपराधों को नहीं मिटाया जा सकता, मनुष्य को नहीं बदला जा सकता। इस बिन्दु पर खड़े होकर ही हमें अध्यात्म की दिशा में जाने की या रूपान्तरित करने की आवश्यकता महसूस होती है। तब हमें ज्ञात होता है कि दुनिया में एक ऐसा तत्त्व भी है, जो लौकिक नहीं है, जो पदार्थ से संबद्ध नहीं है, किन्तु अलौकिक और पदार्थातीत है। इस बिन्दु पर पहुंचकर ही हम अपराधों को कम कर सकते हैं, बुरी आदतों को बदल सकते हैं और व्यक्तित्व का रूपान्तरण कर सकते हैं।

स्वभाव-परिवर्तन के बाद एक बात पर और ध्यान देने की जरूरत

है। व्युत्सर्ग घटित हो जाने के पश्चात् प्रतिपक्षी स्वभाव का चित्त-निर्माण आवश्यक होता है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए—मैं क्रोध को छोड़ने के लिए, उसकी पूरी प्रक्रिया से गुजरता हूं और व्युत्सर्ग तक पहुंच जाता हूं। वहां पहुंचकर मुझे एक बात और करनी होती है कि जिसका मैं व्युत्सर्ग कर रहा हूं, वह कहीं फिर न आ जाए, मुझसे संबद्ध न हो जाए।

एक बुढ़िया थी। उसके चार दामाद थे। चारों मरकर प्रेत हुए। वे बारी-बारी से बुढ़िया के घर आने लगे। वह एक प्रेत को गंगाजी में छोड़ आती तो दूसरा घर पर मौजूद रहता। उसे गंगाजी में डाल आती, तो तीसरा प्रेत घर पर मिलता और उसे भी गंगाजी में डाल आती, तो चौथा प्रेत घर पर मिलता। उसे जब गंगाजी में डाल आती, तो फिर पहला प्रेत आ जाता। यह क्रम चलता रहा। वह उन प्रेतों से छुटकारा नहीं पा सकी।

एक व्यक्ति ने दारिद्र्य से कहा—मैं कमाने के लिए परदेश जा रहा हूं, यात्रा करना चाहता हूं, तुम यहीं रहकर मेरे घर की देखभाल करो। दारिद्र्य बोला—यह कैसे हो सकता है? आज तक मैंने तुम्हारा साथ निभाया है। आज मैं तुम्हें अकेले विदेश कैसे जाने दूं? तुम विदेश में रहो और मैं यहां रहूं। यह कैसे संभव हो सकता है? मैं कच्चा मित्र नहीं हूं। मैं सर्वत्र साथ ही रहूंगा। तब उस व्यक्ति ने कहा—मुझे तब विदेश जाने की जरूरत ही नहीं है।

यदि यही क्रम रहे कि हम जिस आदत को छोड़ें, जिसका हम व्युत्सर्ग करें, व्युत्सर्ग कर हम अपने घर पहुंचें और वह आदत फिर तैयार मिले तो हमारी प्रक्रिया पूरी नहीं होगी। इसलिए हमें प्रतिपक्षी भावना के चित्त का निर्माण करना होगा। यदि क्रोध को छोड़ना है तो उसका प्रतिपक्ष 'क्षमा' का चित्त हमें निर्मित करना होगा। क्षमा का चित्त इतना स्पष्ट और प्रत्यक्ष हो कि फिर क्रोध को आने का मौका ही न मिले। बुढ़िया के दामाद को आने का अवसर न मिले और दारिद्र्य को साथ चलने का मौका न मिले।

रूपान्तरण का अंतिम चरण है—प्रतिपक्ष भावना का निर्माण। क्रोध

को बदलना हो तो उपशम के चित्त का निर्माण करो। अभिमान को बदलना हो तो मृदुता के चित्त का निर्माण करो। माया को बदलना हो तो ऋजुता की प्रतिमा का निर्माण करो और लोभ से छुटकारा पाना हो तो संतोष की प्रतिमा को उभारो।

हम प्रेक्षा-ध्यान के प्रारम्भ में कायोत्सर्ग के पश्चात् एक ध्येय का निर्माण करते हैं कि मैं अपने मन को निर्मल बनाना चाहता हूं और मन की मलिनता के कारण होने वाली आदतों को समाप्त करना चाहता हूं। इस ध्येय की प्रतिमा के पश्चात् कायोत्सर्ग, प्रेक्षा-ध्यान में प्रवेश करते हैं तो हमारी सारी ऊर्जा उन आदतों को बदलने में, मन की निर्मलता को विकसित करने में अपने आप सक्रिय हो जाती है और एक दिन ऐसा आता है कि इस प्रयोग से गुजरने वाला व्यक्ति सचमुच एक नया जन्म ले लेता है और एक नया व्यक्ति बन जाता है।

६. रंगों का ध्यान और स्वभाव-परिवर्तन

१. • अंधकार के रंग लक्ष्मी के पास आकर बोले—हमारा सहयोग करें। लक्ष्मी ने पूछा—तुम्हें प्रिय कौन?

उन्होंने कहा— ✻ खुद्दो साहसिओ नरो
✻ निस्संसो अजिइंदिओ
✻ गेही पओसे य सढे
✻ पमत्ते रसलोलुए
✻ वंके वंकसमायारे
✻ मिच्छदिट्ठी अणारिए
✻ उप्फालग दुट्ठवाई
✻ तेणे यावि य मच्छरी।

लक्ष्मी ने कहा—मैं जाऊंगी, पर अलिंद में रहूंगी, भीतर नहीं। फलतः मन की अशान्ति।

२. • प्रकाश के रंग लक्ष्मी के पास आकर बोले—हमारा सहयोग करें। लक्ष्मी ने पूछा—तुम्हें प्रिय कौन?

उन्होंने कहा— ✻ नीयावित्ती अचवले
✻ अमाई अकुऊहले
✻ पियधम्मे दढधम्मे
✻ पयणुकोहमाणे य
✻ पसंतचित्ते दंतप्पा
✻ उवसंते जिइंदिए
✻ तहा पयणुवाई य
✻ वज्जभीरू हिएसए।

फलतः—मन की शान्ति।

एक बार लक्ष्मी के पास अंधकार के रंग मिलकर आए। जिसका व्यक्तित्व सार्वजनिक होता है, उसके पास सब आते हैं। वह सबका होता है। उसे सबके साथ सम्बन्ध रखना होता है। लक्ष्मी का व्यक्तित्व सार्वजनिक है। दुनिया में एक भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसका सम्बन्ध लक्ष्मी से न हो या लक्ष्मी का सम्बन्ध उससे न हो। दुनिया का एक भी प्राणी ऐसा नहीं है जो लक्ष्मी के बिना जी सके, उसकी छत्रछाया के बिना रह सके। इसलिए लक्ष्मी का व्यक्तित्व व्यापक, विराट् और सार्वजनिक है। अंधकार के रंग लक्ष्मी के पास आकर बोले—'देवि! आप हमारा सहयोग करें। आपके सहयोग के बिना, आपकी छत्रछाया के बिना हमारा सम्मान नहीं होता, हमारा कोई आदर नहीं करता। इसलिए जहां हमारा अस्तित्व है, हमारी प्रतिष्ठा है, वहां आपको हमारा सहयोग करना होगा और हमारे साथ रहना होगा। हम आपकी छत्रछाया के इच्छुक हैं।' लक्ष्मी ने कहा—'अच्छी बात है, आऊंगी।' फिर लक्ष्मी के मन में प्रश्न उठा। उसने रंगों से पूछा—'यह तो बताओ कि तुम्हारी छत्रछाया में रहने वाले लोग कौन हैं और कौन व्यक्ति तुम्हें अच्छे लगते हैं?' तब वे अंधकार के रंग बोले—'जो व्यक्ति क्षुद्र होता है, ओछी वृत्ति वाला होता है, स्वार्थी होता है, जो बिना सोचे-समझे काम करने वाला होता है, जो नृशंस होता है, जिसका इन्द्रियों पर कोई अधिकार नहीं होता, जो आसक्त होता है, क्रोध करता है, बात-बात में द्वेष की भावना लाता है, जो शठता से परिपूर्ण है, प्रमत्त है, आलसी है, रसलोलुप और वक्र आचरण वाला है, जिसका दृष्टिकोण मिथ्या है, जो किसी भी बात को सम्यग् ग्रहण नहीं करता, जैसे—यदि उसे कोई कहे कि तुम भारी होते जा रहे हो तो वह कहता है—क्या तुम्हारे बाप की रोटी खाता हूं? कोई कहता है—तुम दुबले होते जा रहे हो तो वह कहता है—शरीर मेरा है, तुम्हें क्या चिन्ता? वह किसी भी बात को सम्यग् ग्रहण नहीं करता, पत्नी खाने के लिए कहे तो भी लड़ेगा कि तुमने इतना जल्दी खाने को क्यों कहा और यदि खाने के लिए न कहे तो भी लड़ेगा कि तुम मेरी देखभाल ही नहीं करती। वह पूरा का पूरा अन्यथा ग्रहण ही करता है, जो अप्रियभाषी और कर्कश वचन बोलने वाला है, जो चोरी करने

वाला है, ईर्ष्या करने वाला है—ऐसे व्यक्ति हमें बहुत प्रिय हैं।' लक्ष्मी ने सुना। वह असमंजस में पड़ गई। काले रंगों को छत्रछाया देना स्वीकार कर लिया, उसके साथ जाना और रहना स्वीकार कर लिया, अब वह दुविधा में पड़ गई। उसने सोचा—ऐसे व्यक्तियों के साथ कैसे रह पाऊंगी? उसने एक उपाय निकाला। वह रंगों से बोली—'मैं तुम्हारे साथ चलूंगी। तुम्हारे घर में नहीं रहूंगी, बाहर ही अलिन्द में रहूंगी।' लक्ष्मी उनके साथ चली गई। उसने अपनी छत्रछाया का वहां विस्तार भी किया, किन्तु वह घर के भीतर कभी नहीं गई। वह सदा अलिन्द में ही बैठी रही।

जो इस प्रकार के कृष्ण-लेश्या वाले, नील-लेश्या वाले और कापोत-लेश्या वाले लोग हैं, जो काले वर्ण वाले लोग हैं, उनके पास भी लक्ष्मी होती है, पर वह घर के भीतर नहीं जाती, शरीर के बाहर-बाहर रहती है। वह शरीर को सुविधा देती है पर घर के भीतर नहीं जाती। मन के भीतर नहीं जाती, अतः मन की शान्ति नहीं होती।

एक दिन ऐसा ही एक दूसरा प्रसंग बना। प्रकाश के रंग मिलकर आए और लक्ष्मी से बोले—'महादेवी! आपकी छत्रछाया चाहिए। क्योंकि उसके बिना कोई जी नहीं सकता, सुखपूर्वक नहीं रह सकता।' लक्ष्मी बोली—'अच्छी बात है। तुम्हारे पास आ जाऊंगी। तुम्हें छत्रछाया दूंगी।' फिर पूछा—'तुम्हारा घर कैसा है? तुम्हारे लोग कैसे हैं? तुम्हारा परिवार कैसा है? तुम्हें कैसे लोग प्रिय हैं?' प्रकाश के रंगों ने कहा—'जिनका व्यवहार विनम्र होता है, जो चपल नहीं होते, स्थिर मन के होते हैं, जो भीतर से भी अचंचल होते हैं और बाहर से भी अचंचल होते हैं, जो कपटी नहीं होते, मखौल नहीं करते, जो प्रियधर्मा होते हैं, जो धर्म में दृढ़ होते हैं, जिनका क्रोध और मान क्षीण हो चुका है। जिनका चित्त इतना शान्त है कि दुःख उनका स्पर्श तक नहीं कर पाता, ऐसे लोग हमें प्रिय हैं। वे हैं हमारे परिवार के सदस्य।'

एक बहुत बड़े संत हुए हैं। उनका नाम था मिलरेप्पा। मरने को थे। तीव्र वेदना हो रही थी। शिष्यों ने पूछा—'गुरुदेव! आपको दुःख हो रहा है? उन्होंने कहा—'नहीं, संसार में चारों ओर दुःख है, पर मुझे दुःख नहीं हो रहा है। क्योंकि मेरा मन शान्त है। जिसका चित्त शान्त

होता है, उसको दुःख नहीं होता। दुःख है और दुःख होना—ये दो घटनाएं हैं। दुनिया में दुःख है किन्तु दुःख का अनुभव करना एक दूसरी बात है। कभी-कभी जीवन में ऐसे क्षण भी आते हैं कि जब मन दूसरे काम में लग जाता है, बड़े काम में उलझ जाता है, तब दुःख की सर्वथा विस्मृति हो जाती है।

बर्नार्डशा के जीवन की एक घटना है। वे बहुत मजाक करने वाले व्यक्ति थे। एक बार उनके हार्ट में दर्द हो गया। डॉक्टर को बुलवाया और कहा—'हार्ट में दर्द हो गया है।' डॉक्टर जानता था। वह बोला—'शा! मुझे बहुत पीड़ा हो रही है। क्या करूं?' डॉक्टर ने ऐसा आकार बनाया कि शा घबरा गये। वे तत्काल उठे। पानी लाए। पानी पिलाया, उपचार किया। डॉक्टर ठीक हो गया। वह उठा और बोला—'शा! मुझे फीस दें। शा ने कहा—'किस बात की फीस दूं?' डॉक्टर ने कहा—'मैंने तुम्हारा इलाज किया है। उसकी फीस चुकाओ।' शा बोले—'इलाज तो मैंने तुम्हारा किया। उपचार कर मैंने तुम्हें स्वस्थ बनाया।' डॉक्टर ने कहा—'शा! मैंने यह सारा नाटक आपके लिए ही तो रचा था। बताइए, आपका दर्द कहां है?' वास्तव में शा उस समय दर्द को भूल ही गए थे। उन्हें आत्म-विस्मृति हो गई थी। दर्द का उन्हें भान ही नहीं रहा।

'जिसका चित्त प्रशान्त होता है, उसके आसपास दुःख भले ही हो, किन्तु दुःख उसके भीतर प्रवेश नहीं कर सकता, ध्यान के द्वारा उसके शरीर का एक-एक कण इतना वज्रमय बन जाता है कि दुःख को भीतर घुसने का अवकाश ही नहीं मिलता। जो उपशान्त होता है, जो जितेन्द्रिय होता है, जो मितभाषी होता है, जो पापभीरु और हित की एषणा करने वाला होता है—ऐसे लोग हमें प्रिय हैं।' यह बात प्रकाश के रंगों ने लक्ष्मी से कहा। लक्ष्मी बोली—'मुझे भी ऐसे ही लोग पसंद हैं। आप जाएं, चिन्ता न करें। मैं आपके यहां आऊंगी, बाहर नहीं, भीतर रहूंगी।' लक्ष्मी आयी और भीतर जाकर बैठ गई। तेजो, पद्म और शुक्ल लेश्या के लोगों के पास लक्ष्मी रहती है, बाहर नहीं भीतर। इसलिए वैसे लोगों के मन में सदा शान्ति बनी रहती है। कभी-कभी उन्हें शारीरिक बाधाएं भी सताती हैं, पदार्थों का अभाव भी होता है, पर उनका मन कभी

अशान्त नहीं होता, क्योंकि लक्ष्मी भीतर आसन जमाए बैठी है।

यह प्रश्न बहुत बार आता है कि बुरे काम करने वालों के पास कितना धन होता है? उनके पास धन होता है, पर हम इस सूत्र को न भूलें कि लक्ष्मी बाहर बैठी है, घर के भीतर नहीं है। वैसे व्यक्तियों को शारीरिक सुविधाएं मिल सकती हैं, किन्तु उनका मन अशान्त रहता है।

लोग यह भी कहते हैं—अच्छे आचरण करने वालों के पास धन होता है, पर उतना नहीं होता, जितना अपेक्षित होता है। वे वैभवशाली जीवन नहीं जी पाते। यह सच है। पर हम इस बात को न भूलें कि तेजः, पद्म और शुक्ल-लेश्या वाले लोगों के अन्तःकरण में लक्ष्मी बैठी रहती है। उसके मन की शान्ति कभी नहीं टूटती। वे कभी-कभी शारीरिक असुविधाएं भी भोगते हैं, पर मन अशान्त नहीं होता।

शान्ति और अशान्ति का प्रश्न लेश्याओं से जुड़ा हुआ है। यह कृष्ण-लेश्या और शुक्ल-लेश्या का प्रश्न है। यह पद्म-लेश्या औरा नील-लेश्या का प्रश्न है। यह तेजो-लेश्या और कापोत-लेश्या का प्रश्न है। यदि हम लेश्याओं के मर्म को समझ लेते हैं तो प्रश्न स्वयं समाहित हो जाते हैं। हमारा दृष्टिकोण इतना बहुर्मुखी हो गया है कि हम मनुष्य का मूल्यांकन केवल पदार्थ के आधार पर करते हैं और केवल पदार्थ को ही धन या लक्ष्मी मानते हैं। दृष्टिकोण बदलना चाहिए। मूल्यांकन का एक ही दृष्टिकोण नहीं है, कई दृष्टिकोण हैं।

भगवान महावीर से पूछा गया—'भंते! अल्प ऋद्धिवाले जीव कौन हैं। महान् ऋद्धिवाले जीव कौन हैं?' भगवान ने कहा—'नील-लेश्या के जीव अल्प ऋद्धिवाले होते हैं, दरिद्र होते हैं। नील-लेश्या के जीव उनकी अपेक्षा महर्द्धिक होते हैं, कापोत लेश्या के जीव उनकी अपेक्षा से महर्द्धिक होते हैं, तेजो-लेश्या के जीव अधिक महर्द्धिक होते हैं, पद्म-लेश्या के जीव और अधिक ऋद्धिशाली और शुक्ल लेश्या के जीव सबसे अधिक ऋद्धिशाली होते हैं, वैभवशाली होते हैं। कृष्ण-लेश्या के जीव सबसे कम वैभवशाली होते हैं, और शुक्ल-लेश्या के जीव सबसे अधिक वैभवशाली होते हैं।' महावीर ने यह नहीं कहा कि जो करोड़पति होता है, अरबपति होता है, वह महर्द्धिक है और जिसके पास सौ, हजार ही होता है, वह

अल्प ऋद्धिवाला है। उनके मूल्यांकन का दृष्टिकोण भिन्न है।

यदि वैभवशालिता और संपदा का यह दृष्टिकोण हमारे पास होता तो मन की अशान्ति का प्रश्न इतना जटिल नहीं होता। आज समूचे विश्व में मन की अशान्ति का प्रश्न बहुत ही जटिल बना हुआ है। उसका यही कारण है कि आदमी संपदा को एक आंख से देखता है। बाहर की संपदा को ही संपदा मानता है। एक आंख से देखे, किन्तु उसकी आंख फूटी हुई नहीं होनी चाहिए। वह उस दूसरी आंख से भीतरी संपदा को भी देखे, भीतर भी झांके।

एक चारण कवि न्याय के लिए हाकिम के पास गया। हाकिम ने निर्णय ठीक नहीं किया, तब उसका कवि-हृदय बोल उठा—

सुन हाकम संग्राम कह, आंधो मत है यार।
औरां रे दो चाहिजै, थांरै चाहिजै चार ॥

—हाकिम साहब अंधे मत होओ। उचित न्याय करो। दो आंख बाहर को देखने के लिए हैं और दो भीतर को देखने के लिए चाहिए।

लेश्या की भाषा में मैं कह सकता हूं कि हमारे भी चार आंखें होनी चाहिए। दो आंखें बाहर की संपदा को देखने के लिए और दो भीतर की संपदा को देखने के लिए। किन्तु लगता ऐसा है कि बाहर की संपदा को देखने के लिए तो हमारी ये दो आंखें बहुत बड़ी बन जाती हैं, चार हो जाती हैं और भीतरी संपदा को देखने के लिए आंखें उपलब्ध ही नहीं हैं, आदमी अंधा बना हुआ है।

महावीर ने लेश्या के सिद्धान्त में, लेश्या के आधार पर ऋद्धि और वैभव की चर्चा की। दो दृष्टिकोण होते हैं—एक है पदार्थ का और दूसरा है व्यक्तित्व का, भाव और आचरण। जो व्यक्ति कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में रहता है, उसे बाहरी संपदा कभी-कभार उपलब्ध भी हो जाती है, किन्तु व्यक्ति का आंतरिक जीवन समाप्त हो जाता है। अध्यात्म साधना के संदर्भ में हम यह स्पष्ट समझें कि दीपावली के इस महान् पर्व पर हम केवल धन की ही कामना न करें, किन्तु गुणों की कामना करें। हम केवल बाहरी व्यक्तित्व को सुखी बनाने की ही कामना न करें, किन्तु आन्तरिक व्यक्तित्व को सुखी, समृद्ध और आनन्दमय बनाने की कामना

करें। ये दोनों बातें होंगी तो सामाजिक व्यक्ति का जीवन पूरा बनेगा अन्यथा खण्डित रहेगा, टूटा हुआ रहेगा। बाहर का जीवन अखण्ड-सा लगेगा, पर भीतर कुछ टूटा-टूटा-सा होगा। बाहरी संपदा पाकर भी लगेगा कि भीतर रिक्तता है, खालीपन है। अभी कुछ पाया नहीं है। मन को कभी चैन नहीं होगा, शान्ति नहीं होगी। यह दरिद्रता बनी की बनी रहेगी। इसीलिए इस अध्यात्म दीपावली को मनाने के लिए हम रंगों की उपासना करें, रंगों का ध्यान करें।

व्यक्तित्व को बदलने के तीन साधन हैं—

१. प्रेक्षा-ध्यान, २. भावना का प्रयोग, ३. रंगों का ध्यान।

दो साधनों की चर्चा हम कर चुके हैं। जो व्यक्ति प्रकाशमय रंगों का ध्यान करता है, वह अपने आंतरिक व्यक्तित्व का निर्माण कर लेता है। जो व्यक्ति अंधकार के रंगों का ध्यान करता है, वह अपने व्यक्तित्व को अंधकार से भर देता है, छिन्न-भिन्न कर देता है।

प्रकाश के दो-तीन रंगों की चर्चा मैं करना चाहता हूं। तेजो-लेश्या का बाल सूर्य जैसा लाल रंग है। लाल रंग निर्माण का रंग है। लाल रंग का तत्त्व है—अग्नि। हमारी सारी सक्रियता, शक्ति, तेजस्विता, दीप्ति, प्रवृत्ति—सबका स्रोत है, लाल रंग। लाल रंग हमारा स्वास्थ्य है। डॉक्टर सबसे पहले देखता है कि रक्त में श्वेत कण कितने हैं और लाल कण कितने हैं? लाल कण कम होते हैं तो वह अस्वास्थ्य का द्योतक है। लाल रंग प्रतिरोधात्मक शक्ति का प्रतीक है। वह बाहर से आने वाले को रोकता है, भीतर नहीं आने देता। लाल रंग में क्षमता है कि वह बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् में ले जा सकता है। जब तक कृष्ण, नील और कापोत लेश्या काम करती है, तब तक व्यक्ति अन्तर्मुखी नहीं हो सकता, माध्यत्मिक नहीं हो सकता, अन्तर्जगत् की यात्रा नहीं कर सकता। वह आन्तरिक सुखों का अनुभव नहीं कर सकता। हम प्रेक्षा-ध्यान की प्रक्रिया में आन्तरिक सूक्ष्म स्पंदनों का अनुभव करना सिखाते हैं। मन जब सूक्ष्म होता है, तब वह सूक्ष्म कंपनों को पकड़ने में सक्षम हो जाता है। तीसरी बात है—रंगों का अनुभव करना। जब तैजस् शरीर के साथ हमारा संपर्क स्थापित होता है, तब रंग दीखने लग जाते हैं। जब हम

दर्शन केन्द्र को सक्रिय करते हैं। तब बाल-सूर्य का लाल रंग दीखने लग जाता है। उस समय व्यक्ति को कितनी आनन्दानुभूति होती है, बताई नहीं जा सकती। उस आनन्द का प्रत्यक्ष अनुभव करने वाला ही उसे जान सकता है, वह उसे बता नहीं सकता। इस लाल रंग के अनुभव से, तेजो-लेश्या के स्पंदनों की अनुभूति से अन्तर्जगत् की यात्रा प्रारंभ होती है। लाल रंग नाड़ी-संस्थान और रक्त को सक्रिय बनाता है। जब हम दर्शन-केन्द्र पर लाल रंग का ध्यान प्रारम्भ करते हैं और जब वह ध्यान सधता है, तब आदतों में परिवर्तन आना प्रारम्भ हो जाता है। कृष्ण, नील और कापोत-लेश्या के काले रंगों से होने वाली आदतें तेजो-लेश्या के प्रकाशमय लाल रंग से समाप्त होने लगती हैं। अचानक स्वभाव में परिवर्तन आता है।

पद्म-लेश्या का रंग पीला है। यह रंग बहुत शक्तिशाली होता है। यह गर्मी पैदा करने वाला रंग है। लाल रंग भी गर्मी पैदा करता है। उत्क्रमण की सारी प्रक्रिया गर्मी बढ़ाने की प्रक्रिया है। तेजो लेश्या में भी गर्मी बढ़ती है, पद्म लेश्या में भी गर्मी बढ़ती है और जब वह गर्मी पूरी मात्रा में बढ़ जाती है, चरम शिखर को छू लेती है और गर्मी बढ़ने का अवकाश नहीं रहता तब शुक्ल-लेश्या के द्वारा गर्मी का उपशमन करते हैं और तब निर्वाण घटित हो जाता है।

शारीरिक दृष्टि से पीला रंग मस्तिष्क और नाड़ी-संस्थान को बल देता है। जिस बच्चे की बुद्धि और स्मृति-शक्ति कमजोर हो, मस्तिष्क कमजोर हो, उसे यदि पीले रंग के कमरे में रखा जाए तो उसमें परिवर्तन आना शुरू हो जाता है। जो व्यक्ति दस मिनट तक मस्तिष्क में पीले रंग का ध्यान करता है, उसका बुद्धिबल शक्तिशाली होता जाता है। पीले रंग का जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव है वह है—चित्त की प्रसन्नता।

आज रंग के विज्ञान में बहुत खोजें हुई हैं और हो रही हैं। रंग का मनोविज्ञान कहता है कि पीला रंग मन की प्रसन्नता का प्रतीक है। इससे मन की दुर्बलता मिटती है, आनन्द बढ़ता है। आगम कहते हैं—पीत-लेश्या से चित्त प्रशान्त होता है, शान्ति बढ़ती है और आनन्द बढ़ता है। दर्शन की शक्ति पीले रंग से विकसित होती है। दर्शन का

अर्थ है—साक्षात्कार, अनुभव। इससे तर्क की शक्ति नहीं बढ़ती, साक्षात्कार की शक्ति बढ़ती है, अनुभव की शक्ति का विकास होता है।

पीले रंग की क्षमता है--मन को प्रसन्न करना, बुद्धि का विकास करना, दर्शन की शक्ति को बढ़ाना, मस्तिष्क और नाड़ी-संस्थान को सुदृढ़ करना, सक्रिय बनाना। यदि हम हृदय-केन्द्र या आनन्द-केन्द्र पर पीले रंग का ध्यान करते हैं और मस्तिष्क तथा विशुद्धि-केन्द्र पर पीले रंग का ध्यान करते हैं तो अंधकार के रंगों द्वारा निर्मित आदतें विघटित होने लगती हैं और नई आदतें बननी प्रारम्भ हो जाती हैं। लेश्या-ध्यान का प्रयोग बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। यह जैन साधना पद्धति का अपूर्व प्रयोग है। इस प्रयोग द्वारा आत्म-साक्षात्कार की झलक मिलती है। साधकों को मिली है।

लेश्या कोरी जानने, देखने और रटने की बात नहीं है, यह साधना की पूरी प्रक्रिया है। यह समूचे व्यक्तित्व को बदलने की प्रक्रिया है। तीन काली लेश्याओं ने जिस व्यक्तित्व का निर्माण कर रखा है, उसे विघटित करने के लिए तीन प्रकाश लेश्याएं समक्ष हैं। वे नया व्यक्तित्व उभार देती हैं।

लेश्याओं के छः रंग हैं। उनमें तीन खराब हैं और तीन अच्छे। तीन प्रशस्त रंग हैं और तीन अप्रशस्त रंग हैं। काला, नीला और कबूतरिया (कापोत) ये खराब ही नहीं होते। हमें दो भेद करने होंगे—प्रकाश के रंग और अंधकार के रंग। अंधकार का काला, नीला और कापोत रंग खराब होता है और प्रकाश का काला, नीला और कापोत रंग अच्छा होता है। इसी प्रकार अंधकार का लाल, पीला और श्वेत रंग खराब होता है और प्रकाश का लाल, पीला और श्वेत रंग अच्छा होता है। कृष्ण-लेश्या विशुद्ध होती-होती नील-लेश्या बनती है। महावीर से पूछा—'भंते! क्या कृष्ण-लेश्या, नील-लेश्या और कापोत-लेश्या के परिणाम अप्रशस्त होते हैं?' महावीर ने कहा--'ऐसा नहीं है। कृष्ण, नील और कापोत-लेश्या के समय हमारे परिणाम प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों होते हैं। इसलिए सापेक्षता से कहा जाता है कि कृष्ण-लेश्या की अपेक्षा नील-लेश्या विशुद्ध है, नील-लेश्या की अपेक्षा कापोत-लेश्या विशुद्ध है।' हमें दो प्रकार करने होंगे--एक संक्लेश का और दूसरा असंक्लेश का। संक्लेश का चरम बिन्दु

है—कृष्ण-लेश्या और असंक्लेश का चरम बिन्दु है--शुक्ल लेश्या। असंक्लेश अर्थात् विशुद्धि। विशुद्धि की जघन्य अवस्था है तेजो-लेश्या, मध्यम है पद्म-लेश्या और उत्कृष्ट है शुक्ल-लेश्या। संक्लेश का अर्थ है अविशुद्धि। अविशुद्धि का चरम बिन्दु है—कृष्ण-लेश्या, मध्य है नील-लेश्या और जघन्य है कापोत-लेश्या।

सारे रंग खराब नहीं होते, सारे रंग अच्छे नहीं होते। श्वेत रंग भी यदि अंधकार का होता है तो खराब होता है और प्रकाश का होता है तो अच्छा होता है।

एक अमरीकी महिला वैज्ञानिक जा. जे. सी. ट्रस्ट ने मनुष्य के आभामण्डल के विषय में अनेक खोजें की। उसने रंगों का एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया। एक थे प्रकाश के रंग और एक थे अंधकार के रंग। उनकी तुलना प्रशस्त और अप्रशस्त रंगों से की जा सकती है। काला रंग खराब ही कहां होता है। वह संरक्षण देने वाला रंग है। ध्यान में भी काले रंग का बड़ा महत्त्व है। तीर्थंकरों की उपासना भी काले रंग से की जाती है। वैदिक साधना-पद्धति में ब्रह्मा की उपासना लाल रंग से की जाती है, क्योंकि लाल रंग निर्माता है। विष्णु की उपासना काले रंग से की जाती है, क्योंकि काला रंग संरक्षण का रंग है। महेश की उपासना सफेद रंग में की जाती है, क्योंकि शिव संहार करने वाले हैं।

काला रंग अच्छा भी होता है और बुरा भी होता है। सफेद रंग अच्छा भी होता है और बुरा भी होता है।

अध्यात्म के विकास में बैंगनी रंग का बहुत महत्त्व है। मनुष्य की हिंसात्मक वृत्तियों को बदलने में यह रंग बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

आज इस लक्ष्मी पूजा और प्रकाश की पूजा के अवसर पर हम पवित्र रंगों का ध्यान करें। श्वेत और पीत रंग का ध्यान कर अपने पवित्र संकल्पों को अन्तर्जगत् तक पहुंचाकर हम ऐसी आराधना की पद्धति का विकास कर सकते हैं, जो लौकिक पद्धति से भी अधिक शक्तिशाली हो। इस पद्धति के दोनों लाभ हैं। मन की शान्ति और बुद्धि की निर्मलता। बुद्धि की निर्मलता से साधना का विकास भी होता है और बाह्य व्यक्तित्व का विकास भी होता है।

द्वितीय शिविर

दिनांक : ५-१२-७८ से १३-१३-७८ तक

स्थान : लाडनूं (राजस्थान)

'प्रज्ञा-प्रदीप'

१. ध्यान क्यों?

१. • सत्य को खोजने के लिए, चेतना की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव करने के लिए, ज्ञाता को प्रतिष्ठित करने के लिए।
२. • चेतना को व्यापक बनाने के लिए—पदार्थ प्रतिबद्धता को तोड़ने के लिए।
३. • अन्तर्दृष्टि को जागृत करने के लिए।
४. • चैतन्य-केन्द्रों को जागृत करने के लिए।
५. • लेश्या को रूपान्तरित करने तथा आभा-मंडल को स्वच्छ और शक्तिशाली बनाने के लिए।
६. • चित्त को निर्मल, जागरूक, सशक्त और अन्तर्मुखी बनाने के लिए।
७. • दुःख-मुक्ति के लिए।
८. • प्रवृत्ति से शक्ति क्षीण होती है। निवृत्ति से शक्ति संरक्षित, विकसित होती है। स्मृति, विश्लेषण, चयन (निर्धारण)—ये सब लघु मस्तिष्क (सेरिबेलम) में संभव होते हैं। इनका विकास ध्यान द्वारा होता है।
९. • विचार और संवेदन के नियंत्रण से अतीन्द्रिय ज्ञान होता है।
१०. • भौतिक वैज्ञानिक इर्विन श्रेडिंगर ने कहा—पदार्थ का मूल स्वरूप कण है या तरंग, यह विवाद उतना महत्त्व का नहीं, जितना कि जड़ और चेतन के पारस्परिक सम्बन्धों की गुत्थी सुलझाना।

मन में यह प्रश्न सहज ही उभरता है कि ध्यान क्यों? प्रयत्न को छोड़कर अप्रयत्न क्यों? सक्रियता को छोड़कर निष्क्रियता क्यों? चेष्टा

को छोड़कर निष्चेष्टा क्यों?

आदमी सामान्यतः आलसी होता है। कठिनाई से वह पुरुषार्थी होता है। कभी-कभी उसका पराक्रम जागता है, वह प्रयत्न करता है। संसार में प्रयत्न करने वालों की अपेक्षा अप्रयत्न करने वाले बहुत हैं। श्रम करने वालों की अपेक्षा श्रम न करने वाले अधिक हैं। पुरुषार्थी की अपेक्षा आलसी और अकर्मण्य बहुत हैं। ऐसी स्थिति में हम ध्यान का बहाना बनाकर अकर्मण्यता की दिशा में क्यों जा रहे हैं? क्यों प्रयत्न को छोड़कर अप्रयत्न कर रहे हैं? यह प्रश्न मन में उठता है। यह स्वाभाविक प्रश्न है। हम यदि प्रयत्न और अप्रयत्न को ठीक से समझ लें तो प्रश्न समाहित हो सकता है। यदि समझने में तनिक भी भ्रान्ति हुई तो ध्यान के प्रति भी हम भ्रान्त हो जाएंगे।

प्रयत्न है जीवन की यात्रा को चलाने के लिए। हमारा पराक्रम या श्रम जीवन की इस नैया को खेने के लिए और श्वास की मर्यादा को निभाने के लिए। अप्रयत्न है जीवन की सचाई को पाने के लिए।

कर्म है जीवन-यात्रा को चलाने के लिए और अकर्म है जीवन के सत्य को पाने के लिए।

प्रवृत्ति है जीवन की यात्रा के लिए और निवृत्ति है जीवन के सत्य को पाने के लिए।

जो लोग केवल कर्म करते हैं वे जीवन की यात्रा को चला सकते हैं, किन्तु जीवन की सचाई को उपलब्ध नहीं कर सकते। ध्यान करने वाले प्रयत्न को नहीं छोड़ते, किंतु केवल प्रयत्न करने वाले ध्यान को छोड़ देते हैं। ध्यान करने वाले कर्म को नहीं छोड़ते, किन्तु केवल कर्म करने वाले ध्यान को छोड़ देते हैं। जो व्यक्ति जीवन की सचाई को पाने के लिए अपनी यात्रा शुरू करता है, वह जीवन की यात्रा को चलाने के लिए कर्म भी करता है। उसका कर्म अकर्म में से ही निकलता है, उसकी प्रवृत्ति निवृत्ति में से ही निकलती है और उसकी सक्रियता निष्क्रियता में से उत्पन्न होती है। जो कर्म अकर्म में से निकलता है वह बहुत पवित्र और शक्तिशाली होता है। जो प्रवृत्ति निवृत्ति में से जन्म लेती है, जो सक्रियता निष्क्रियता में से निकलती है, वह निर्दोष और स्वच्छ

होती है। कर्म में सारे दोष इसीलिए आये हैं कि वे कर्म कर्म में से निकल रहे हैं। प्रवृत्ति में से प्रवृत्तियां निकल रही हैं। जब कर्म में से कर्म और प्रवृत्ति में से प्रवृत्ति निकलती है तो व्यक्ति केवल कर्ममय और प्रवृत्तिमय बन जाता है। फिर उसके लिए कर्म साध्य बन जाता है, साधन नहीं रहता। कर्म साधन है। वह हमारे जीवन का साध्य नहीं है। प्रवृत्ति हमारी जीवन-यात्रा का साधन है, साध्य नहीं है। किन्तु जब प्रवृत्ति में से प्रवृत्ति निकलती है, कर्म में से कर्म निकलता है तब प्रवृत्ति और कर्म साध्य बन जाते हैं, साधन नहीं रहते। इतना ही अन्तर है कि ध्यान करने वाला व्यक्ति कर्म और प्रवृत्ति को साधन मानता है। जीवन-यात्रा का और ध्यान नहीं करने वाला व्यक्ति कर्म और प्रवृत्ति को साध्य मानने लग जाता है। जीवन में एक बहुत बड़ी भ्रान्ति आ जाती है।

हम जीवन की सचाई को पाने के लिए अप्रयत्न करते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में पदार्थ पर बहुत खोजें हुई हैं और आज भी खोज चालू है। पदार्थ की प्रकृति को, पदार्थ के अस्तित्व के कण-कण को छाना जा रहा है। सारी खोज पदार्थ पर हो रही है और पदार्थ की खोज के बहुत सारे नियम बन चुके हैं। वैज्ञानिक खोज के बाद एक धारणा बहुत ही स्पष्ट रूप से बन गई कि पदार्थ है, ज्ञेय है, विषय है किन्तु पदार्थ से परे कोई ज्ञेय नहीं है, विषय नहीं है। विषयी और विषय, ज्ञाता और ज्ञेय, पदार्थ और पदार्थातीत सत्ता—ये दो बातें हैं। वैज्ञानिक खोजों के पश्चात् यह धारणा अत्यन्त पुष्ट हो गई कि केवल पदार्थ हैं, परमाणु हैं, परमाणुओं के स्कन्ध हैं, किन्तु उनसे परे कोई स्वतन्त्र चेतना नाम की सत्ता नहीं है। स्वतंत्र ज्ञाता का कोई अस्तित्व नहीं है। आज पदार्थ इतना प्रधान बन गया कि मनुष्य का अस्तित्व उसके सामने विलीन होता जा रहा है। मनुष्य गौण हो गया, पदार्थ मुख्य बन गया। पदार्थ सिंहासन पर बैठ गया और मनुष्य उसके सामने हाथ जोड़े चरणों में बैठ गया। ऐसा होना स्वाभाविक है, क्योंकि वैज्ञानिक खोज कर रहे हैं उपकरणों के माध्यम से, यन्त्रों के माध्यम से, भौतिक साधनों के माध्यम से। जो व्यक्ति साधनों के माध्यम से खोज करेगा,

वह पदार्थ तक ही पहुंच पाएगा, आत्मा तक उसकी पहुंच नहीं हो सकती। ये सारे आत्मा तक पहुंचने के साधन ही नहीं हैं। पौद्गलिक साधनों के द्वारा पौद्गलिक सत्ता को ही जाना जा सकता है, आत्मिक सत्ता को नहीं जाना जा सकता। पौद्गलिक सत्ता को जानने के लिए जितने नियम वैज्ञानिकों ने बनाए हैं और जो नियम काम में लिये जा रहे हैं वे पदार्थ की व्याख्या कर सकते हैं, किसी चेतन सत्ता की व्याख्या नहीं कर सकते। चेतन सत्ता उनका विषय भी नहीं बनती। इसीलिए वैज्ञानिक जगत् ने चेतन सत्ता को नकारा है। उस अस्वीकार के कारण आज हमें ध्यान की उपयोगिता बस इतनी ही लगती है कि उससे तनाव कम होता है, शारीरिक स्वास्थ्य बना रहता है, आदि-आदि। बस ध्यान की उपयोगिता समाप्त। किन्तु ध्यान केवल तनाव को कम करने के लिए ही नहीं है। यह सच है कि ध्यान से स्नायविक तनाव, मानसिक तनाव और भावनात्मक तनाव कम होते हैं, स्वास्थ्य सुधरता है, रक्तचाप में अन्तर आता है, किन्तु यदि ध्यान का केवल यही उद्देश्य हो तो ध्यान की यात्रा बहुत छोटी होगी, उसकी उपयोगिता सीमित हो जाएगी। तब ध्यान हमारे लिए शरीर को पुष्ट और स्वस्थ करने वाला एक साधन मात्र होगा। इससे ज्यादा उसको कोई मूल्य नहीं मिलेगा। किन्तु हमने ध्यान का जो उपक्रम प्रारंभ किया है, वह कुछ विशिष्ट उद्देश्य से किया है। उसमें शारीरिक स्वास्थ्य भी एक है। शारीरिक स्वास्थ्य भी कम मूल्यवान् नहीं है किन्तु शरीर से ज्यादा जिसका मूल्य है उसके मूल्य को मैं कम करना नहीं चाहता। सबसे अधिक मूल्यवान् है अपने अस्तित्व का बोध। जब तक अस्तित्व का बोध नहीं होता, तब तक स्वास्थ्य का प्रश्न जटिल ही बना रहेगा। हम इस बात को ही न मानें कि स्वास्थ्य का सम्बन्ध केवल परिस्थिति, मौसम या कीटाणुओं से ही है। स्वास्थ्य का प्रश्न बहुत गहरे में जुड़ा हुआ है। जब तक व्यक्ति अपने अस्तित्व का बोध नहीं कर लेता तब तक स्वास्थ्य की समस्या को भी नहीं सुलझा सकता। सारी बीमारियां मिथ्या दृष्टिकोणों के कारण आती हैं। जब तक मिथ्यादृष्टि समाप्त नहीं होती तब तक दुःख समाप्त नहीं हो सकते। दुःखों को समाप्त करने का एकमात्र साधन है सत्य की उपलब्धि, अस्तित्व की

उपलब्धि। जब सत्य उपलब्ध होता है तब दुःखों के उन्मूलन की प्रक्रिया चालू हो जाती है। अन्त में उसका फलित होता है कि सारे दुःख उन्मूलित हो जाते हैं। साधक को 'सव्वदुक्खपहीणमग्गं'—दुःखों को प्रक्षीण करने का मार्ग प्राप्त हो जाता है।

आज तक जिन लोगों ने दुःखों का उन्मूलन किया है, वे व्यक्ति सत्य को उपलब्ध थे। जिन्होंने सत्य को उपलब्ध नहीं किया, वे दुःखों से कभी नहीं छूटे। हो सकता है कि पत्तों और फूलों को तोड़कर यह मान लिया कि वृक्ष की जड़ें ही उखाड़ डालीं। यह भ्रान्ति है, किन्तु फूलों, फलों और पत्तों को तोड़ने मात्र से बात समाप्त नहीं होती। हमें जड़ों को उखाड़ फेंकना होगा, तभी दुःख समाप्त हो सकेंगे।

मनुष्य जड़ की बात ही नहीं सोचता। वह केवल ऊपर की बात ही सोचता है। जो ऊपर दीखता है वह उसी की व्याख्या करता है, भीतर की व्याख्या नहीं करता। इसीलिए बहुत सारी समस्याएं पलती हैं। मनुष्य ध्वज होना चाहता है, नींव का पत्थर नहीं होना चाहता। मनुष्य पत्तों को देखता है, जड़ को नहीं देखता। जब तक जड़ को, नींव के पत्थर को, नहीं देखा जाता तब तक समस्या का समाधान नहीं हो सकता।

जो मूलभूत समस्या है, वह है अस्तित्व की समस्या। सारे दुःखों की यह जननी है। सब कुछ यहीं से आ रहा है। रोग एक दुःख है, मौत एक दुःख है। मौत इतना दुःख नहीं है, जितना दुःख मौत का भय है, जन्म इतना दुःख नहीं है, जितना दुःख जन्म का भय है। रोग इतना दुःख नहीं है, जितना दुःख रोग का भय है। इस प्रकार हम जाने-अनजाने एक प्रकार के अज्ञात भय से आक्रान्त हो जाते हैं और वह भय हमें निरन्तर सताता रहता है। बड़ी से बड़ी घटना घटित हो और यदि हम अपने मन को उसके साथ नहीं जोड़ते हैं, अपने संवेदन को नहीं जोड़ते हैं तो कोई दुःख नहीं होगा।

एक मार्मिक घटना है। पिता को परदेश गए बारह वर्ष हो चुके थे। घर की याद सताने लगी। वह घर के लिए रवाना हुआ। बारह वर्षीय पुत्र भी पिता की खोज में निकला। संयोग ऐसा मिला कि एक

ही धर्मशाला में दोनों ठहरे। दोनों एक-दूसरे से अपरिचित। रात को पुत्र के पेट में भयंकर दर्द उठा। वह चिल्लाने लगा। पिता पास के कमरे में सो रहा था। चिल्लाहट के कारण उसकी नींद बार-बार टूट रही थी। उसने अपने सेवक से कहा—'जाओ उस चिल्लाहट को बन्द करो।' सेवक गया। बच्चे के साथ भी नौकर थे। उनको सेठजी की बात कही। उन्होंने कहा—बच्चा है। पेट में भयंकर पीड़ा है। पीड़ा शान्त होते ही स्वतः चुप हो जाएगा। पेट का दर्द बढ़ता ही गया। सेठ झल्ला उठा। उसने अपने सेवकों को आदेश दिया कि जाओ, जो चिल्ला रहा है उसे धर्मशाला से बाहर निकाल दो। दो सेवक गए और उस बच्चे को सामान सहित धर्मशाला से बाहर निकाल दिया। दर्द बढ़ा और बालक एक घण्टा के भीतर-भीतर मर गया। चिल्लाहट शांत हो गई। सेठ ने सुख की नींद ली। सेठ को जब पता चला कि वह मर गया, तब उसने जानना चाहा कि वह कौन था? कहां से आया था? सेठ स्वयं बाहर गया। नौकरों से पूछताछ की तो पता चला कि वह उसका ही लड़का था। अब सेठ के प्राण बाहर निकलने लगे। अरे! मेरा लड़का! पहले तो वह चिल्ला रहा था और अब सेठ चिल्लाने लगा। बच्चा चिल्ला रहा था तब उसे शांत करने वाला सेठ था, और अब सेठ चिल्ला रहा था तब उसे शांत करने वाला कोई नहीं था।

प्रश्न है कि दुःख कहां से आया? क्या वह लड़का मर गया इसलिए सेठ दुःखी हुआ? यदि लड़के के मरने पर सेठ दुःखी होता तो वह दस मिनट पहले ही दुःखी हो जाता। मरने पर उसे कोई दुःख नहीं हुआ, उसे बाहर निकाला तब भी उसे कोई दुःख नहीं हुआ। बच्चे के प्रति कोई सहानुभूति नहीं, संवेदना नहीं, सहयोग नहीं। केवल अपने अहं की पूर्ति करना चाहता था, केवल अपने अहं का प्रदर्शन करना चाहता था और वह सोच रहा था कि नींद खराब न हो जाए। पर उसे जैसे ही पता चला कि यह मेरा लड़का है, उस पर एक साथ ही दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। जब घटना के साथ मन जुड़ता है, प्रियता और अप्रियता के संवेदन की अनुभूति जुड़ती है तब अकस्मात् सुख या दुःख का अनुभव होता है। हमारे दुःख का मूल परिस्थिति नहीं है, पदार्थ नहीं है, घटना

नहीं है। ये सब निमित्त बन सकते हैं। किन्तु जहां सुख और दुःख पैदा होता है वह सारा चेतनशक्ति की अनुभूति में पैदा होता है। हमने अनुभूति को निकाल दिया। केवल परिस्थितिवाद और घटनाचक्र, केवल पदार्थ पर सारा आरोपित कर दिया। जब तक मिथ्यादृष्टि समाप्त नहीं होती, तब तक दुःख के कारणों को समाप्त नहीं किया जा सकता, दुःख के उपादान को समाप्त नहीं किया जा सकता और दुःख की जड़ का उन्मूलन नहीं किया जा सकता।

सम्यक् दृष्टि का अर्थ है—मन को प्रियता और अप्रियता की अनुभूति से मुक्त करना। जब तक हमारा मन प्रियता और अप्रियता की अनुभूति से मुक्त नहीं होता तब तक हमें सम्यक् दृष्टि उपलब्ध नहीं हो सकती। हम बड़े-बड़े शास्त्रों को रट लें, तत्त्वों के नाम याद कर लें, तत्त्वों का पारायण कर लें, फिर भी हमें सम्यक् दृष्टि उपलब्ध नहीं हो सकती। यदि हम इस प्रियता और अप्रियता की अनुभूति से मुक्त नहीं हैं, यदि हमारा यह संवेदन समाप्त नहीं होता है तो हमें सत्य उपलब्ध नहीं होता और सत्य के उपलब्ध न होने पर सब दुःखों को समाप्त करने का कोई उपाय उपलब्ध नहीं होता। सम्यक् दृष्टि, सम्यक्त्व, सत्य सब एक ही हैं। सत्य हमें तब उपलब्ध होता है जब हम मूल सत्ता को जानें, अस्तित्व को जानें। ध्यान इसलिए कर रहे हैं कि हम ज्ञाता को जानें, विषयी को जानें, द्रष्टा को जानें। द्रष्टा, ज्ञाता और विषयी—जो पर्दे के पीछे चला गया, हम उसका अनुभव करें। एक वैज्ञानिक उसे नहीं जान सकता, एक ध्यानी उसे जान सकता है। ध्यान के सारे नियम ज्ञाता तक पहुंचाने के नियम हैं। वैज्ञानिकों के पास ऐसा कोई नियम नहीं है जिससे कि वह उस परम सत्ता को जान सके। ध्यानी जिन विषयों के आधार पर चलता है अपने संवेदनों को शुद्ध करता चलता है, अपने भोक्ता स्वरूप को छोड़ता चलता है। उसे ज्ञाता स्वरूप का साक्षात् हो जाता है। सुख-दुःख का अनुभव उसे होता है जो भोक्ता होता है। भोक्ता वह होता है जो प्रियता और अप्रियता का अनुभव करता है। जो ज्ञाता होता है वह घटना को जानता है, भोगता नहीं। उसका काम है केवल जानना। जहां केवल जानने की बात आती है वहां ज्ञान शुद्ध हो जाता है, संवेदन

शुद्ध हो जाता है। फिर केवल पदार्थ रहता है, कोरा पदार्थ, कोरी सत्ता। हम पदार्थ को पदार्थ रूप में नहीं जानते, उसे किसी विशेषण के साथ जानते हैं। यथार्थ को यथार्थरूप में नहीं जानते, किसी विशेषण के साथ जानते हैं। हम परमाणु को परमाणु की दृष्टि से, सर्दी को सर्दी की दृष्टि से, गर्मी को गर्मी की दृष्टि से नहीं जानते। सर्दी का मौसम है और कमरे में यदि हीटर लगा हुआ हो तो लगेगा हीटर बहुत मूल्यवान् है। जेठ की दुपहरी, चिलचिलाती धूप में यदि कमरे में हीटर लगा दें तो लगेगा हीटर जैसी निकम्मी वस्तु दूसरी नहीं है। हीटर का अपना कोई मूल्य नहीं है। हीटर न अच्छा होता है और न बुरा होता है। गर्मी के दिनों में बर्फ अच्छा लगता है और सर्दी के दिनों में वह अच्छा नहीं लगता। बर्फ न अच्छा है और न बुरा। पदार्थ का ठंडा होना भी एक पर्याय है और गर्म होना भी एक पर्याय है। जो व्यक्ति भोक्ता है, प्रियता और अप्रियता के संवदेन को अपने साथ जोड़े हुए है तो उसे गर्मी में ठण्डी वस्तु अच्छी लगेगी और सर्दी में गर्म वस्तु अच्छी लगेगी। यह अच्छा-बुरा लगना पदार्थ का गुण नहीं, धर्म नहीं और अस्तित्व नहीं। यह मात्र व्यक्ति के मन का संवेदन है। जब तक मन के साथ यह लगना जुड़ा होता है, जब तक मन के साथ 'प्रतिभाती' जुड़ी होती है तब तक पदार्थ को पदार्थ की आंख से नहीं देखा जाता, प्रियता या अप्रियता की आंख से ही देखा जाता है। जब तक प्रियता और अप्रियता का चश्मा लगा रहेगा तब तक पदार्थ जैसा है वैसा नहीं दीखेगा, किन्तु जैसा चश्मा है वैसा ही दीखेगा। हमें केवल चश्मे को उतारना है। चश्मे के कारण आंख भी प्रियता की आंख और अप्रियता की आंख बन गई है। इस चश्मे को हम उतार फेंकें। पदार्थ को केवल नंगी आंखों से देखें, पदार्थ की दृष्टि से देखें। यह होगी सम्यग् दृष्टि, सम्यग् दर्शन, सम्यक्त्व। यह होगा, तब घटना घटना रहेगी, चेतना चेतना रहेगी। घटना न सुख देगी और न दुःख देगी। सुख की चेतना और दुःख की चेतना--ऐसा भी घटित नहीं होगा। आज हमारी चेतना न शुद्ध चेतना है और घटना न शुद्ध घटना है। घटना चेतना को प्रभावित कर रही है और चेतना घटना को प्रभावित कर रही है। घटना और चेतना—दोनों में इतने विकार

पैदा हो गए कि कोई शुद्ध नहीं रहा। घटना भी शुद्ध नहीं रही और चेतना भी शुद्ध नहीं रही। न आटा आटा रहा और न नमक नमक। दोनों का मिश्रण हो गया। आज अ-मिश्रण है क्या? लोग बाजार की मिलावट की बात करते हैं, किन्तु दृष्टिकोण के मिलावट की बात नहीं करते। कितना आश्चर्य! बेचारे व्यापारी कितनी मिलावट कर पाते हैं, किन्तु आदमी जागने से लेकर सोने तक मिलावट ही मिलावट करता है। सब कुछ मिलावट। हम मिलावट को छोड़कर पदार्थ को पदार्थ की दृष्टि से देखें। ध्यान के द्वारा आपको जो उपलब्ध होगा, वह विशुद्ध तत्त्व प्राप्त होगा, न पदार्थ समाप्त होगा और न चेतना समाप्त होगी। समाप्त किसी को नहीं करना है। बनाए रखना है। एक बार एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु से कहा—'महाराज! आप मूर्तियों को समाप्त कर रहे हैं, उठा रहे हैं।' आचार्य भिक्षु ने कहा—'मैं कौन हूं मूर्तियों को समाप्त करने वाला, मूर्तियों को उठाने वाला। मैं तो मूर्ति को मूर्ति मानता हूं, चेतना को चेतना मानता हूं और जड़ को जड़ मानता हूं और कुछ नहीं करता।' ध्यान के द्वारा आपको और कुछ नहीं करना है, न पदार्थ को छोड़ना है और न अपने आपको छोड़ना है। केवल इतना ही करना है कि हम पदार्थ को पदार्थ के रूप में जानें और अस्तित्व को अस्तित्व के रूप में जानें। वास्तव में करना कुछ भी नहीं है। सचाई का नाम ही है—नहीं करना। सचाई का नाम ही है कि जो जैसा हो उसे वैसा जानो। अपने अस्तित्व में होना सचाई है। स्वयं होता है। करने वाला कौन है? करने वाला कोई नहीं है। यह सारा उपचार है। पदार्थ होता है। दूसरा केवल निमित्त बनता है और वह मान लेता है कि मैंने बहुत बड़ा काम कर लिया। हम सब निमित्त हैं। कोई व्यक्ति उपादान नहीं बनता। कोई भी व्यक्ति इतना क्षम नहीं है कि वह उपादान को बदल दे। ईश्वर में भी वह शक्ति नहीं है। न वैज्ञानिक उपादान को बदल सकता है और न ध्यान योगी उपादान को बदल सकता है। यह सारा नाटक निमित्तों का है। हम निमित्तों का अभिनय करते चले जा रहे हैं और उसमें अपने कर्तृत्व को मानते चले जा रहे हैं। हमारा सारा कर्तृत्व निमित्तों का कर्तृत्व है, उपादान का कर्तृत्व नहीं है। यदि कोई

व्यक्ति अचेतन को चेतन बना दे या चेतन को अचेतन बना दे तो मानना होगा कि उसने उपादान का परिवर्तन किया है। पर ऐसा न हुआ है, और न होगा। आज के वैज्ञानिक जो जीन्स बनाते हैं, वे मात्र पर्यायों के परिवर्तन हैं, व्यवस्था का परिवर्तन है। उपादान का परिवर्तन नहीं है। आज शंकर बाजरा, कलमी आम होते हैं। यह दो नस्लों के संयोग से तीसरी जाति का उत्पादन है। खच्चर भी एक तीसरी जाति है। वह न घोड़ा है और न गधा। खच्चर तीसरी जाति का पशु है। सर्वत्र मिश्रण ही मिश्रण। वनस्पति में मिश्रण, पशुओं में मिश्रण। क्या यह सब उपादान का परिवर्तन है? नहीं, यह केवल निमित्तों का ही परिवर्तन है। न चेतना में परिवर्तन हुआ है और न पदार्थ के पुद्गल में परिवर्तन हुआ है। केवल संयोग के परिवर्तन से यह घटित होता है। उपकरणों में परिवर्तन हो जाता है। रस और गंध में परिवर्तन हो जाता है। एक ही लता पर सफेद फूल भी आते हैं और पीले फूल भी आते हैं। सफेद फूल वाली और पीले फूल वाली—दो भिन्न-भिन्न लताओं से यह बेल निर्मित हुई है यह एक तीसरी जाति बन गई। यह भी उपादान का परिवर्तन नहीं है। केवल निमित्तों का परिवर्तन है। हमारे शरीर, मस्तिष्क, इन्द्रिय तथा बुद्धि के जितने परमाणु हैं, उनमें थोड़ा-सा परिवर्तन किया जाए, तब सब कुछ बदल सकता है। रंग और आकार बदल सकता है, गंध और रस बदल सकता है। इसे उपादान का परिवर्तन नहीं कहा जा सकता।

डॉ॰ इरविन, डॉ॰ स्वेडिन जेम्स कहते हैं कि जो भौतिकी वैज्ञानिक हैं, वे इस बात में उलझे हुए हैं कि पदार्थ का मूल कण क्या है? वे केवल इस बात को ही सुलझाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह कोई बहुत महत्त्व का प्रश्न नहीं है। मूल गुत्थी यह है कि पदार्थ का मूल चेतन है या अचेतन? चेतन या अचेतन की पारस्परिक गुत्थी को कैसे सुलझाया जा सकता है? यह विज्ञान के सामने सबसे बड़ी चुनौती है। विज्ञान ज्ञाता के बारे में अभी भ्रान्त है। उनके सामने प्रश्न है कि क्या चेतन सत्ता है या नहीं? वर्तमान में पदार्थ के विषय में अनेक दृष्टियां स्पष्ट हुई हैं किन्तु चेतन के विषय में अब भी उलझनें हैं। ये उलझनें समाप्त

नहीं हो सकतीं, क्योंकि चेतन को जानने का एक मात्र उपाय है—स्वयं का अनुभव, अपने संवेदनों का निर्मलीकरण और उर्ध्वीकरण। जब तक हम अपने संवेदनों को निर्मल नहीं करेंगे, राग-द्वेष और मूर्च्छा का जीवन जीएंगे, तब तक आत्मा के बारे में धारणा सही नहीं होगी, तब तक ज्ञाता के विषय में नहीं जाना जा सकेगा। आज धार्मिक लोग आत्मा के प्रश्न को शास्त्रों के माध्यम से हल करना चाहते हैं, तर्क के द्वारा समाधान देना चाहते हैं, आत्मा को वाचिक प्रयत्नों के द्वारा, वाङ्मय द्वारा जानना चाहते हैं, यह विचित्र स्थिति है। एक ओर यह कहा जाता है कि आत्मा तर्कातीत, पदातीत और शब्दातीत सत्य है, दूसरी ओर हम उसे तर्क के द्वारा, पद के द्वारा, शब्द के द्वारा पाना चाहते हैं, यह कितना विरोधाभास है। जो तर्कातीत है वह तर्क के द्वारा नहीं पाया जा सकता है। जो पदातीत है, वह पद के द्वारा नहीं पाया जा सकता। जो शब्दातीत है, वह शब्द के द्वारा नहीं पाया जा सकता। ऐसी स्थिति में हम उस परम सत्ता को इन माध्यमों से कैसे जान सकते हैं, पा सकते हैं?

आत्मा को हम स्वयं खोजें। हम केवल शास्त्रों पर निर्भर न रहें, केवल मान्यताओं पर निर्भर न रहें, किन्तु स्वयं खोजें। जब तक हम स्वयं नहीं खोजेंगे तब तक पता नहीं चलेगा। शास्त्रों में लिखा है कि आत्मा है। यह हमारे लिए शाब्दिक सचाई है। ध्यान का प्रयोग किया, अपनी अन्तश्चेतना को जगाया, साक्षात्कार किया और जाना कि आत्मा है, तब वह अपनी सचाई बन जाती है, अनुभव की सचाई बन जाती है। किन्तु शब्दों को पढ़ने वाले के लिए वह केवल शाब्दिक सचाई ही बनी रहती है। बच्चा जल में प्रतिबिम्बित चांद को देखता है और उसे पकड़ने का प्रयत्न करता है। वह मूल चांद नहीं है, उसका केवल प्रतिबिम्ब है। शब्द भी उस आत्मा का वाचक है, प्रतिबिम्ब है, मूल नहीं है। यदि हम मूल को देखने का प्रयत्न नहीं करेंगे और केवल प्रतिबिम्ब को ही देखते रहेंगे तो हमें प्रतिबिम्ब ही हाथ लगेगा, मूल नहीं मिलेगा। सत्य को खोजने का अर्थ ही है कि हम प्रतिबिम्ब पर न अटकें, आगे बढ़ें और मूल तक पहुंचने का प्रयत्न करें। यह हो सकता है कि जिसने

आकाश में कभी चांद को नहीं देखा, उसमें प्रतिबिम्ब को देखकर जिज्ञासा जाग जाए कि मूल क्या है? इसी प्रकार जिसने आत्मा को न जाना हो, वह शास्त्रों में आत्मा शब्द को पढ़कर यह जानने का प्रयत्न करे कि यह क्या है? मूल क्या है? तो मैं कह सकता हूं कि उस प्रतिबिम्ब ने उसमें जिज्ञासा उभारी है। ऐसा होता है तो वह उस सीमा तक उचित है। किन्तु प्रतिबिम्ब को ही सब कुछ मानकर बैठ जाना, मूल की जिज्ञासा ही न होना, उचित नहीं है।

ध्यान के द्वारा हम प्रतिबिम्ब की दुनिया से हटकर मूल तक पहुंच सकते हैं। यह एक सशक्त माध्यम है। आज सबसे बड़ी समस्या है—प्रतिबिम्ब की समस्या। हम प्रतिबिम्बों की छाया पर ही अपनी यात्रा चला रहे हैं। मूल बेचारा कहीं पड़ा है। बिम्ब कहीं पड़ा है और प्रतिबिम्ब पूजा जा रहा है।

एक मार्मिक कहानी है। एक कलाकार ने अपनी सारी बुद्धि लगाकर एक चित्र बनाया। उसमें उसने एक ग्रामीण महिला को चित्रित्त किया था। चित्र अत्यन्त स्वाभाविक था। ग्रामीण महिला सुन्दरता की प्रतिमूर्ति थी। सहज सौन्दर्य, प्राकृतिक सौन्दर्य। शहर में चित्रों की प्रदर्शनी लगी थी। उसमें वह चित्र भेजा गया। हजारों की भीड़। चित्रों की बिक्री प्रारंभ हुई। महिला के उस चित्र पर पचास हजार की बोली लगी। एक व्यक्ति ने उसे खरीद लिया। वह चित्र को लेकर प्रदर्शनी से बाहर निकला। एक स्त्री दरवाजे पर बैठी बिलख रही थी। वह ५-१० पैसों की भीख मांग रही थी। पचास हजार में चित्र को खरीदने वाले ने उस महिला को दुत्कार दिया। महिला ने चित्र देखा, वह स्तब्ध रह गई। वह चित्र उसी का था। बिम्ब ५-१० पैसों के लिए रो रहा है और प्रतिबिम्ब बिक रहा है पचास हजार में। कैसी विडम्बना!

ध्यान के अतिरिक्त ऐसा कोई माध्यम नहीं है जो प्रतिबिम्बों से हटाकर मूल तक पहुंचा दे। प्रतिबिम्ब को बिम्ब का मूल्य नहीं दिया जा सकता। बिम्ब बिम्ब होता है और प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्ब।

२. तनाव और ध्यान (१)

१. • दर्शन का नया आयाम—अनुभव और प्रयोग।
२. • दो प्रकार के पदार्थ—

हेतुगम्य	अहेतुगम्य
	* अनुभवगम्य
	* स्व-संवेदनगम्य
	* प्रयोगगम्य
	* वैज्ञानिक प्रयोग कर रहे हैं
	* आध्यात्मिक लोगों ने प्रयोग किए थे।

३. • वनस्पति जीव अहेतुगम्य। उसे अहेतुगम्य करने के लिए वैज्ञानिक प्रयोग।
४. • वनस्पति में श्रुतज्ञान। उसकी सिद्धि में व्याख्याकारों को कठिनाई। वैज्ञानिक प्रयोग से उस कठिनाई का समाधान उपलब्ध हो गया।
५. • वनस्पति में संवेदन है, स्मृति है, पहचान है।
६. • ध्यान द्वारा तनाव समाप्त होता है। तनाव का आदि-बिन्दु भाव है, उस पर जागने से तनाव समाप्त होता है।

हम सत्य की खोज के लिए ध्यान कर रहे हैं। सत्य की खोज दो साधनों से हो सकती है। एक साधन है तर्क और दूसरा साधन है अनुभव या साक्षात्कार। पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—हेतुगम्य और अहेतुगम्य। दूसरे शब्दों में—तर्कगम्य और तर्कातीत। पदार्थ के दो रूप हैं--स्थूल और सूक्ष्म। पदार्थ के मूल पर्याय हमारी इंद्रियों, मन और बुद्धि के विषय बनते हैं। तर्क के द्वारा उनकी व्याख्या की जा सकती है,

किन्तु पदार्थ का जो सूक्ष्म स्वरूप है, तर्कातीत स्वरूप है, वह इन्द्रिय, मन और बुद्धि का विषय नहीं बनता। सूक्ष्म पर्याय तर्कातीत होते हैं। वे इन्द्रिय, मन और बुद्धि से नहीं पकड़े जा सकते।

मध्यकाल में दर्शन का स्वरूप बदल गया। उस पर तर्क हावी हो गया और यह मान लिया गया कि दर्शन को तर्क द्वारा ही समझा जा सकता है। दर्शन और तर्क–दोनों पर्यायवाची जैसे बन गए। किन्तु तर्क दर्शन का बहुत छिछला भाग है। समुद्र के तट को पूरा समुद्र नहीं कहा जा सकता। वह समुद्र का छिछला भाग है जहां सीपियां ही उपलब्ध होती हैं। समुद्र की गहराई में कुछ और ही उपलब्ध होता है। वहां रत्न मिलते हैं। दर्शन की गहराई तर्क से नहीं नापी जा सकती। तर्क के द्वारा दर्शन की व्याख्या नहीं की जा सकती। दर्शन का एक उथला भाग स्थूल पर्यायों को अभिव्यक्ति देता है। वह भाग भले ही तर्क के द्वारा समझा जा सकता हो किन्तु सूक्ष्म पर्याय की अभिव्यंजना तर्क के द्वारा नहीं हो सकती। वह केवल अनुभव के द्वारा हो सकती है। मध्यकाल की धारणा ने हमारी अनुभव की चेतना को सुला दिया। हम केवल तर्क के मन्थन में ही उलझ गए। स्व-अनुभव और प्रयोग-परीक्षा की बात ही छूट गई, विस्मृत हो गई। विज्ञान ने इसीलिए विकास किया कि वह केवल सिद्धांत के आधार पर नहीं चला, केवल तर्क के आधार पर नहीं चला। उसने सिद्धांत और तर्क का सहारा लिया, किन्तु उस पर ही आधृत नहीं रहा। दर्शन इसलिए कोई नई देन नहीं दे सका कि वह केवल तर्क के सहारे चलता रहा। उसने केवल शास्त्र, वाङ्मय और सिद्धांत का ही सहारा लिया। आज के विज्ञान की दौड़ में दर्शन इतना पीछे रह गया कि मानो दोनों में कोई सम्बन्ध ही न हो। वास्तव में दर्शन और विज्ञान दो नहीं हैं। विज्ञान दर्शन से भिन्न नहीं है और दर्शन विज्ञान से भिन्न नहीं है। दर्शन पिता है तो विज्ञान उसका पुत्र है। पिता पुत्र से या पुत्र पिता से सर्वथा भिन्न नहीं हो सकता। किन्तु आज वे सर्वथा भिन्न प्रतीत हो रहे हैं। ऐसा नहीं है कि यह केवल दो पीढ़ियों का ही अन्तराल है, किन्तु ऐसा लगता है कि मानो दोनों को स्वतंत्र मार्ग है। उनमें कोई भाई-चारा नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं है।

पिता पुत्र का सम्बन्ध तो है ही नहीं। आज दर्शन को नया आयाम देने की जरूरत है। यदि उसको नया आयाम नहीं दिया जायेगा तो दर्शन सर्वथा प्रयोगशून्य और अर्थशून्य बन जाएगा। मैं स्वयं दर्शन के ग्रन्थ लिखता रहा, दर्शन पर चिन्तन-मनन करता रहा, किन्तु वह सारा का सारा तर्क की सीमा में था। तर्क की परिक्रमा किए हुए था। तर्क की सीमा को लांघकर स्वयं के अनुभव की बात कह सकूं, ऐसा नहीं हुआ। ऐसा लगता भी नहीं था कि इस तर्क-सीमा का अतिक्रमण करना चाहिए। किन्तु जब अध्यात्म की सीमा में प्रवेश कर अनुभव किया तब लगा कि जो दर्शन लिखा जा रहा है, वह दर्शन नहीं है, किन्तु वह मात्र शास्त्रों का और ग्रन्थों का समाकलन या वर्तमान की भाव-भाषा में प्रस्तुतीकरण है। इस संदर्भ में मुझे अनुभव हुआ कि दर्शन को नया आयाम मिलना चाहिए। वह मिल सकता है केवल अनुभव के धरातल पर, प्रयोग और परीक्षण के धरातल पर। जब से दार्शनिकों ने स्व-अनुभव और स्व-संवेदन तथा प्रयोग और परीक्षण की बात छोड़ दी, तब से दर्शन का विकास अवरुद्ध हो गया। उसका उन्मेष रुक गया। वह जहां था वहीं रुक गया। ऐसी स्थिति में पुराने ग्रन्थों की व्याख्या में भी कठिनाई होने लगी। एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूं। जैन सूत्रों में वनस्पति के जीवत्व-सम्बन्धी अनेक चर्चा-स्थल हैं। इस विषय की विशद चर्चा अन्यत्र दुर्लभ है। आगमकार दार्शनिक थे, स्वयं द्रष्टा थे। उन्होंने साक्षात्कार के आधार पर निरूपण किया। यह अनुभव की बात थी, केवल ज्ञान की बात नहीं थी। साक्षात्कार से उपलब्ध सत्य का निरूपण था, केवल बौद्धिक व्यायाम नहीं था। वह उनका अपना 'स्व' था। किन्तु आगे के आगम-व्याख्याकार तर्क के जगत् में जन्मे थे। उनका अपना अनुभव नहीं था। उनका अपना संवेदन नहीं था। वनस्पति जैसे अव्यक्त चेतना वाले प्राणियों के साथ उनका साक्षात् संपर्क नहीं था। इसलिए साक्षात् द्रष्टाओं द्वारा निरूपित तथ्यों की व्याख्या में भी उन्हें कठिनाई महसूस होने लगी। वनस्पति के जीवों में दो ज्ञान होते हैं—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। व्याख्याकारों को मतिज्ञान सम्बन्धी व्याख्या में बहुत कठिनाई नहीं हुई। क्योंकि वह ज्ञान इन्द्रिय-चेतना से सम्बन्धित है। इन्द्रिय चेतना वनस्पति

में होती है। पांचों इन्द्रियां नहीं होतीं, फिर भी एक स्पर्शन इन्द्रिय तो होती ही है। इसलिए व्याख्याकारों ने संतोष किया, उसमें स्पर्श इन्द्रिय है तो मतिज्ञान को मानने में कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु जब प्रश्न उठा कि वनस्पति में श्रुतज्ञान भी है, तब उसकी व्याख्या कठिन हो गई। क्योंकि श्रुतज्ञान तब होता है जब भाषा हो, श्रोत्रेन्द्रिय हो, मन की विकसित अवस्था हो। किन्तु वनस्पति में न भाषा है, न श्रोत्रेन्द्रिय है और न मन की विकसित अवस्था ही है। उसमें दीर्घकालिकी संज्ञा नहीं होती जो अतीत और भविष्य का ज्ञान संकलित कर सके और वर्तमान में उपलब्ध ज्ञान की सामग्री को अतीत और भविष्य के साथ संतुलित कर सके। वह क्षमता वनस्पति के जीवों में नहीं है। ऐसी स्थिति में उनमें श्रुतज्ञान कैसे हो सकता है? उन्होंने तर्क का सहारा लिया, और तर्क के द्वारा इस प्रस्थापना को सहारा देने का प्रयत्न भी किया। उनके पास बुद्धि थी, तर्कबल था। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि वनस्पति में श्रुतज्ञान स्पष्ट नहीं है, फिर भी उसमें अस्पष्ट श्रुतज्ञान है। उन्होंने उदाहरण देते हुए कहा—वनस्पति में क्रोध की संज्ञा होती है, आहार की संज्ञा होती है, भय और मैथुन की संज्ञा होती है। परिग्रह की संज्ञा होती है। यह सारा कथन बुद्धि के बल पर, तर्क के बल पर था। इसमें साक्षात्कार जैसी बात नहीं थी। यदि दर्शन के साथ साक्षात्कार की प्रक्रिया जुड़ी होती, प्रयोग और परीक्षण की बात जुड़ी होती तो वे आचार्य वनस्पति के सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्री के आधार पर और नया कुछ दे सकते। पूर्व में नया जोड़ देते। जितने तथ्य वैज्ञानिक दे रहा है, उतने तथ्य वे ऋषि भी दे सकते थे। किन्तु ऐसा इसलिए नहीं हो रहा है कि साक्षात्कार की प्रक्रिया छूट गई है। वर्तमान में हमारे पास शब्द, तर्क और चिन्तन के सिवाय कोई ज्ञान नहीं है जिससे कि साक्षात्कार की बात की जा सके। इससे हमारी चेतना कुण्ठित हो गई, दर्शन लंगड़ा बन गया, उसका एक पैर टूट गया या काट दिया गया। साक्षात्कार वाला पैर कट गया और तर्क वाला पैर लंगड़ाता-लंगड़ाता चलने लगा। सबसे शक्तिशाली पैर था अनुभव का। उसके कट जाने पर तर्क की बैसाखी के सहारे दर्शन चलता रहा। बैसाखी की अपनी

मजबूरी होती है। वह एक सीमित साधन है। उसके सहारे चलने वाला जल्दी थक जाता है। उसका पैर ही नहीं थकता, उसके कंधे और हाथ भी थक जाते हैं। दर्शन की यह स्थिति बन गई। वह लंगड़ा हो गया।

वैज्ञानिक जगत् में जब यह स्थापना हुई कि वनस्पति सजीव है, उसमें चेतना है, तब से विविध प्रयोग और परीक्षण होने लगे। डॉ॰ जगदीशचन्द्र बोस से लेकर आज तक प्रयोग चलते रहे और प्रतिदिन नयी-नयी जानकारियां हस्तगत होती गईं, जिनकी सामान्य आदमी कल्पना भी नहीं कर सकता। डॉ॰ वेकस्टन ने वनस्पति के विषय में बहुत प्रयोग किए। उसने यह स्थापना की कि वनस्पति में बहुत शक्तिशाली संवेदना होती है। वह मनुष्य के भावों को इतनी सूक्ष्मता से पकड़ सकती है कि आदमी भी उनको इतनी सूक्ष्मता से नहीं पकड़ सकता। वह प्रयोग कर रहा था। एक दिन उसकी अंगुली कट गई। खून रिसने लगा। पौधे पर लगे गेल्वोनोमीटर की सूई तत्काल घूमी और पौधे ने अपनी व्यथा अंकित कर दी। उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित कर दी। डॉ॰ वेकस्टन यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया। उसने सोचा—इस सुई के घूमने में कोई आकस्मिक घटना तो नहीं घटी है। फिर उसने प्रयोग किया। एक वटवृक्ष पर पोलीग्राफ लगा दिया। माली आया। वृक्ष ने कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। सुई नहीं घूमी। कंपन नहीं हुआ। इतने में ही एक लकड़हारा हाथ में कुल्हाड़ी लेकर आया। सारा वृक्ष कांप उठा। तत्काल सुई घूमने लगी। ग्राफ पर भय का अंकन हुआ। डॉ॰ वेकस्टन ने देखा। उसे बहुत आश्चर्य हुआ। वृक्ष ने कैसे पहचाना कि वह माली था, उसे पोषण देने वाला और दूसरा लकड़हारा था, उसे काटने वाला? तीसरी बार भी ऐसा ही हुआ। कनाडा की एक महिला डॉ॰ वेकस्टन से मिलने आई। वह शरीरशास्त्री थी। वह पौधों पर प्रयोग करती थी। वह पौधों को सुखाकर ही नहीं, भट्ठी में भूनकर मार डालती थी। कई महीनों से यह प्रयोग चल रहा था। ज्यों ही वह डॉ॰ वेकस्टन के कमरे में आई, वहां के पौधों पर लगे गेल्वोनोमीटर की सुइयां घूमने लगीं। उनके अंकन से ये स्पष्ट हो रहा था कि सभी पौधे उस महिला की उपस्थिति में भयाक्रान्त हो गये थे। डॉ॰ वेकस्टन ने देखा। उसने महिला से पूछा—'क्या

तुम पेड़-पौधे के अहित की सोचती रहती हो?' महिला ने कहा—'हां, मेरा प्रयोग ही ऐसा है कि मुझे पेड़-पौधों को जलाना होता है, काटना होता है। अभी भी मैं यह सोच रही थी कि पौधों को भूनकर उनका वजन लूं।' जब तक वह महिला उस कमरे में रही, सुई घूमती रही और पौधे यह दिखाते रहे कि वे सब इस महिला से भयभीत हैं। जैसे ही वह कमरे से बाहर गई, मीटर की सुई स्थिर हो गई। पौधे शान्त हो गए। भय निकल गया।

पेड़-पौधे मनुष्य की भावनाओं को बहुत सूक्ष्मता से पकड़ लेते हैं।

रूस के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक वी॰ एन॰ पुस्किन ने एक प्रयोग किया। तानिया नाम की एक सुन्दर युवती को सम्मोहित किया और उससे अनेक प्रश्न पूछे। वह लड़की उत्तर देती गई। प्रश्नों की झड़ी लगा दी। लड़की प्रश्नों से बैचेन हो, गलत उत्तर देने लगी। जैसे ही उसने गलत उत्तर दिया, पोलिग्राफ की सुई ने उसका तत्काल खंडन कर डाला। ग्राफ पर ऐसा अंकन हुआ कि उससे सहज पता लग गया कि लड़की झूठ बोल रही है। पुस्किन ने निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य के नाड़ी-संस्थान के साथ पौधों का कोई गहरा सम्बन्ध है।

ऐसे प्रयोग अनेक स्थानों पर हो रहे हैं। वनस्पति के विषय में अनेक नयी-नयी जानकारियां प्रकट हो रही हैं।

मनुष्य और वनस्पति—दोनों चेतन हैं। मनुष्य की चेतना विकसित है, संकल्प प्रस्फुटित है। उसकी इन्द्रियां स्पष्ट हैं, इन्द्रियों के संस्थान स्पष्ट हैं। मन का संस्थान बन गया। बुद्धि का केन्द्र बन गया। वनस्पति में यह सब नहीं है, किन्तु जानने वाली आत्मा है, वह उसमें भी विद्यमान है। मनुष्य अपने विशिष्ट संरचित संस्थानों के द्वारा जानता है और वनस्पति अपने समूचे शरीर से जानती है। आत्मा समूचे शरीर में विद्यमान है। आत्मा समूचे शरीर के द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करती है। भगवती सूत्र में बतलाया गया है—'सव्वेणं सव्वे'—हमारी चेतना के असंख्य प्रदेश हैं। प्रत्येक प्रदेश के द्वारा आत्मा जानती है। किसी एक ही प्रदेश से नहीं जानती। सब प्रदेशों से जानती है। आप यह न मानें कि हम आंखों से ही देख सकते हैं, मस्तिष्क से ही सोच सकते हैं। हम समूचे शरीर

से देख सकते हैं, सोच सकते हैं। एक्यूपंक्चर के वैज्ञानिक ने हमारे शरीर में सात सौ चैतन्य केन्द्र खोज निकाले हैं। जो मस्तिष्क में है, वही केन्द्र अंगूठे में भी है। जो मस्तिष्क में है; वही क्रेन्द्र अंगुलियों में भी है। पिनियल, पिच्यूटरी और थाइराइड के जो स्थान हैं, वे स्थान हाथों और पैरों में भी हैं। हमारा समूचा शरीर चेतना का केन्द्र है। उसमें जानने की अपार क्षमता है। कान ध्वनि पकड़ने का माध्यम है। किन्तु जिनके कान नहीं हैं, वे समूचे शरीर से ध्वनि को पकड़ लेते हैं। शरीर की संवेदना इतनी शक्तिशाली हो जाती है कि समूचे शरीर से ध्वनि को पकड़ लेते हैं। ध्वनि को पकड़ने की जरूरत भी नहीं है। ध्वनि पकड़ने के माध्यम से कान को विकसित कर हमने ध्वनि को सीमित कर दिया। हम कानों पर इतने निर्भर हो गए कि हम केवल कानों से ही सुन सकते हैं। अतीन्द्रिय क्षमताएं विस्मृत हो गईं। ध्वनि तब होती है जब कोई बोलता है। ध्वनि कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात है तरंग। जो व्यक्ति तरंगों को, सूक्ष्म प्रकम्पनों को पकड़ सकता है वह जितना जान सकता है, उतना ध्वनि को सुनने वाला नहीं जान सकता। हम इन्द्रियों पर इतने निर्भर हो गए कि जब कानों में कोई शब्द पड़ता है तभी हम सुन सकते हैं। कान की क्षमता सीमित है। अमुक फ्रीक्वेन्सी के शब्द ही सुन पाता है। पकड़ पाता है। किन्तु जो व्यक्ति प्रकम्पनों को पकड़ सकता है, वह सूक्ष्म ध्वनियों को पकड़ सकता है, जान सकता है। तीर्थंकर जब बोलते हैं, तब सुनने वाले उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ जाते हैं। पशु भी अपनी भाषा में समझ जाते हैं। यह कैसे होता है? इसके पीछे बहुत बड़ा रहस्य छिपा हुआ है। तीर्थंकर बोलते नहीं, दिव्य ध्वनि निकलती है, यदि हम इस बात को मान लें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थंकर के वाणी के नहीं, मन के परमाणु निकलते हैं, उनमें स्पंदन होता है। उन स्पंदनों को लोग पकड़ते हैं और वे उनको अर्थ-बोध करा देते हैं। भाषा के पुद्गल नहीं पकड़े जा सकते, तरंगों को पकड़ा जा सकता है, स्पंदनों को पकड़ा जा सकता है। हमारे पास तरंगों को पकड़ने की क्षमता अधिक है, भाषा को पकड़ने की क्षमता कम है। जब हमने यह मान ही लिया कि कान

ही सुनने का साधन हैं तब हमने अन्य क्षमताओं को विस्मृत कर दिया। आज का विज्ञान कहता है कि कानों की अपेक्षा दांतों से अच्छा सुना जा सकता है। दांत सुनने के शक्तिशाली साधन हैं। यदि थोड़ा-सा यांत्रिक परिवर्तन किया जाए तो जितना अच्छा दांत से सुना जा सकता है, उतना अच्छा कान से नहीं सुना जा सकता। एक लब्धि का नाम है—अभिन्न-श्रोतो-लब्धि। जो व्यक्ति इस लब्धि से सम्पन्न होता है, उसकी चेतना का इतना विकास हो जाता है कि उसका समूचा शरीर कान, आंख, नाक, जीभ और स्पर्श का काम कर सकता है। उसके लिए कान से सुनना या आंख से देखना आवश्यक नहीं होता। वह शरीर के किसी हिस्से से सुन सकता है, देख सकता है। वह पांचों इन्द्रियों का काम समूचे शरीर से ले सकता है। उसके ज्ञान का स्रोत अभिन्न हो जाता है, व्यापक बन जाता है। समूचा शरीर अभिन्न हो जाता है, व्यापक हो जाता है।

यह अनुभव का पक्ष है। यह तर्क का विषय नहीं बनता। दर्शन ने इसको भुला दिया। उसका परिणाम बहुत विपरीत हुआ। आज फिर से दार्शनिकों को, दर्शन के विद्यार्थियों को, धार्मिक और आध्यात्मिक लोगों को चिन्तन करना चाहिए कि दर्शन को तर्क के कटघरे से निकालकर अनुभव के व्यापक क्षेत्र में कैसे लाया जा सकता है। दर्शन को हम अनुभव के साथ जोड़ने का प्रयत्न करें, जिससे कि दर्शन फिर पिता का स्थान ले सके और अपने पुत्र (विज्ञान) पर नियमन कर सके। नियमन इस अर्थ में कि आज के विज्ञान ने नये-नये सत्यों को खोजा है। उसके नये-नये पर्याय उद्घाटित किए हैं, नये-नये रहस्यों को अनावृत किया है। इस दिशा में वह बहुत सक्षम हुआ है, किन्तु जो मूल ज्ञाता है आत्मा, उसको मूल स्थान दिलाने में सफल नहीं हुआ है। वह भटका हुआ है। जानने के बाद प्रत्याख्यान की बात आती है, छोड़ने की बात आती है। यह बात विज्ञान को भी आज उपलब्ध नहीं है। यदि दर्शन फिर सक्षम बन सकें, तर्क और अनुभव—दोनों का उचित प्रयोग कर सकें तो विज्ञान का पिता दर्शन पुनः शक्तिशाली हो सकता है। तब ही वह विज्ञान का नया आयाम दे सकता है। दर्शन के साथ स्व-अनुभव

की बात जोड़ी जाए। विज्ञान का इतना विकास होने पर भी आदमी अशान्ति का अनुभव कर रहा है और अधिकाधिक तनावग्रस्त होता जा रहा है। विज्ञान के पास ऐसा कोई उपाय नहीं है कि वह आदमी को तनाव से सर्वथा मुक्त कर सके। किन्तु दर्शन मनुष्य को तनावमुक्त करने में सक्षम है। तर्कों से अनुप्राणित दर्शन यह नहीं कर सकता। यह वह दर्शन कर सकता है जो अध्यात्म से अनुप्राणित है, स्वानुभव संरचित है। दर्शन के इस पक्ष को मैं प्रस्तुत करना चाहता हूं।

जगत् क्या है? द्रव्यों का समवाय ही जगत् है। उस द्रव्य समवाय में एक द्रव्य है—जीवास्तिकाय। जीवों का इतना बड़ा संघटन है कि जगत् के आकाश का एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है जो जीवशून्य हो। समूचा जगत् जीवों के समवाय से भरा पड़ा है। आकाश के एक-एक प्रदेश में असंख्य जीव हैं। मेरी अंगुली हिल रही है, यह शून्य आकाश में नहीं हिल रही है। इस अंगुली के आस-पास ही नहीं, भीतर भी असंख्य जीव बैठे हैं। आकाश के एक-एक प्रदेश में, एक-एक कण में असंख्य जीव बैठे हैं। उनके चैतन्य के प्रदेश व्याप्त हो रहे हैं। तीन बातें हैं—द्रव्यमय संसार, द्रव्यों में जीवास्तिकाय और जीवास्तिकाय में एक जीव। एक जीव है किन्तु वह अव्यक्त है। हम अव्यक्त से व्यक्त जगत् को जानना चाहते हैं। हम अव्यक्त सृष्टि की ओर चलना चाहते हैं। द्रव्य अव्यक्त, जीवास्तिकाय अव्यक्त और एक जीव भी अव्यक्त। हमारे सामने व्यक्त नहीं है। एक जीव है। उस जीव के आस-पास भाव-संस्थान हैं। एक भाव-संस्थान चेतना का निर्वहन करता है, चेतना की धारा को बाह्य जगत् में संक्रान्त करता है। एक वह भाव-संस्थान है जो चेतना के साथ जुड़ी हुई प्रतिक्रियाओं के प्रवाह को इस जगत् में प्रस्तुत करता है। इसका नाम है कर्म। दो प्रवाह हो गए। एक है चेतना का प्रवाह और दूसरा है चेतना की प्रक्रियाओं का प्रवाह। भाव-संस्थान से जुड़ा हुआ है कर्म, प्रतिक्रियाओं का संस्थान। उस कर्म से जुड़ा हुआ है मोहनीय, मूर्च्छा। द्रव्य, जीवास्तिकाय, जीव, भाव और कर्म—यह सारा का सारा अव्यक्त संसार है। यह हमारे सामने व्यक्त नहीं है। अब हम प्रेक्षाध्यान के माध्यम से व्यक्त के बिन्दु पर आ रहे हैं, मूर्च्छा का हमें पता चलता है। इसे

हम देख पाते हैं, अनुभव कर पाते हैं, किन्तु मूर्च्छा भी पूरी व्यक्त नहीं है। मोहनीय भी पूरा व्यक्त नहीं है। मूर्च्छा के बाद आता है राग, थोड़ा व्यक्त होता है। मूर्च्छा से, पैदा होता है राग। द्वेष का कोई स्वतंत्र स्थान नहीं है। फ्रायड ने 'काम' (Sex) को प्राणीमात्र की मौलिक मनोवृत्ति माना है। राग और सेक्स (काम) में भाषा-भेद है, अर्थ-भेद नहीं है। फ्रायड ने जिस संदर्भ में 'काम' की व्याख्या की और आगम ने जिस संदर्भ में राग की व्याख्या की, यदि हम संदर्भों को सही समझ लेते हैं तो दोनों में कोई अन्तर नहीं आता। अन्तर केवल इतना ही आता है कि फ्रायड का ज्ञान केवल सेक्स तक ही पहुंच पाया, आगे नहीं जा सका। आगमकार सूक्ष्मज्ञानी थे। उनका अपना अनुभव था, साक्षात्कार था। वे राग तक पहुंचकर ही नहीं रुके आगे बढ़े और द्रव्य तक पहुंच गए। काम की वृत्ति को मूल मानकर मनुष्यों के व्यवहारों की व्याख्या करने में आज मनोविज्ञान के सामने अनेक कठिनाइयां हैं। वे कठिनाइयां इसलिए समाहित नहीं होतीं कि मनोविज्ञान के पास 'काम' सेक्स से आगे व्याख्या करने का कोई आधार ही नहीं है, कोई सूत्र ही नहीं है। किन्तु हमारे पास राग से पूर्व व्याख्या करने के बहुत स्पष्ट आधार हैं; सूत्र हैं। राग के पीछे मूर्च्छा है। मूर्च्छा के पीछे कर्म-शरीर है, कर्म है। कर्म के पीछे हमारा भाव-संस्थान है। भाव-संस्थान के पीछे चेतना का प्रहार है इसलिए मनोविज्ञान के सामने आज जो-जो समस्याएं हैं, उन सब समस्याओं का समाधान करने वाले सूत्र और आधार हमें उपलब्ध हैं। मनोविज्ञान के पास ये साधन उपलब्ध नहीं हैं।

उधर हम काम से चले और इधर हम राग से चले। आगे दोनों विचारधाराएं समानान्तर रेखाओं पर चलती हैं। राग से उत्पन्न होता है लोभ। लोभ से उत्पन्न होती है माया। माया से उत्पन्न होता है अहंकार और अहंकार से उत्पन्न होता है क्रोध। हमारे जगत् की सबसे अधिक व्यक्त चेतना है—क्रोध-चेतना। अहंकार चेतना सबसे सूक्ष्म है और माया-चेतना उससे भी अधिक सूक्ष्म है। इसीलिए माया का एक नाम है—गूढ़, अस्पष्ट। लोभ-चेतना उससे भी सूक्ष्म है और राग-चेतना उससे भी सूक्ष्म है, अव्यक्त है। सबसे व्यक्त है—क्रोध-चेतना। मनुष्य जब क्रोधी

होता है तब उसके होठ फड़फड़ाने लगते हैं, आंखें तमतमा जाती हैं, भृकुटी तन जाती है, सारा शरीर कांपने लगता है। किन्तु जब आदमी अहंकार करता है, माया करता है, लोभ में होता है तब कुछ भी पता नहीं चलता। शरीर पर इनकी अभिव्यक्ति नहीं होती। यह हमारा अव्यक्त जगत् है। हम अव्यक्त से व्यक्त होते-होते जब क्रोध-चेतना पर आते हैं तब पूरे व्यक्त बन जाते हैं। हम अव्यक्त जगत् से चले और व्यक्त जगत् तक पहुंच गए। हम द्रव्य जगत् से चले और क्रोध की चेतना तक पहुंच गए। हमारे व्यक्तित्व का विस्तार हुआ और हमारा एक-एक पर्याय प्रकट होता चला गया। इसीलिए आगमकारों ने क्रम दिया—क्रोध, मान, माया और लोभ। यह क्रम निरर्थक नहीं है। उन्होंने लोभ, मान, माया, क्रोध—यह क्रम क्यों नहीं रखा? शब्दों का क्रम ऐसे ही नहीं रख दिया जाता। हम गहराई से सोचें तो सचाई का पता लग सकता है। जब हम व्यक्त से अव्यक्त की ओर जाते हैं तब पहले क्रोध आता है। क्रोध से चलेंगे तो अहंकार होगा। क्रोध अहंकार में विलीन हो जाएगा। अहंकार से चलेंगे तो अहंकार माया में विलीन हो जाएगा। माया से चलेंगे तो वह लोभ में विलीन हो जाएगी।

तनाव के बारे में मैंने चर्चा प्रारंभ की। उसके कुछेक पहलुओं को आज छुआ है। विस्तृत चर्चा आगे करूंगा।

प्रश्न १. भगवान महावीर की भाषा को सब अपने-अपने ढंग से समझ लेते थे। उन ध्वनि-तरंगों को समझने का उपाय क्या है?

उत्तर—तरंगों को समझने का वही उपाय है जो हम कर रहे हैं। जब तक विचारों और संवेदनों पर नियंत्रण नहीं होगा तब तक तरंगों की भाषा नहीं समझी जा सकेगी। हम इसीलिए लेश्या की चर्चा कर रहे हैं। लेश्या की भाषा तरंगों की भाषा है। जो व्यक्ति लेश्या की भाषा को समझने लग जाता है वह तरंगों की भाषा को समझ सकता है। जब तरंगों की भाषा मन की भाषा में, चित्रों की भाषा में आ जाती है, तब हम उसे समझ सकते हैं। जब चित्रों की भाषा अक्षरों की भाषा में बदल जाती है, तब हम अपनी चेतना को समझ सकते हैं, उसे ग्रहण कर सकते हैं। यदि हमें तरंगों का विकास करना है तो हमें लेश्या जगत्

में जाना होगा और लेश्या जगत् में तभी जाया जा सकता है जब हम अपने विचारों और संवेदनाओं पर नियंत्रण करना सीख जाएं। हम श्वास को देखने का अभ्यास करते हैं। श्वास के सिवाय और कुछ न देखें, श्वास को ही देखें। यह संवेदन और विचारों के नियंत्रण का मार्ग है। यह अभ्यास जैसे-जैसे विकसित होगा, तरंगों की भाषा को समझने में भी उतने ही सक्षम होते जाएंगे।

प्रश्न २. क्या महावीर के समय सभी लोगों और पशु-पक्षियों में यह क्षमता थी?

उत्तर—टेढ़ा प्रश्न है। पशु-पक्षियों में संवेदनों को समझने की शक्ति मनुष्यों से अधिक विकसित है। क्योंकि वे अपने स्रोतों पर भरोसा नहीं करते, अपने समूचे शरीर पर भरोसा करते हैं। मनुष्य ने अपने स्रोतों पर अधिक भरोसा कर लिया इसलिए समूचे शरीर से जानने की क्षमता गंवा बैठा। किन्तु कोई समर्थ योगी, समर्थ अध्यात्म का तेजःपुंज होता है, उसके प्रकंपनों में इतनी क्षमता होती है कि वे अनेक व्यक्तियों की सोयी हुई शक्तियों को जागृत कर देते हैं। उसमें केवल सुनने वाले की क्षमता का ही योग नहीं होता, उस साधक के परमाणुओं का भी बहुत बड़ा योग होता है जो संप्रेक्षण कर रहा है।

प्रश्न ३. क्या सुषुम्ना की नाड़ी सीधी नहीं होती? क्या बिना सीधी हुए ध्यान नहीं होता।

उत्तर—सुषुम्ना का आकार बिल्कुल सीधा तो नहीं है, कुछ टेढ़ा-मेढ़ा है। हम इसकी चिन्ता ही न करें। हम केवल इतना ध्यान रखें कि बैठते समय रीढ़ की हड्डी सीधी रहे। पद्मासन इसके लिए अच्छा है। इस आसन में बैठने पर रीढ़ की हड्डी अपने आप सीधी बनी रहती है। इसी प्रकार अर्धपद्मासन, सिद्धासन आदि आसनों में बैठने से भी रीढ़ की हड्डी सीधी रह सकती है। हम झुककर न बैठें। झुककर बैठना साधारण-सी बात है। जब कभी सीधा बैठने की बात आती है तब लोग शिकायत करते हैं कि दर्द हो गया। दर्द हुआ नहीं, दर्द का पता चल गया। जो दर्द पाल रखा था, वह छुपा हुआ था, उसका पता लग गया। मन के विकल्पों को शान्त करने का यह सबसे सरल तरीका है कि

हम चेतना को सुषुम्ना के मार्ग से ले जाएं। प्राण को उसी मार्ग से ऊपर-नीचे ले जाएं। चेतना जितनी आगे रहेगी चंचलता बढ़ेगी, चेतना जितनी सुषुम्ना की ओर जाएगी, चंचलता घटेगी। चेतना को आगे-आगे रखने का अर्थ फूलों को सींचना। चेतना को पीछे ले जाना, सुषुम्ना में ले जाने का अर्थ है जड़ को सींचना। अब हम स्वयं सोचें कि फूलों को सींचने से फूल हरे-भरे रहते हैं या जड़ को सींचने से।

३. तनाव और ध्यान (२)

१. • तनाव का आदि-बिन्दु राग-लोभ या प्रियता की ग्रन्थि।
२. • प्रिय का वियोग न हो—यह बिन्दु है जहां से भय और आर्त्तध्यान का प्रारंभ होता है।
३. • प्रियता से द्वेष, द्वेष से मान और मान से क्रोध का जन्म होता है।
४. • तनाव से बचने के लिए ज्ञाता-द्रष्टाभाव का अभ्यास।
५. • चेतना का कुआं खोदें और खोजें कहां है चैतन्य और कहां है आत्मा?
६. • स्व-सम्मोहन या भावना का प्रयोग करें।
७. • कायोत्सर्ग का अभ्यास करें, भावों को बदलें, लेश्या का विशोधन करें।
८. • क्रोध, भय आदि का दमन न करें। निर्जरा करें, रेचन करें।

हमारे सामने दो जगत् हैं। एक है व्यक्त-जगत् और दूसरा अव्यक्त-जगत्। एक है स्थूल-जगत् और दूसरा है सूक्ष्म जगत्। हम दोनों जगत् की अवस्थाओं में जीते हैं। कभी हम व्यक्त से अव्यक्त की ओर आते हैं और कभी अव्यक्त से व्यक्त की ओर आते हैं। कभी स्थूल अवस्थाओं की अनुभूति करते हैं और कभी सूक्ष्म अवस्थाओं में विहरण करने लग जाते हैं। जब व्यक्ति अव्यक्त से व्यक्त की ओर आता है तब एक नई अवस्था घटित होती है। व्यक्ति सामाजिक बन जाता है। जब व्यक्ति अव्यक्त अवस्था में ही रहता है तब वह व्यक्ति ही रहता है, सामाजिक नहीं बनता। हमारा कर्म शरीर, हमारी मूर्च्छा और हमारा भाव—यह अव्यक्त जगत् है। वहां दूसरे का कोई सम्पर्क नहीं होता।

व्यक्ति कर्म-शरीर में जीता है। यह उसका व्यक्तिगत जीवन है। व्यक्ति भाव में जीता है। भाव व्यक्ति का वैयक्तिक स्वरूप है। मूर्च्छा भी वैयक्तिक है। जब व्यक्ति मूर्च्छा की सीमा का अतिक्रमण कर राग में प्रवेश करता है, राग की चेतना में आता है, वैसे ही वह व्यक्ति से सामाजिक बन जाता है। सामाजिकता का पहला बिन्दु है—राग। जो राग का आदि-बिन्दु है, वही तनाव का आदि-बिन्दु है। जहां से सामाजिकता शुरू होती है, वहीं से तनाव शुरू होता है। तनाव और सामाजिकता का अस्तित्व पृथक्-पृथक् नहीं है। जहां तक व्यक्ति व्यक्ति है, वहां तक तनाव बहुत गहरे में होता है, इसलिए उसकी अनुभूति नहीं होती। किन्तु व्यक्ति जैसे ही सामाजिक बनता है, वैसे ही तनाव प्रकट होने लगता है, उसकी अनुभूति होने लगती है।

तनाव का आदि-बिन्दु है—राग, प्रियता की अनुभूति, कामना। राग से तनाव शुरू होता है, प्रियता की अनुभूति से तनाव प्रारंभ होता है, काम से तनाव उत्पन्न होता है।

राग यदि न हो तो व्यक्ति सामाजिक नहीं बन सकता। एक को दूसरे से जोड़ने वाला है राग। राग परस्परता का अनुबंध करता। जहां पारस्परिकता हुई, एक-दूसरे से जुड़ा या बंधा वहां सामाजिकता शुरू हो जाती है। राग व्यक्तियों को बांधता है। वह व्यक्तियों को पदार्थ से जोड़ता है। राग नहीं होता है तो व्यक्ति पदार्थ-प्रतिबद्ध नहीं होता। राग नहीं होता है तो एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से नहीं जुड़ता। व्यक्ति अकेला ही होता है। केवल अकेला। कोई किसी के साथ नहीं जुड़ता। जहां जुड़ने का प्रश्न है वहां राग का होना जरूरी है। बिना राग के कोई कैसे जुड़ेगा? एक परमाणु भी यदि दूसरे परमाणु के साथ जुड़ता है तो वहां भी राग का होना, चिकनाहट का होना जरूरी है। स्निग्धता के बिना बंध नहीं होता। यह जो पोजिटिव प्रक्रिया है, विधायकता है, वह राग है, स्नेह है, स्निग्धता है। बंधन वही करती है। राग से बंधन शुरू होता है। दूसरे के साथ सम्बन्ध या सम्पर्क स्थापित होता है राग से। उसके बाद उस राग-चेतना के कण आगे से आगे तरंगें बनाते चलते हैं और लोभ का जन्म हो जाता है। तब व्यक्ति संग्रह की ओर मुड़ता

है, अधिक प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। राग से जन्म लेता है लोभ और लोभ से जन्म लेती है माया। जब मन में लोभ पैदा होता है तब परिग्रह की भावना जागती है और माया उत्पन्न हो जाती है। माया के बिना संग्रह नहीं हो सकता। बिना छिपाए संग्रह नहीं हो सकता। जो छिपाना नहीं जानता वह संग्रह करना भी नहीं जानता। जो छिपाने की कला में निपुण है, वह विपुल संग्रह कर सकता है। आप रत्न, सोना, चांदी खुले में रख दें तो प्रातः सब गायब हो जाएगा। उनको टिकाए रखने के लिए उन्हें छिपाना आवश्यक है। दुनिया में छिपाने के कितने साधन हैं? जितने अधिक साधन हैं उतनी ही अधिक माया है। संग्रह को बनाए रखने के लिए, लोभ की संपूर्ति के लिए या लोभ के द्वारा प्राप्त उपकरणों की सुरक्षा के लिए माया को जन्म लेना जरूरी होता है। जैसे ही मनुष्य ने संग्रह करना सीखा, वैसे ही वह माया को भी सीखा है।

राग ने जन्म दिया लोभ को और लोभ ने जन्म दिया माया को। माया ने जन्म दिया अहंभाव को, अहंकार को। जब माया का विस्तार हुआ, मनुष्य के पास बहुत कुछ हो गया तो मनुष्य ने कुछ अपनी मान्यताएं बना लीं। मैं बड़ा हूं, मेरे पास बहुत है, मैं स्वामी हूं, मेरे पास इतना है—यह अहंकार जन्म ले लेता है। मेरे पास है, इसके पास नहीं है—इसका तात्पर्य है कि मैं बड़ा हूं, वह छोटा है। इस संग्रह ने बड़प्पन और छुटपन को भी जन्म दिया। बिना छोटों के कोई बड़ा नहीं बन सकता। अभिमान के लिए जरूरी है कि कोई नीचा हो। यदि कोई छोटा न हो, नीचा न हो, समान ही हो तो बेचारा अभिमान क्या करेगा? अभिमान हुआ तो क्या और नहीं हुआ तो क्या! समता में कभी अभिमान नहीं होता। जब ऊंचाई होती है तब गढ़े का पता चलता है। यदि गढ़ा न हो तो ऊंचाई का कोई अर्थ नहीं हो सकता। ऊंचाई हो और गढ़ा हो, तब ऊंचाई और नीचाई का कोई सापेक्ष अर्थ हो सकता है। समतल में ऊंचा-नीचा कुछ नहीं होता। यदि सब लोग समान ही हो जाएं तब फिर अभिमान को पलने का अवसर ही नहीं आता। अभिमान तब होता है जब किसी के पास कुछ हो और किसी के पास कुछ न हो।

माया ने अभिमान को जन्म दिया और अभिमान ने क्रोध को जन्म दिया। यदि अभिमान न हो तो क्रोध नहीं हो सकता। क्रोध होने के लिए अभिमान का होना जरूरी है। क्रोध नहीं आता है तो अहंकार पर चोट होती है, अभिमान पर प्रहार होता है। अहंकार पर चोट हुए बिना क्रोध नहीं आ सकता। अभिमान का अर्थ है—मेरापन। आपने किसी को अपना मान लिया। यह मेरा पुत्र है, पुत्री है, पत्नी है, पिता है, माता है, मेरा भाई है, मेरा मित्र है। जिसको मेरा मान लिया, अपना मान लिया, वह यदि थोड़ी-सी भी अवज्ञा करता है तो क्रोध आ जाता है। जो अपना नहीं है, वह कितनी अवज्ञा करे, इतना क्रोध नहीं आता। यदि अपना व्यक्ति अवज्ञा करता है तो क्रोध आ जाता है। क्रोध के लिए अपनापन ईंधन है। अग्नि के लिए ईंधन अपेक्षित होता है। क्रोध अग्नि है। अहंकार, ममकार उसको प्रज्वलित करने वाला ईंधन है। यदि अहंकार की ऊर्जा न मिले तो क्रोध बुझ जाता है।

क्रोध हमारे व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने वाला साधन है। क्रोध तक पहुंचते ही हमारे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हो जाती है। सामाजिक संबंधों में ये तत्त्व काम करते हैं—राग, लोभ, माया, अहंकार। ये सारे तत्त्व तनाव पैदा करते हैं। प्रियता की अनुभूति होती है, तनाव बन जाता है। जैसे ही प्रियता के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है, एक ध्यान शुरू हो जाता है। ध्यान का आदि-बिन्दु भी राग है और सामाजिकता का आदि-बिन्दु भी राग है। जिसके साथ प्रियता का संबंध जुड़ा उसके प्रति एक गहरा ध्यान प्रारंभ हो जाता है कि कहीं उसका वियोग न हो जाए। आर्त्तध्यान शुरू हो जाता है। आर्त्तगवेषणा प्रारंभ हो जाती है। लोभ आगे चला। भय पैदा हो गया। प्रियता से लोभ का जन्म होता है और लोभ से भय का जन्म होता है। तनाव बढ़ाने वाले तत्त्वों में भय की प्रमुख भूमिका रहती है। भय बहुत बड़ा तनाव पैदा करता है। भय लोभ का उपजीवी है। किसी वस्तु को पकड़े रखना भय है। शरीर होना एक बात है और शरीर को पकड़े रखना, ममत्व के धागे से बांधे रखना दूसरी बात है। शरीर को हमने इसलिए पकड़ रखा है कि हमारे मन में यह भय छाया हुआ है कि कहीं शरीर छूट न जाए।

मरना इतना जटिल नहीं है, दुःखदायी नहीं है, जितना जटिल और दुःखदायी है मरने का भय। मरने के भय की बहुत बड़ी समस्या है। रोग दुःख देता है, पर रोग इतना दुःख नहीं देता जितना दुःख रोग का भय देता है। कभी-कभी रोग का पता ही नहीं चलता, किन्तु जब डॉक्टर यह बता देता है कि तुम अमुक रोग से पीड़ित हो और अब ज्यादा जीवित नहीं रह सकोगे—यह राग का भय, मृत्यु का भय अत्यधिक भयंकर हो जाता है, रोग जितना खतरा नहीं है, उतना खतरा है रोग का भय। मरना जितना दुःखद नहीं है, उतना दुःखद है मरने का भय। हमने हजारों प्रकार के भय पाल रखे हैं। भय इसलिए पल रहे हैं कि उनकी पृष्ठभूमि में प्रियता की भावना है। वहां राग काम कर रहा है। हम इतने घबरा रहे हैं कि जो प्रिय है वह छूट न जाए। पदार्थ छूट न जाए, शरीर छूट न जाए, प्रियजनों का सम्बन्ध छूट न जाए। धन छूट न जाए। इस भय ने मनुष्य को एक ध्यान में डाल दिया। मनुष्य निरन्तर उस ध्यान में बहा जा रहा है। सभी व्यक्ति ध्यान करते हैं। साधक ही ध्यान नहीं करते, प्रत्येक जीवधारी ध्यान करता है। बच्चा भी ध्यान करता है। बूढ़ा भी ध्यान करता है। पुरुष भी ध्यान करता है और स्त्री भी ध्यान करती है। प्रेक्षा-ध्यान-शिविर में आकर आप यह न मानें कि आप ही ध्यान करते हैं। आप अपने ध्यान-शिविर पचासों वर्षों से घर पर चलाते आ रहे हैं। आप यहां केवल दिशा-परिवर्तन के लिए आए हैं, ध्यान के लिए नहीं। जिस दिशा में आपकी ध्यान-धारा प्रवाहित हो रही थी, उसकी दिशा को बदलने के लिए आप आए हैं। घर पर जो ध्यान हो रहा था, वह प्रियता और भय से संचालित था। आर्त्तध्यान और रौद्र ध्यान हो रहा था। विषयों को उपलब्ध करने तथा विषयों के संरक्षण का ध्यान चलता था। पदार्थों को प्राप्त करने का ध्यान तथा उसकी सुरक्षा का ध्यान—यह ध्यान निरन्तर चल रहा है। दिन-रात चल रहा है। यह ध्यान सोते भी चलता है और जागते भी चलता है। प्रेक्षा-ध्यान केवल जागृत अवस्था में ही चलता है, सोते नहीं चलता। आर्त्त और रौद्र ध्यान निरन्तर चलने वाले ध्यान हैं। आप इस प्रकार के ध्यान के अभ्यस्त हैं। आप यह न कहें कि आपका मन टिकता नहीं, एकाग्रता

नहीं होती। यह भ्रान्ति होगी। आप अपनी भ्रान्ति का आवरण मुझ पर भी न डालें। मैं मानता हूं कि आपका मन बहुत टिकता है। वह इतना एकाग्र होता है कि शायद किसी संन्यासी का भी नहीं होता होगा। फिर भी आप इन प्रेक्षा-ध्यान शिविरों में आते हैं और इसलिए आते हैं कि आप दिशा का परिवर्तन करना चाहते हैं। जहां मन टिकता है वहां वह न टिके और जहां वह नहीं टिकता वहां वह टिकने लगे। केवल इतना-सा परिवर्तन करने के लिए प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास होता है। आप अपने आपको सरलता से प्रस्तुत करें। छिपायें नहीं। इतना-सा करें कि जो प्रियता की अनुभूति जुड़ी हुई है, उसको मोड़ दें, अनुराग की दिशा को बदल दें। अनुराग की दिशा जो व्यक्ति के साथ, पदार्थ के साथ जुड़ रही है, उसको बदल कर अपने अस्तित्व के साथ जोड़ देना है। भगवान महावीर से पूछा गया—'भंते! धर्म-श्रद्धा से क्या होता है? धर्म के प्रति अनुराग होने से क्या होता है?' भगवान ने कहा—'धर्म के प्रति अनुराग होने से अनुत्सुकता पैदा होती है अर्थात् जो उत्सुकता होती है वह समाप्त हो जाती है। एक के प्रति जब उत्सुकता समाप्त होती है तब दूसरे के प्रति उत्सुकता जागती है।' पदार्थ के प्रति रही हुई उत्सुकता जब समाप्त होती है तब धर्म के प्रति उत्सुकता जागती है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जब धर्म के प्रति उत्सुकता जागती है तब पदार्थ के प्रति अनुत्सुकता पैदा होती है। उत्सुकता एक पर होगी—पदार्थ पर या धर्म पर। दोनों पर उत्सुकता नहीं हो सकती। एक साथ दो घोड़ों पर सवारी नहीं की जा सकती। अपनी उत्सुकता, अपनी श्रद्धा को हम दोनों ओर नहीं ले जा सकते। पदार्थ के प्रति उत्सुकता है तो धर्म के प्रति उत्सुकता नहीं रहेगी। धर्म के प्रति उत्सुकता है तो पदार्थ के प्रति उत्सुकता नहीं रहेगी। उत्सुकता का प्रवाह जिस ओर जाएगा उस दिशा को वह लाभान्वित करेगा और दूसरी दिशा अपने आप हट जाएगी। हमें अपनी उत्सुकता को चैतन्य की दिशा में प्रवाहित करना है। इसलिए करना है कि पदार्थ के प्रति हमारी उत्सुकता जितनी गहरी होती है उतना ही तनाव मन में भर जाता है। हम तनाव की स्थिति से इसलिए आक्रान्त हैं कि हमारा सारा आकर्षण, हमारी सारी श्रद्धा

पदार्थ के प्रति है, दूसरे के प्रति है, अपने प्रति नहीं है। जब दूसरे के प्रति होती है तब मन में तनाव भर जाता है। तनाव का मूल कारण है--आर्त्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान। तनाव का कारण भी ध्यान है और तनाव का निवारण भी ध्यान है। ध्यान से ही तनाव पैदा होता है और ध्यान से ही तनाव समाप्त होता है। जब हमारे मन की एकाग्रता पदार्थ को उपलब्ध करने में और उसके संरक्षण में लग जाती है तब मन तनाव से भर जाता है और जब मन की एकाग्रता पदार्थ से हटकर अपने आन्तरिक अनुभवों में लग जाती है तब तनाव अपने आप विसर्जित होने लग जाता है।

तनाव का सबसे बड़ा कारण है--आर्त्त ध्यान—पदार्थ के प्रति होने वाली एकाग्रता।

तनाव का सबसे बड़ा कारण है—रौद्र ध्यान पदार्थ के संरक्षण के प्रति होने वाली क्रूरता। क्रूरतम एकाग्रता।

आर्त्त और रौद्र ध्यान में लेश्याएं विकृत बन जाती हैं। उस समय काली लेश्या होती है और धूम्र वर्ण की लेश्या होती है। उस समय आभामण्डल विकृत हो जाता है; भाव-संस्थान विकृत हो जाता है। हमारे सारे भाव बदल जाते हैं। भाव विकृत होता है तो मन विकृत बन जाता है, विचार विकृत हो जाता है, आचरण विकृत हो जाता है। जब आचरण विकृत होता है तब सामाजिक सम्बन्ध भी विकृत हो जाते हैं। सब कुछ बिगड़ने लग जाता है। तब व्यक्ति में यह चिन्तन उभरता है कि सारा ढांचा बिगड़ता जा रहा है, उसे कैसे सुधारूं? यह प्रश्न उपस्थित होता है तब दिशा बदलने की बात प्राप्त होती है। व्यक्ति मुड़कर देखना चाहता है। जब वह मुड़कर देखता है तब उसे लगता है कि क्रोध बहुत सता रहा है। सामाजिक और पारिवारिक सम्बन्धों को विकृत करने वाला तत्त्व है क्रोध। अन्यान्य दोष इसके बाद आते हैं। एक व्यक्ति कुछ चाहता है, दूसरा कुछ और ही चाहता है। एक व्यक्ति के आचरण से दूसरे व्यक्ति के अहं पर चोट होती है। दूसरे व्यक्ति के आचरण से तीसरे व्यक्ति के अहं पर चोट होती है। अप्रीति बढ़ती है, वैमनस्य बढ़ता है, द्वेष बढ़ता है। द्वेष कोई मौलिक बात नहीं है, मूल है राग। वास्तव

में राग और द्वेष दो नहीं हैं। एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि आप राग न करें तो द्वेष कभी नहीं होगा। द्वेष का कोई स्थान नहीं है। मूर्च्छा से राग, राग से लोभ, लोभ से माया, माया से अभिमान और अभिमान से क्रोध। द्वेष का कोई स्थान ही नहीं है। पदार्थ या व्यक्ति के प्रति हमारी प्रीति हो गई, लोभ हो गया, माया का जाल बुन लिया गया। सारा राग ही राग चलता है। हमने जो माया का ताना-बाना बुना और यदि उसमें कोई व्यक्ति बाधा डालता है तब अप्रीति शुरू होती है। अप्रीति का घटक है अहंकार। यदि प्रीति ही चलती तो बड़े-छोटे का भेद खड़ा नहीं होता। बड़ा-छोटा मानने के लिए अप्रीति का होना जरूरी है। अप्रीति का जन्म होता है अभिमान से और उसका जो दूसरा बड़ा चरण है, वह है क्रोध। क्रोध और अहंकार—ये दो द्वेष हैं, अप्रीतियां हैं, किन्तु अप्रीति का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। प्रीति ही अप्रीति बन जाती है। अहंकार और क्रोध के चक्र में आकर प्रीति ही अप्रीति बन जाती है। जब हमारे राग-भाव में कोई बाधा उत्पन्न होती है तब प्रीति अप्रीति बन जाती है। अप्रीति का अर्थ है—प्रीति की बाधा। अप्रीति का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। हम अप्रीति को मिटाने का प्रयत्न न करें, उसके बारे में अधिक चिन्ता करने की जरूरत नहीं है। जहां चिन्तित होना है, जागना है, वह है राग, प्रीति। वही है आदि-बिन्दु जहां हमें जागना है। अध्यात्म के साधक को जिस बिन्दु पर जागना है वह बिन्दु है : राग। जो व्यक्ति राग के बिन्दु पर नहीं जागता, प्रियता के बिन्दु पर नहीं जागता, वह यथार्थ में साधक नहीं बन सकता। आप यह न मानें कि जो साधक बनता है, ध्यान करता है, ध्यान की दिशा को बदलता है—आर्त्त और रौद्र ध्यान से हटकर धर्म-ध्यान में प्रवेश करता है—वह पदार्थ से विमुख हो जाता है। ऐसा नहीं होता। क्या ध्यान करने वाला व्यक्ति गृहस्थी को नहीं निभायेगा? रोटी नहीं खाएगा? पानी नहीं पीएगा? कपड़े नहीं पहनेगा? मकान नहीं बनाएगा? परिवार का भरण-पोषण नहीं करेगा? क्या उसके पत्नी नहीं होगी? पुत्र-पुत्री नहीं होंगे? सब कुछ होते हैं। ध्यान करने वाले सारे साधक संन्यासी नहीं होते, गृहस्थ भी होते हैं। संन्यासी के लिए भी बहुत पदार्थ आवश्यक होते हैं। वह भी

खाता है, पीता है, पहनता है। सारे पदार्थों को छोड़कर वह कैसे जी सकता है? मैं मानता हूं कि जो व्यक्ति पदार्थ से द्वेष करता है, घृणा करता है, कोसता है, गालियां देता है तो समझना चाहिए कि उसमें कोई आत्म-ग्लानि हो गई है, मनोविकृति पैदा हो गई है। पदार्थ को नहीं छोड़ा जा सकता, उसके प्रति रहे मिथ्या दृष्टिकोण को छोड़ा जा सकता है।

जो व्यक्ति साधना शिविरों में आते हैं, वे पदार्थ को छोड़ने के लिए नहीं आते। यदि वे पदार्थ को छोड़ने के लिए आते तो शायद परिवार वाले उनको आने ही नहीं देते। यदि पत्नी को पता चले कि मेरा पति मुझे छोड़ने के लिए वहां जा रहा है तो शायद कोई पति यहां नहीं आता। यदि किसी पति को पता चले कि उसकी पत्नी उसे छोड़ने के लिए वहां जा रही है तो शायद कोई पत्नी यहां नहीं आती। शिविर में कई दम्पती भी आते हैं, पति-पत्नी साथ आते हैं। दोनों को ही पता चल जाता तो वे दूसरी दिशा में जाते, यहां नहीं आते।

शिविर में पदार्थ छोड़ने के लिए नहीं आते। वे आते हैं मिथ्या दृष्टिकोण को बदलने के लिए। हमने एक मिथ्या दृष्टि बना ली और हमने पदार्थ को पदार्थ के रूप में नहीं जाना, पदार्थ को यथार्थ रूप में देखना नहीं जाना। हम पदार्थ को देखते हैं उस पर अपना आवरण डालकर। उसे जिस दृष्टि से देखना चाहिए उस दृष्टि से नहीं देखते। यह सबसे बड़ी भ्रान्ति है। ध्यान की दिशा का परिवर्तन तब होगा जब हमारी सम्यग् दृष्टि जागेगी। केवल कायोत्सर्ग या शिथिलीकरण से दिशा नहीं बदलेगी। पद्मासन या कोई आसन दिशा-परिवर्तन का मुख्य हेतु नहीं है। पद्मासन में बैठे-बैठे तो किसी को मारने की योजना भी बनाई जा सकती है। आंखें बन्द कर बैठे-बैठे किसी को ठगने की, धोखा देने की या कहीं चोरी करने की योजना भी बनाई जा सकती है। इनसे दिशा का परिवर्तन नहीं होता। दिशा का परिवर्तन तब होता है जब सम्यग्-दृष्टि जागती है। सम्यग्-दृष्टि के जागरण का फलित यह है कि व्यक्ति पदार्थ को केवल पदार्थ की दृष्टि से देखे, प्रियता या अप्रियता की दृष्टि से न देखे। आज अर्थ की यह समस्या इतनी जटिल क्यों बनी? इसलिए बनी कि हम अर्थ को अर्थ की दृष्टि से नहीं देखते।

अर्थ को केवल भावनात्मक दृष्टि से देखते हैं। अपनी दृष्टि से देखते हैं, सत्य की दृष्टि से नहीं देखते।

दुनिया में पदार्थ था, पदार्थ है और पदार्थ रहेगा। समाजवाद ने जो यह सूत्र प्रस्तुत किया कि सम्पत्ति व्यक्ति की नहीं समाज की है। मैं मानता हूं कि इस सूत्र से भूल का कुछ सुधार हुआ है। व्यक्ति सम्पत्ति को अपना मान बैठा था। समाजवाद के मनीषियों ने सोचा कि व्यक्तिगत सम्पत्ति की बात समाज के लिए बहुत घातक है और यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति के निराकरण के लिए उन्होंने कहा—'सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिकार नहीं होना चाहिए। सम्पत्ति व्यक्ति की नहीं, समाज की होनी चाहिए।'

सम्यग्-दृष्टि को उपलब्ध व्यक्ति का सूत्र होगा—सम्पत्ति व्यक्ति की भी नहीं होती, समाज की भी नहीं होती, किसी की भी नहीं होती। सम्पत्ति सम्पत्ति की होती है। पदार्थ पदार्थ का होता है। वह किसी का नहीं होता।

एक संस्कृत कवि ने भूमि को एक ऐसी कन्या माना है जो सदा कुमारी है और रहेगी। वह किसी की नहीं बनी और न ही बनेगी। उसके साथ कोई पाणिग्रहण नहीं कर पाया। अनेक राजे-महाराजे हो गए। अनेक शक्ति सम्पन्न सम्राट् हो गए। उन्होंने मान लिया कि अमुक भू-भाग पर उनका अधिकार है। पर यह भ्रान्ति थी। भूमि किसी की नहीं बनी। सब आए और गए। पदार्थ को अपना मानना एक भ्रान्ति है।

अध्यात्म का सूत्र है—सम्पत्ति न व्यक्ति की है और न समाज की है। वह पदार्थ है। पदार्थ पदार्थ होता है, वह किसी का नहीं होता। सब पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में होते हैं। कोई पदार्थ किसी का नहीं होता। यह सूत्र उपलब्ध होने पर ही समस्या सुलझ सकती है।

सम्पत्ति को व्यक्तिगत मानने से समस्या उलझती है—इस बात का समाज ने अनुभव कर लिया। व्यक्तिगत संग्रह से विषमता फैलती है, समस्याएं बढ़ती हैं। समस्याओं का कोई समाधान नहीं होता, इसलिए सम्पत्ति समाज की होनी चाहिए, व्यक्तिगत स्वामित्व को समाप्त कर देना चाहिए—यह चिंतन लगभग दो अरब मनुष्यों का है। जो समाजवादी

भी नहीं हैं, वैसे भी कुछ लोग इसी भाषा में सोचते हैं। यह सोचना मात्र भूल का सुधार माना जा सकता है। किन्तु उससे अगली भूल ज्यों की त्यों बनी रहती है। जब तक उस भूल का सुधार नहीं होगा; समस्या नहीं सुलझेगी। आज समाजवाद की स्थापना के बाद भी, साम्यवाद के प्रचलित हो जाने के बाद भी, समस्याएं सुलझी नहीं हैं, व्यक्ति सुलझा नहीं है। आज साम्यवादी देश का नागरिक भी बड़ी अनैतिकता करता है। लाखों-करोड़ों का घोटाला करता है। यह इसीलिए होता है कि साम्यवादी धारणा से एक भूल का सुधार अवश्य हुआ है। किन्तु दूसरी भूल का सुधार नहीं हो पाया। जब तक व्यक्ति यह नहीं मान लेगा, जान लेगा कि पदार्थ पदार्थ है, वह किसी का नहीं है; तब तक वे घोटाले बन्द नहीं होंगे। अनैतिकता या अप्रामाणिकता रुकेगी नहीं।

हम जो दिशा-परिवर्तन चाहते हैं, वह यह है—पदार्थ पदार्थ रहे, व्यक्ति व्यक्ति रहे। पदार्थ और व्यक्ति के बीच सम्बन्ध स्थापित न हो, परस्पर घनिष्ठता न हो। हमारी सम्यग्-दृष्टि जागे। हमारा द्रष्टाभाव जागे। हम पदार्थ को पदार्थ की ही दृष्टि से देखें, उसकी उपयोगिता को समझें, उसका उपयोग मात्र करें; किन्तु उसके साथ ममत्व न करें, एकता की अनुभूति न करें।

द्रष्टाभाव का विकास तनाव-विसर्जन का पहला सूत्र है और दूसरा सूत्र है भावना का विकास। भावना का अर्थ है—स्व-सम्मोहन, आत्म-सम्मोहन। जब हम आत्म-सम्मोहन दूसरों के लिए करते हैं, तब दूसरों के साथ-साथ अपनी शक्ति भी क्षीण होती है। हम सब पदार्थ के प्रति सम्मोहित हैं। पदार्थ को देखते ही इतना सम्मोहन जागता है कि आदमी विवेक खो बैठता है। बड़े से बड़ा आदमी भी ऐसी चोरियां कर लेता है कि जिनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उस व्यक्ति का कोई दोष नहीं है। वह पदार्थ के प्रति सम्मोहित है। जब पदार्थ सामने आता है तब उसकी चेतना लुप्त हो जाती है, विवेक सो जाता है।

हम स्वयं आत्म-सम्मोहन का प्रयोग करें। हम अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक हों। स्व-सम्मोहन की सबसे बड़ी शक्ति है—ज्ञान की शक्ति। हम अपनी ज्ञान की शक्ति का अनुभव करें। हम साधना के प्रारंभ

में अर्हं की ध्वनि करते हैं, अर्हं की भावना करते हैं। तब व्यक्ति-व्यक्ति में अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-शक्ति और अनन्त-आनन्द की भावना जागती है। वह सोचता है, मेरे में अनन्त-ज्ञान है, अनन्त-शक्ति है, अनन्त-दर्शन है और अनन्त-आनन्द है। मुझे किसी दूसरे आनन्द की जरूरत नहीं है। किसी पदार्थ से मैं आनन्द को उपलब्ध नहीं हो सकता। जो शून्य हो उसे कोई आनन्द से भरे। मैं अनन्त-आनन्द से सम्पन्न हूं, परिपूर्ण हूं। जब व्यक्ति इस अनन्तचतुष्टयी की भावना से भावित होता है, सम्मोहित होता है तब शेष सारे सम्मोहन चूर-चूर होकर टूट जाते हैं। कोई नहीं टिक पाता। स्व-सम्मोहन या भावना के द्वारा दिशा-परिवर्तन घटित होता है। इसके द्वारा तनाव विसर्जित होता है।

तनाव-विसर्जन का तीसरा सूत्र है—विचय-ध्यान। विचय का अर्थ है—विश्लेषण। प्रेक्षा एक विश्लेषण है। यह आत्म-विश्लेषण है, सेल्फ एनलिसिस है। व्यक्ति आत्म-विश्लेषण करे, क्रोध क्यों आता है? लोभ क्यों जागता है? मिथ्या-दृष्टि क्यों जागती है? इसका हम विश्लेषण करें। हम विश्लेषण नहीं करते तब ये सारी भावनाएं पनपती रहती हैं। जब हम अपना विश्लेषण प्रारंभ करते हैं, अपनी ज्ञान-शक्ति को जगाते हैं तब ये सारी बातें टूटने लग जाती हैं। जो व्यक्ति अपनी ज्ञान-शक्ति का उपयोग नहीं करता, उसमें ये सारी विकृतियां पनपती रहती हैं। हम अपनी ज्ञान-शक्ति का उपयोग करें। विश्लेषण करें। जब हम अपना विश्लेषण करतें हैं तब आर्त्त-रौद्र ध्यान छूट जाते हैं, धर्म-ध्यान शुरू हो जाता है। धर्म-ध्यान का प्रारंभ होता है विचय के द्वारा, विश्लेषण के द्वारा। यह विचय की प्रक्रिया, विश्लेषण की प्रक्रिया चिकित्सा की प्रक्रिया है। आज का मनोचिकित्सक सबसे पहले विश्लेषण का सहारा लेता है। कोई भी मानसिक बीमारी से ग्रस्त-व्यक्ति मानस-चिकित्सक के पास जाता है तो वह चिकित्सक सबसे पहले उसे कायोत्सर्ग कराता है, शिथिलीकरण करने के लिए कहता है। इसके बाद कहता है—'अपना विश्लेषण करो, प्रतिक्रमण करो, अतीत की ओर लौटो और मन में जो-जो बातें आएं वह निःसंकोच कहते जाओ। छुपाओ मत।' अब वह रोगी अपना विश्लेषण करता है, प्रतिक्रमण करता है। मनोचिकित्सक सुनता

जाता है और सुनते-सुनते यह बात पकड़ लेता है कि मन की गांठ कहां घुली है? मानसिक ग्रन्थि कहां बनी है? क्या बीमारी है? कौन-सी वृत्तियों का दमन हुआ है? किस प्रकार की ग्रन्थि बनी है? वह फिर उन ग्रन्थियों को खोलने का प्रयत्न करता है। अध्यात्म की चिकित्सा भी इसी प्रकार चलती है। ध्यान की भी यही प्रक्रिया है। आर्त्त-रौद्र ध्यान के द्वारा जो ग्रन्थियां बनती हैं वे ग्रन्थियां शारीरिक और मानसिक विकृतियां पैदा करती हैं, रोग पैदा करती हैं। मैं मानता हूं कि मनोविज्ञान का यह सूत्र गलत नहीं है कि जो वृत्ति दबाई जाती है, वह वृत्ति शारीरिक और मानसिक रोग पैदा करती है। इसे हम अध्यात्म की भाषा में समझें। ज्यों ही वृत्ति का दमन किया, दबाने का प्रयत्न किया; यदि निर्जरा नहीं की, उसका रेचन नहीं किया तो उसका बंध हो जाएगा। वह बंध सताता रहेगा। क्रोध आता है और चला जाता है। आप यह न मानें कि क्रोध आया और चला गया। यह बहुत बड़ी भ्रान्ति होगी। क्रोध आया, चला गया। स्थूल शरीर से चला गया, पता नहीं चलता कि क्रोध है। क्रोध आया था इस शरीर की आकृति में। अब क्रोध अणु बनकर हमारे भीतर पैठ गया। जो क्रोध व्यक्त हुआ था अपने रूप में वह तो चला गया, किन्तु उसने अपना आणविक रूप छोड़ दिया। कर्म के भी परमाणु हैं। हमारे जो कर्म का बंध होता है, वह परमाणु का बंध होता है। यह आणविक क्रोध हमारे भीतर है। वह सताता रहता है। वह तनाव पैदा करता है। हमें निर्जरा करना, रेचन करना, शोधन करना सीखना होगा। हम ध्यान के द्वारा यह सीखें। हम क्रोध का दमन न करें, उसका रेचन करें, उसका शोधन करें। क्रोध का संवर करें, क्रोध का विवेक करें। कैसे करें—यह एक लम्बी चर्चा है।

प्रश्न—राग से सामाजिकता शुरू होती है तो क्या वीतराग सामाजिक नहीं होता? या वीतराग के सामाजिकता नहीं होती?

उत्तर—सचमुच वीतराग कभी सामाजिक नहीं होता। वीतराग कोरा व्यक्ति होता है। वह समाज में रहता है, पर सामाजिक नहीं होता। हम वीतराग उसी को मानते हैं जो समाज में रहता हुआ भी अकेला रहे; व्यक्ति रहे। वीतराग तो दूर की बात है, साधक वही होता है जो समाज

में रहता हुआ अकेला रहे। आचार्य भिक्षु ने कहा है—'गण में रहे निर्दाव अकेलो।' साधु संघ में रहे, किन्तु अकेला होकर रहे, किसी के साथ दलबन्दी न करे, गाढ़ सम्बन्ध न बनाए। वास्तव में धार्मिक वही होता है जो समूह में रहता हुआ अकेला रहे। वह एकत्व की भावना से अभिभूत हो। भगवान महावीर ने 'एकत्व अनुप्रेक्षा' को बहुत महत्त्व दिया। उन्होंने कहा—'पुरुष! तू अपने को इस भावना से भावित करता रहे कि तू अन्ततः अकेला है। समाज मात्र एक उपयोगिता है। जीवन यात्रा को चलाने के लिए वह एक आलम्बन मात्र है। वास्तव में तू अकेला है।'

'एक उत्पद्यते तनुमान्, एक एव विपद्यते'—व्यक्ति अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। 'एक एव हि कर्म चिनुते, सैककः फलमश्नुते'—व्यक्ति अकेला ही कर्म का बंध करता है और अकेला ही उन कर्मों को भोगता है।

वीतराग ही नहीं, वास्तव में हम भी अकेले हैं। किन्तु भ्रान्तिवश हम मान बैठे हैं कि हमारा समूह है, परिवार है, समाज है। यह मिथ्या-दृष्टि है, इसे तोड़ना है।

प्रश्न—पदार्थ पदार्थ है, व्यक्ति व्यक्ति है। यदि इनमें कोई परस्पर सम्बन्ध न हो, राग न हो तो फिर समाज का काम कैसे चलेगा?

उत्तर—इस स्थिति में समाज का काम बहुत समुचित ढंग से चलेगा, समस्या से मुक्त होकर चलेगा। एक ओर भोजन है, दूसरी ओर भूख है। यदि व्यक्ति सम्यग्-दृष्टि से यह स्वीकार करता है कि यह भोजन है और यह भूख है। भोजन से भूख शान्त होती है। उस रूप में पदार्थ को मात्र उपयोगिता के रूप में स्वीकार करता है तो वह अधिक नहीं खा सकेगा, जितनी भूख है उतना ही खाएगा, किन्तु जब पदार्थ के साथ प्रियता जुड़ जाती है तब व्यक्ति भूख को शान्त करने के लिए भोजन नहीं करता; जितनी भूख है उतना ही नहीं खाता, वह खाता है प्रियता की सम्पूर्ति के लिए। वह खाता है स्वाद के वशीभूत होकर।

यह भ्रान्ति टूटनी चाहिए कि हम प्रियता के लिए पदार्थ का सेवन न करें, केवल प्रयोजन को पूरा करने के लिए उसका उपयोग करें। पदार्थ पदार्थ है और उसका उपयोग पारस्परिकता है। एक का उपयोग दूसरे

के लिए होता है। इस उपयोग मात्र को समझ कर यदि हम पदार्थ का उपयोग करते हैं तो अनेक समस्याएं सुलझ जाती हैं।

पदार्थ नहीं मिटेगा। न पदार्थ को मिटाना है और न सम्पत्ति को मिटाना है, किन्तु पदार्थ और सम्पत्ति के साथ जो हमारा अनुबंध है उसे तोड़ना है।

हम पैसा नहीं लेते, किन्तु कपड़ा आदि ले लेते हैं। हम दस रुपये का नोट नहीं लेते, किन्तु दस रुपये मूल्य का कपड़ा ले लेते हैं। आपके मन में यह प्रश्न हो सकता है कि क्या कपड़ा रुपया नहीं है? क्या उसका रुपये जितना मूल्य नहीं है? यह प्रश्न स्वाभाविक है। हमारे पास एक पैसा भी नहीं है; किन्तु एक-एक हस्तलिखित प्रति ऐसी है जिसका मूल्य लाखों में आंका जा सकता है। वह लाखों रुपये मूल्य की हो सकती है। ऐसी वस्तुएं आज भी हमारे पास हैं, फिर भी हम अपरिग्रही हैं। इसे समझें। जो पैसा रखते हैं उनका पैसे के साथ अनुबन्ध हो जाता है, वह उपयोगिता का अनुबन्ध नहीं रहा, मूर्च्छा का अनुबन्ध हो जाता है। उस मूर्च्छा को तोड़ना है।

पदार्थ पदार्थ है। आत्मा आत्मा है। व्यक्ति व्यक्ति है। एक दूसरा एक दूसरे के काम आता है। एक दूसरे का एक दूसरे के लिए उपयोग है। यह भावना जब बनती है, पनपती है तब समाज स्वस्थ रहता है। तनाव होने का कम से कम अवसर आता है। किन्तु जब वह उपयोगिता बदलकर धन बन जाती है, सिक्का बन जाती है तब उपयोगिता समाप्त हो जाती है। और मूर्च्छा केवल धनात्मक बन जाती है।

उस मूर्च्छा को तोड़ना आवश्यक है। इससे सामाजिक व्यवहार टूटेगा नहीं, वह अधिक स्वस्थ होगा। इस स्थिति में वे समस्याएं भी समाप्त हो जाएंगी जो समाजवाद के लिए समस्याएं हैं।

४. आभामंडल

१. • ध्यान का उद्देश्य—शक्ति, चेतना और आनन्द-संपन्न व्यक्तित्व का निर्माण।
२. • प्राण-शक्ति के प्रवाह के दो मार्ग—काम और ज्ञान। पहला प्राकृतिक, दूसरा साधना-लभ्य। यही बिन्दु है पशु और मनुष्य की भेद-रेखा का।
३. • नया मार्ग खोलें। काम या राग का दमन न करें, चेतना का अनुभव करें।
४. • काम का रूपान्तरण नहीं, ऊर्जा का मार्गान्तरण करें—न भोग, न दमन किन्तु रेचन करें।

मैं ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण चाहता हूं जो शक्ति-संपन्न, चेतना-संपन्न और आनन्द-संपन्न हो। ऐसा व्यक्ति मिलना बहुत कठिन है जो इस त्रिपुटी से संपन्न हो। पशु में शक्ति बहुत होती है, किन्तु वह अपनी शक्ति का उपयोग नहीं कर सकता, क्योंकि उसकी चेतना विकसित नहीं है। उसकी शक्ति का उपयोग मनुष्य करता है क्योंकि उसकी चेतना विकसित है। चेतना का विकास किए बिना शक्ति का सही उपयोग नहीं किया जा सकता। सिंह और हाथी में बहुत शक्ति होती है। बैल और भैंसे में भी प्रचुर शक्ति होती है। किन्तु सब पशुओं की शक्ति का उपयोग मनुष्य ही करता है। उनकी सारी शक्ति मनुष्य के काम आती है। सिंह और बाघ अपनी शक्ति का उपयोग दूसरों को मारने में करते हैं। उनकी शक्ति का कोई सृजनात्मक उपयोग नहीं होता। उस शक्ति से निर्माण नहीं होता, विध्वंस होता है। इस प्रकार पशुओं

की शक्ति के दो ही काम हैं—मनुष्य के काम आना और दूसरों को मारने के काम आना।

जब-जब मैं बैलों और भैंसों को भार ढोते देखता हूं, तब-तब मन में आता है कि यदि इनमें चेतना का विकास होता तो न जाने आज ये क्या होते? इनमें चेतना का विकास नहीं है। हजारों वर्षों से ये भार ढोते आ रहे हैं और हजारों वर्षों तक भार ही ढोते रहेंगे। कोई परिवर्तन नहीं आया, कोई क्रान्ति नहीं हुई, कोई विकास नहीं हुआ। उनके लिए सारे युग समान हैं। प्रस्तर युग आया, मध्ययुग आया और आज अणुयुग चल रहा है। किन्तु पशुओं के लिए सारे युग समान हैं। उन्होंने कोई विकास नहीं किया। वैज्ञानिक युग और प्रस्तर युग उनके लिए समान हैं। मनुष्य में भी शक्ति है, किन्तु शक्ति से अधिक उसमें चेतना का विकास है, इसलिए वह अपनी अल्पशक्ति का उपयोग इस प्रकार करता है कि वह खूंखार और प्रचुर शक्तिशाली जानवरों को भी नियंत्रण में ले लेता है, उनसे भी काम ले लेता है। शक्ति में मनुष्य पशु के बराबर नहीं है, किन्तु वह चेतना का उपयोग करना जानता है इसलिए अल्पशक्ति से भी महान् शक्तिशाली जानवरों को वश में कर अनोखे काम कर लेता है। शक्ति की अपेक्षा बुद्धि बड़ी होती है। 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य'—जिसके पास बुद्धि है, उसके पास बल है। बुद्धि का बल, चेतना का बल, ज्ञान का बल—ये बल शारीरिक बल से बड़े होते हैं। वे शारीरिक बल को लांघ जाते हैं।

मनुष्य के पास शक्ति है, चेतना है, किन्तु उसके पास तीसरी वस्तु नहीं है। वह तीसरी वस्तु है—आनन्द। मनुष्य अपनी चेतना के द्वारा शक्ति का उपयोग करता है, किन्तु वह भी शक्ति का सम्यग् उपयोग करना नहीं जानता। वह अपनी शक्ति का उपयोग करके स्वयं क्लान्त होता है और दूसरों को क्लान्त करता है। वह स्वयं किसी का घोड़ा बनता है या दूसरे को अपना घोड़ा बनाता है। वह स्वयं दूसरे पर चढ़ता है या दूसरे को अपने कंधों पर चढ़ाता है, किन्तु आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता। आनन्द का अनुभव वही कर पाता है जिसके पास शक्ति हो, चेतना का विकास हो और चेतना का, शक्ति का सही उपयोग हो।

पशुओं में चेतना तो है, पर उसका विकास नहीं है। वह उसका सही उपयोग करना नहीं जानता। मनुष्य में चेतना का विकास है, फिर भी वह उसका सही उपयोग नहीं करता, इसलिए आनन्द को उपलब्ध नहीं होता। पशु के लिए आनन्द का प्रश्न ही नहीं उठता। जिसमें चेतना का विकास नहीं होता, उसमें आनन्द का अनुभव करने की क्षमता भी नहीं होती। जिसमें चेतना का विकास है, उसमें आनन्द का अनुभव करने की क्षमता होती है। जो चेतना का सही नियोजन कर पाता है, वह आनन्द का उपभोग कर लेता है। जो चेतना का सही नियोजन नहीं कर पाता, वह आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता।

ध्यान साधना के द्वारा व्यक्ति अपनी चेतना का इस प्रकार नियोजन करे, जिससे कि सारी शक्ति आनन्द की दिशा में प्रवाहित हो जाए और आनन्द उपलब्ध हो जाए। आनन्द का बाधक तत्त्व है—शक्ति और आनन्द का साधक तत्त्व भी है—शक्ति। शक्ति ही बाधा है और शक्ति ही साधक सामग्री है। शक्ति को ठीक दिशा में प्रवाहित करने पर आनन्द प्राप्त होता है और शक्ति को विपरीत दिशा में प्रवाहित करने पर आनन्द पर काली घटाएं उमड़ पड़ती हैं। आनन्द सारा नष्ट हो जाता है। मूल प्रश्न है शक्ति के प्रवाह का। उसको किस दिशा में प्रवाहित करना है, यह मूल प्रश्न है। शक्ति के बिना क्रोध नहीं आएगा, अहंकार नहीं आएगा, राग नहीं होगा, प्रीति नहीं होगी। काम, सेक्स, वासना भी शक्ति के बिना नहीं होगी। दुनिया का कोई भी काम शक्ति के बिना नहीं हो सकता। ईश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। मैं कह सकता हूं कि दुनिया में जो कुछ होता है वह शक्ति के द्वारा होता है। शक्ति के बिना कुछ नहीं होता। शक्ति के बिना न चेतना की प्रवृत्ति होती है और न आनन्द की उपलब्धि होती है। सब कुछ शक्ति से होता है। फर्क केवल इससे पड़ता है कि शक्ति किस दिशा में प्रवाहित होती है। क्रोध करने वाला अपनी शक्ति का उपयोग क्रोध की दिशा में करता है। जब हमारी ऊर्जा क्रोध की दिशा में प्रवाहित होती है, क्रोध उभर आता है। जब ऊर्जा काम-केन्द्र की ओर प्रवाहित होती है, काम उभर आता है। हमारे शरीर में क्रोध के

केन्द्र हैं, काम-वासना के केन्द्र हैं, ज्ञान के केन्द्र हैं। ऊर्जा जिस केन्द्र की ओर प्रवाहित होती है वह केन्द्र सक्रिय हो जाता है। वह प्रवृत्ति उभरकर सामने आ जाती है। अब प्रश्न है कि उस प्रवृत्ति को कैसे रोका जाए? इसमें सब एक मत नहीं हैं। कुछ लोग कहते हैं—जो वृत्ति जागे, उसे भोग लो। उसे रोकने की जरूरत नहीं, भोग लो। यह मुक्तभोग की विचारधारा है। यह विचारधारा कहती है—क्रोध आए तो क्रोध कर लो। इतना जी भर क्रोध कर लो कि जिससे क्रोध समाप्त हो जाए। जिसको मुक्तभाव से भोगा जाता है, वह क्रोध चरम-बिन्दु पर पहुंच कर विसर्जित हो जाता है।

एक है दमन का सिद्धान्त। वह कहता है—दबाओ, दबाओ। क्रोध आए तो क्रोध को दबाओ। काम-वासना उभरे तो उसे दबाओ। जो भी वृत्ति उभरे, उसे दबाओ। दमन का सिद्धान्त बहुत व्यापक है। मनुष्य समाज में जीता है। वह सामाजिक प्राणी है। समाज में दमन चलता है। समाज की अपनी मान्यताएं हैं, अपनी धारणाएं हैं। समाज-व्यवस्था चाहता है। सामाजिक प्राणी नहीं चाहता कि जो भी वृत्ति जागे, उसका सामाजिक स्तर पर मुक्तभोग किया जाए। क्रोध जागे और क्रोध का मुक्तभोग किया जाए, यह सामाजिक प्राणी कभी नहीं चाहता। क्रोध जागे, कोई किसी के चांटा मार दे, लाठी मार दे या हत्या कर डाले तो समाज इसे बर्दास्त नहीं कर सकता। किसी में लोभ की वृत्ति जागे, वह दूसरे की संपत्ति पर अधिकार कर ले, लोभ का मुक्त भोग कर ले, समाज इसे मान्य नहीं कर सकता। समाज ने अपनी व्यवस्था बनाई। उसने कहा—दमन करो। तुम सामाजिक प्राणी हो, समूह में रहते हो, इसलिए तुम्हें दमन करना होगा। यह नहीं होगा कि जो मन में आया वह कर ले। ऐसा कभी नहीं हो सकता। सामाजिक भूमिका में दमन का विकास हुआ, नियंत्रण का विकास हुआ, दंड-व्यवस्था का विकास हुआ। दंड की सारी व्यवस्था समाज और राज्य ने की है। राज्य यह कभी सहन नहीं कर सकता कि एक व्यक्ति अपनी मुक्त वृत्तियों के कारण दूसरों के अधिकारों को हनन करे या जो चाहे वैसा करे। यह नहीं हो सकता। एक मर्यादा बनानी होगी। एक रेखा खींचनी होगी कि

व्यक्ति को क्या करना है क्या नहीं करना है। और जो व्यक्ति उन मर्यादाओं की रेखाओं का अतिक्रमण करेगा, वह दंडित होगा। या तो स्वयं वह अपनी वृत्तियों को दबाए अन्यथा उसे दंडित होना पड़ेगा।

यह दमन की बात व्यापक है और समाज के स्तर पर चलती है।

दूसरी बात है भोग की। यह व्यापक नहीं है। यह कुछेक लोगों का सिद्धान्त मात्र है। इस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में उनका चिन्तन यह है कि यदि व्यक्ति वृत्तियों को दबाता है, भोगता नहीं, तो दबाते-दबाते वे वृत्तियां इतनी एकत्रित हो जाएंगी कि एक दिन उनका भयंकर विस्फोट होगा और व्यक्ति उस विस्फोट को संभाल नहीं पाएगा। इसलिए वृत्तियों को दबाओ मत, उन्हें भोग लो। समाज-व्यवस्था में यह बात मान्य नहीं है, किन्तु इस सिद्धान्त के प्रतिपादकों ने मानव की अन्तश्चेतना, अन्तर्मन, अवचेतन मन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि यदि वृत्तियों का दमन किया गया तो उनके परिणाम अच्छे नहीं होंगे। बहुत अधिक क्रोध आ रहा है। यदि उसे जबरदस्ती दबाया गया तो उसका परिणाम यह होगा कि व्यक्ति के सिर में भयंकर पीड़ा उत्पन्न हो जाएगी, हृदय पर भी आघात लगेगा। व्यक्ति उस आघात को संभाल नहीं पाएगा। वह दबाई हुई वृत्ति भीतर ही भीतर सड़ांध पैदा करेगी, शारीरिक और मानसिक बीमारियां उत्पन्न करेगी। इसलिए वृत्ति को दबाओ मत।

मैं मानता हूं कि यह सुन्दर सिद्धान्त है। दमन करो के आगे की बात है—दमन मत करो। मनोविज्ञान का यह प्रतिपादन बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने मन की गहराइयों में जाकर जिन सूक्ष्म सत्यों को खोजा है, उनमें बहुत सचाई है। वे केवल मानसिक कल्पनाएं मात्र नहीं हैं। किन्तु उनमें कुछ अधूरापन भी है। 'मत दबाओ'—इतनी बात तो ठीक है, किन्तु 'उनका उन्मुक्तभोग करो', इस बात के कटु परिणाम आए। 'मत दबाओ' का अर्थ उन्मुक्तभोग कर इस सिद्धान्त के हृदय को ही तोड़ डाला। कुछ साधकों ने अध्यात्म के नाम पर, धर्म और ध्यान के नाम पर मुक्तभोग के प्रयोग प्रारम्भ कर दिए और उन प्रयोगों से अध्यात्म लांछित होने लगा। आज इस मुक्तभोग का व्यापक विरोध हो रहा है। यह विरोध है सामाजिक व्यवस्था का। भारतीय समाज-व्यवस्था इस प्रकार के

मुक्तभोगों के प्रयोगों को मान्य नहीं करती, इसलिए विरोध होना स्वाभाविक है। किन्तु यदि हम सामाजिक विरोध की बात छोड़ भी दें और गहराई में उतरकर अनुभव के आधार पर देखें तो पता चलेगा कि भोग अध्यात्म की ओर नहीं ले जाता, कभी नहीं ले जाता।

'मत दबाओ' का अर्थ मुक्तभोग नहीं होता। फ्रायड ने कहा कि दमन नहीं होना चाहिए। साथ-साथ उन्होंने यह भी कहा कि सब्लीमेशन होना चाहिए, ट्रान्सफोरमेशन—रूपान्तरण होना चाहिए। हमने आधी बात पकड़ ली और आगे की आधी बात छोड़ दी। यहीं से समस्या पैदा हुई। 'दबाना अच्छा है'—यह बात धर्म के मंच से भी कही जा सकती है, अध्यात्म के मंच से भी कही जा सकती है। 'मत दबाओ' का अर्थ होगा—वृत्ति की उदात्तीकरण, वृत्ति का रूपान्तरण। जब मैं अध्यात्म की भाषा में सोचता हूं, मुझे लगता कि 'काम' के रूपान्तरण की बात एक मनोवैज्ञानिक कह सकता है किन्तु अध्यात्म की भाषा में 'काम' का रूपान्तरण नहीं होता, उसका क्षयीकरण होता है, समाप्तीकरण होता है। 'काम' के परमाणु हैं, क्रोध के परमाणु हैं, उनका रूपान्तरण नहीं होता। उनको तो समाप्त ही किया जा सकता है। बड़ी कठिनाई यह हो गई कि हमने ऊर्जा को बांट लिया। यह क्रोध की ऊर्जा है और यह काम की ऊर्जा है—ऐसा मान लिया। ऊर्जा एक ही है। न काम की ऊर्जा है, न क्रोध की ऊर्जा है और न अहंकार की ऊर्जा है। ऊर्जा ऊर्जा है। वह किसी की भी नहीं है। वह शक्तिमात्र है। शक्ति का काम है दूसरे को सक्रिय करना, पुष्ट करना। यदि ऊर्जा 'काम-वासना' की ओर प्रवाहित होती है तो काम-केन्द्र को सक्रिय बना देती है। यदि वह ज्ञान-केन्द्र की ओर प्रवाहित होती है तो ज्ञान-केन्द्र को सक्रिय बना देती है। यदि वह क्रोध के पास जाती है तो क्रोध की वृत्ति सक्रिय हो जाती है और यदि वह क्षमा के पास जाती है तो क्षमा की वृत्ति सक्रिय हो जाती है।

यदि हम काम-वासना के रूपान्तरण की बात स्वीकारते हैं तो 'काम' को एक शाश्वत सत्य के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। काम की ऊर्जा कोई शाश्वत सचाई नहीं है। वह एक आणविक संघटना है, अणुओं

का संस्थान है। काम हमारी चेतना पर छाई हुई अणुओं की एक संरचना है। उन अणुओं को हम विलीन कर सकते हैं, समाप्त कर सकते हैं, किन्तु उनका रूपान्तरण नहीं कर सकते। यदि हम चाहें तो रूपान्तरण इस अर्थ में कह सकते हैं कि हम काम की ओर प्रवाहित होने वाली ऊर्जा की दिशा को बदल सकते हैं। इसके अतिरिक्त कोई रूपान्तरण नहीं होता। अतः काम या सेक्स का रूपान्तरण नहीं, किन्तु सेक्स के मार्ग में जाने वाली ऊर्जा को रोक देना, उसकी दिशा में परिवर्तन कर देना—यही अपेक्षित है।

महावीर ने लेश्या के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। प्रत्येक व्यक्ति के पास एक आभामंडल और एक भावमंडल होता है। भावमंडल हमारी चेतना है और चेतना के साथ-साथ जो एक पौद्‌गलिक संस्थान है, उसे आभामंडल कहते हैं। चेतना हमारे तैसज् शरीर को सक्रिय बनाती है। जब यह विद्युत्-शरीर सक्रिय होता है तब वह किरणों का विकिरण करता है। ये विकिरण व्यक्ति के शरीर के चारों ओर वलयाकार में घेरा बना लेते हैं। यह आभामंडल है। जैसा भावमंडल होता है, वैसा ही आभामंडल बनता है। भावमंडल विशुद्ध होगा तो आभामंडल भी विशुद्ध होगा। भावमंडल मलिन होगा तो आभामंडल भी मलिन होगा, धब्बों वाला होगा। वह काले रंग का होगा, विकृत होगा; अंधकारमय होगा। सारे चमकीले वर्ण समाप्त हो जायेंगे। हम भावधारा को, परिणामधारा को बदल कर आभामंडल को बदल सकते हैं।

अध्यात्म ने वृत्तियों के परिवर्तन का जो सूत्र दिया, वह है—रेचन। उसने कहा—वृत्तियों का दमन मत करो, उनका रेचन कर दो। अपने आपको दंडित मत करो, जबरदस्ती मत करो। अपने आपको हीन-भावना से मत भरो। ये वृत्तियां बीमारियां पैदा करती हैं। आत्म-भर्त्सना और हीन भावना दमा का रोग पैदा करती हैं, और भी अनेक विकृतियां पैदा करती हैं।

इस प्रकार तीन बातें सामने आईं—दमन, भोग और रेचन। रेचन का अर्थ है—निर्जरा। वृत्ति का रेचन करो। क्रोध जागे तो उसे जबरदस्ती मत दबाओ, दबाने पर ऊर्जा धक्का मारती है। जो ऊर्जा क्रोध के साथ

बाहर निकलना चाहती थी, यदि उसे जबरदस्ती रोका जाए तो वह भीतर से धक्का मारती है। वह तो शक्ति है। जहां वह धक्का मारती है, वहां का अवयव हानिग्रस्त हो जाता है। मन को आघात पहुंचता है, इसलिए दबाओ मत, रेचन करो। वृत्ति को निकाल दो, मिटा दो। रेचन करो ध्यान के द्वारा, रेचन करो भावना के द्वारा, रेचन करो शब्द के द्वारा। अध्यात्म के आचार्यों ने रेचन करने के अनेक सूत्र दिए। उन्होंने कहा—'जब क्रोध की वृत्ति जागे तब एक ऐसे शब्द का उच्चारण करो कि क्रोध की वृत्ति को धक्का भी न लगे और क्रोध का रेचन भी हो जाए।'

'कोहो पीइं पणासेइ'—क्रोध प्रीति का नाश करता है। हमारे भीतर बहने वाली प्रेम की गंगा को क्रोध मलिन बना देता है। मैत्री की धारा को क्रोध मलिन कर देता है, दूषित कर देता है। इसलिए क्रोध आते ही ऐसे शब्द का आलंबन लो। एक शब्द को याद करो, तत्काल क्रोध की वृत्ति का रेचन हो जाएगा। शब्द का आलंबन, शब्द से निकलने वाली ध्वनि-तरंगों का आलंबन। भावना और दीर्घश्वास का आलंबन भी क्रोध की वृत्ति के रेचन में सहायक होता है। जैसे ही मन में क्रोध जागृत हो, दीर्घ श्वास का प्रयोग शुरू कर दें। श्वास के रेचन के साथ कार्बन निकलता है और साथ-साथ क्रोध की ऊर्जा भी निकल जाती है। क्रोध शांत हो जाता है। एक आदमी में काम की वृत्ति जागती है। जब वह बाहर निकलती है, तब आदमी सुख का अनुभव करता है। इतना-सा सुख कि जो ऊर्जा काम की वृत्ति के साथ जुड़ी, जो हमारी जैविक विद्युत् काम की वृत्ति के साथ जुड़ी, वह विद्युत् बाहर निकलना चाहती है। जब बाहर निकल जाती है तब ऐसा लगता है कि शांति मिली, बड़ा सुख मिला। जब वह भीतर ही रहती है तब प्रतिरोध करना शुरू करती है और भीतर ही भीतर कचोटने लगती है। काम का सुख, क्रोध का सुख, वृत्ति का सुख मात्र इतना है कि विद्युत् का बाहर निकल जाना। जैसे फोड़े में पीप पड़ जाती है और उसे दबाकर पीप को निकाल देने पर व्यक्ति को सुख होता है, शांति होती है। जैसे पीप विजातीय पदार्थ है और उसके बाहर निकलने पर शांति मिलती है। वैसे ही काम

की विद्युत् जब बाहर निकल जाती है तब व्यक्ति को लगता है कि कुछ खाली हुआ है। उसे सुख का अनुभव होता है। क्रोध आता है और वह क्रोधी व्यक्ति यदि १०-२० गालियां बक देता है तो उसका मन शांत हो जाता है। उसे सुख का अनुभव होता है। जिसको मारना-पीटना है, यदि उसे मारपीट दिया जाता है तो सुख का अनुभव होता है। इनमें होता क्या है? केवल इतना ही होता है कि जो विद्युत् इन वृत्तियों के साथ जुड़ी हुई थी, वह बाहर निकल गई। कार्य समाप्त हो गया। विद्युत् को खर्च करने से आदमी खाली हो जाता है। वह निराशा से भर जाता है। उसका धैर्य समाप्त हो जाता है। उसकी प्रतिभा नष्ट हो जाती है। उसकी चिन्तन-शक्ति समाप्त हो जाती है। उसकी सारी अच्छाइयां चुक जाती हैं। शरीर का बल, मन और बुद्धि का बल नष्ट हो जाता है। प्राणधारा को सक्रिय रखने वाला ईंधन समाप्त हो जाता है। ईंधन के साथ-साथ सक्रियता समाप्त हो जाती है। इसलिए ईंधन को चुका देना वज्र मूर्खता है। एक दिन ऐसा आता है कि आदमी शक्तिशून्य हो जाता है। वह ढीला हो जाता है। मन शक्तिहीन हो जाता है। सारा का सारा शून्य-सा लगने लगता है।

हम विद्युत् को खर्च न करें, केवल वृत्ति का रेचन करें। वृत्तियों के जो परमाणु हैं, उन परमाणुओं का रेचन करो, विद्युत् को खर्च मत करो। विद्युत् को सुरक्षित रखो, यह है अध्यात्म की प्रक्रिया।

दमन की बात उपयुक्त नहीं है। अध्यात्म के किसी भी अनुभवी आचार्य ने दमन का प्रतिपादन नहीं किया। प्राचीन ग्रन्थों में दमन की भाषा नहीं मिलती। हो सकता है कि धर्म के कुछ आचार्यों ने ऐसा लेखन किया हो, पर उसे अनुभवशून्य लेखन ही मानना चाहिए। हर किसी लेखक की बात मान्य नहीं होती। उसी लेखक की बात मान्य होती है जो प्रत्यक्षज्ञानी है। कषायशून्य है, सम्यक्-दृष्टिकोण से संपन्न है, आत्मा को उपलब्ध है, जो अध्यात्म की गहराई में उतरने का अभ्यस्त है, उसकी बात मान्य होती है, प्रमाण होती है। दूसरे व्यक्ति की बात प्रमाण नहीं होती। धर्मग्रन्थों में यत्र-तत्र दमन के कथन प्राप्त होते हैं, परन्तु यह नहीं कह सकते कि सभी धर्मग्रन्थों में यह बात मान्य रही

है। आचार्य रजनीश ने धर्मगुरुओं पर, धर्म पर बहुत बड़ा आक्षेप किया है कि धर्मगुरु दमन सिखाते हैं, धर्म दमन सिखाता है। यह झूठा आक्षेप है। इसमें सचाई नहीं है। धर्मशास्त्र कभी दमन नहीं सिखाते। धर्मशास्त्र रेचन की बात सिखाते हैं। तपस्या की पूरी प्रक्रिया निर्जरा की प्रक्रिया है। धर्मशास्त्र निर्जरा की प्रक्रिया सिखाते हैं। धर्मगुरु निर्जरा का रास्ता दिखाते हैं। निर्जरा की प्रक्रिया दमन की प्रक्रिया नहीं है, रेचन की प्रक्रिया है। जो कर्म परमाणु आत्मा के साथ जुड़े हुए हैं, जो हमारी वृत्तियों को जगाते हैं, उन सारे परमाणुओं का रेचन कर देना, उन्हें समाप्त कर देना, उनका शोधन कर देना—यह है निर्जरा की प्रक्रिया। रेचन और संवर—दोनों साथ-साथ चलें। पुराने परमाणुओं को झाड़ देना और नये परमाणु भीतर न जाने पाएं, ऐसी व्यवस्था करना। यह दोहरी व्यवस्था धर्म के आचार्यों ने की है। इसलिए मैं मानता हूं कि धर्म के आचार्य या धर्मशास्त्र वृत्तियों के दमन की बात नहीं बताते। यदि वृत्तियों के दमन की ही बात होती तो निर्जरा की प्रक्रिया हमारे सामने नहीं आती।

मनोविज्ञान ने जो रूपान्तरण की बात का प्रतिपादन किया, वह सामाजिक स्तर का रूपान्तरण है। उनके पास अध्यात्म की प्रक्रिया नहीं है। अध्यात्म-साधना में एक ऐसी प्रक्रिया का प्रतिपादन है जिसके द्वारा व्यक्ति की वृत्तियों का विलीनीकरण हो जाता है और नये चैतन्य का उदय होता है। हमारी वृत्तियां जागती हैं काम-केन्द्र के पास। क्रोध की वृत्ति, भय और काम-वासना की वृत्ति काम-केन्द्र के आसपास जागती हैं। नाभि के पास दो एड्रीनल ग्रन्थियां हैं। वे वृत्तियों को उत्तेजित करती हैं। जब ऊर्जा नाभि के आसपास घूमती है तब क्रोध, भय और काम की वृत्तियां बार-बार उभरती हैं, और व्यक्ति को सताती रहती हैं। साधना से ऊर्जा का दिशान्तरण करना है, उसके प्रवाह को बदल देना है, उनकी दिशा को बदल देना है। जो ऊर्जा नीचे की ओर प्रवाहित होकर निम्न वृत्तियों को शक्ति देती है, सक्रिय करती है, उसको ऊर्ध्वगामी बनाना, ज्ञान-केन्द्र की ओर प्रवाहित करना—यह साधना का मूल लक्ष्य है। जब ऊर्जा ऊपर की ओर बहने लग जाती है तब वृत्तियां शान्त हो जाती हैं। जब ऊर्जा ज्ञान-केन्द्र तक पहुंचती है तब वृत्ति-केन्द्रों का ही शोधन

होने लग जाता है।

लेश्या के सिद्धान्त में बताया गया है कि कृष्ण-लेश्या नील-लेश्या के भावों को प्राप्त कर नील-लेश्या में बदल जाती है। नील-लेश्या कापोत-लेश्या के भावों को प्राप्त कर कापोत-लेश्या में बदल जाती है। इसी प्रकार कापोत-लेश्या तेजो-लेश्या में, तेजो-लेश्या, पद्म-लेश्या में और पद्म-लेश्या शुक्ल-लेश्या में बदल जाती है।

दूध में दही डाला, दूध दही बन गया। सफेद कपड़े को जिस रंग से रंगा, वह उसी रंग का बन गया। सफेद कपड़ा काला, नीला, पीला, लाल, बैंगनी—सभी रंगों का बन जाता है। बैडूर्यमणि काले धागे में पिरोने से काली झाईं वाला, नीले धागे में पिरोने से नीली झाईं वाला और लाल धागे में पिरोने से लाल झाईं वाला हो जाता है। स्फटिक के सामने जैसा रंग आता है वैसा ही प्रतिबिम्बित हो जाता है। इसी प्रकार हमारी लेश्याएं भी भावों के परिवर्तन के साथ-साथ बदलती रहती हैं। जैसे-जैसे लेश्याएं बदलती हैं, वैसे-वैसे हमारा आभामंडल भी बदलता रहता है।

हम लेश्याओं का परिवर्तन कर अपनी वृत्तियों को बदल सकते हैं, उनका संशोधन कर सकते हैं। इस प्रक्रिया से हम काम-केन्द्र का भी शोधन कर सकते हैं। उसे ऐसा निर्मल बना सकते हैं कि वहां काम और क्रोध की वृत्तियां आएं पर जाग न पाएं, सक्रिय न बन पाएं। वह इतना निर्मल बन जाएगा कि वृत्तियां उभरेंगी ही नहीं। वहां एक ऐसा मैग्नेटिक फील्ड—चुम्बकीय क्षेत्र बन जाता है कि फिर उन निम्न वृत्तियों को वहां स्थान ही नहीं मिलता। वृत्तियां जागें पर भीतर ही विलीन हो जाएं—यह ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा से ही संभव है। हम ध्यान-साधना के द्वारा वृत्तियों का दमन नहीं करते, किन्तु ऊर्जा को ऊर्ध्व पथ मे प्रवाहित कर उनको विलीन कर देते हैं। जब हमारी ऊर्जा ज्ञान-केन्द्र में जाती है, तब सारी निम्न वृत्तियां समाप्त हो जाती हैं। थायराइड, कंठमणि, पिच्यूटरी, पिनियल, विशुद्धि-केन्द्र, दर्शन-केन्द्र, ज्योति-केन्द्र शक्ति-केन्द्र—ये सब ज्ञान-केन्द्र हैं, ज्ञान के भाग हैं। ऊर्जा ऊपर उठकर इन केन्द्रों को सक्रिय करती है। जब ये केन्द्र सक्रिय होते हैं, तब वृत्तिय

अपने आप शुद्ध होने लगती हैं, उनका रेचन होने लगता है। बिना जागे, बिना उदय में आए, बिना विपाक दिए, बिना फल दिए, एक ऐसी उदीरणा होती है कि वृत्तियों का स्वतः रेचन हो जाता है।

साधक का सर्वोपरि कार्य है ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन करना, न कि वृत्तियों का दमन करना।

जो व्यक्ति धार्मिक होकर भी ऊर्जा के ऊर्ध्वगमन की प्रक्रिया को नहीं जानता, वह वृत्तियों का संशोधन नहीं कर सकता। वह दमन की स्थिति में चला जाता है।

अध्यात्म की समूची साधना, योग की समूची साधना, ध्यान की समूची साधना ऊर्जा के ऊर्ध्वीकरण की साधना है।

किसी का सिर दुःखता है। दूसरा व्यक्ति उसके सिर पर हाथ रखता है, सिर दबाता है। उसको लगता है कुछ आराम हो रहा है। शरीर के किसी भाग में दर्द है। स्पर्श किया जाता है, दबाया जाता है, दर्द मिट जाता है। व्यक्ति को सुख का अनुभव होता है। यह सारा प्राण-शक्ति का कार्य है। एक व्यक्ति की प्राणधारा, विद्युत्धारा दूसरे व्यक्ति की प्राणधारा या विद्युत्धारा से संपृक्त होती है तब सुख का अनुभव होता है। यह प्राण-चिकित्सा है। यदि इसे हम अध्यात्म-चिकित्सा या अध्यात्म-साधना मान लेते हैं, ध्यान की साधना मान लेते हैं तब बहुत बड़ी भ्रान्ति हो जाती है। यह सच है कि प्राण-चिकित्सा के द्वारा रोगों को ठीक किया जा सकता है। प्राण-शक्ति के द्वारा एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की विद्युत् को छूकर, उसकी मानसिक कुण्ठाओं को मिटा सकता है, उसकी दमित वासनाओं को रूपान्तरित भी कर सकता है। किसी पुरुष का स्त्री के प्रति अनासक्त भाव हो गया। किसी दुर्घटना के कारण मन में ग्लानि हो गई, प्राण-शक्ति का प्रयोग कर ग्लानि को मिटाया जा सकता है, उस पुरुष में स्त्री के प्रति पुनः अनुराग उत्पन्न हो सकता है। किन्तु यह कोई ध्यान या अध्यात्म का प्रयोग नहीं है। यह मात्र प्राण का प्रयोग है।

स्थूलभद्र मंत्री के पुत्र थे। वे बचपन से ही स्त्री से घबराते थे। स्त्रियों के सहवास से डरते थे। मंत्री को यह अच्छा नहीं लगा। वे अपने

पुत्र को विवाहित देखना चाहते थे। उन्होंने अपने राज्य की प्रसिद्ध वेश्या कोशारूपा के घर स्थूलभद्र को भेजा। वेश्या से मंत्री ने कहा—'इसमें स्त्री के प्रति आकर्षण पैदा करना है। तुम अपनी समस्त कलाओं का उपयोग कर इसे काम-कला में निपुण बना देना।' वेश्या ने प्रयोग किए और स्थूलभद्र में काम के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा। क्या इसको हम अध्यात्म प्रयोग मानेंगे? क्या यह ध्यान-साधना है? यह सच है कि वेश्या ने स्थूलभद्र की मानसिक चिकित्सा की और उसने स्त्रियों के प्रति उन्मुख किया। स्त्रियों के प्रति मन में जो ग्लानि थी, वह समाप्त हो गई।

आजकल धर्म के नाम पर या योगाभ्यास और साधना के नाम पर चलने वाले कुछेक आश्रमों में इस प्रकार की कुण्ठा वाले स्त्री-पुरुषों पर मुक्त यौनाचार का प्रयोग करते हैं और उनकी कुण्ठाओं को समाप्त करते हैं। जो पुरुष स्त्री के पास जाने से या जो स्त्री पुरुष के पास जाने से घबराती है, उनकी इस कुण्ठा को यौनाचार के द्वारा समाप्त कर ध्यान-साधना की दुहाई देते हैं, यह मिथ्या दृष्टिकोण है। यह ध्यान के नाम पर यौनाचार को बढ़ाने का प्रयास मात्र है। यह माना जा सकता है कि इस प्रकार की प्रक्रिया से उसकी मानसिक-चिकित्सा तो हो सकती है, किन्तु इसे हम अध्यात्म-साधना या ध्यान-साधना नहीं मान सकते। यह मन की कुण्ठा की चिकित्सा मात्र है, और कुछ नहीं।

यदि हम इसे ध्यान या अध्यात्म की साधना मानें तो वेश्या कोशारूपा का स्थान पहला होगा। उसने स्थूलभद्र की मानसिक कुण्ठा को मिटाया, उसको उतना ही मूल्य देना होगा जितना मूल्य आज कुछेक आश्रमों में दिया जा रहा है। कोशारूपा ऐसी एक वेश्या नहीं थी। अनेक वेश्याओं ने इस प्रकार के कार्य किए हैं। वे ६४ कलाओं में निपुण होती थीं। उनमें एक मुख्य कला होती थी कि वे अपने प्रयोगों से यौनकुण्ठाओं को मिटाती थीं। इस विधि से वे अनेक पुरुषों को कामुक-प्राणी बना देती थीं। क्या हम उन वेश्याओं को अध्यात्म-केन्द्र मान लें? आज के कुछेक आश्रमों में और उन वेश्यालयों में क्या अन्तर है?

उन आश्रमों में प्रयोग इसी आधार पर हो रहे हैं कि वे 'दमन मत करो, भोगो'—के सिद्धान्त पर चलते हैं। उन्होंने 'दमन' शब्द को

पकड़ लिया। उसका प्रतिफलन हुआ—मुक्त-वासना। मुक्त-यौनाचार को खुलकर खेलने का अवसर मिल गया।

मार्क्स ने कल्पना की थी कि साम्यवादी शासन में कोई परिवार नहीं होगा। कोई पत्नी नहीं होगी, कोई पति नहीं होगा। कोई बाप नहीं होगा। कोई बेटा नहीं होगा। उसकी कल्पना साकार नहीं हुई। यदि साकार होती तो आज अध्यात्म के किसी आचार्य को मुक्त-यौनाचार जैसे प्रयोग नहीं करने पड़ते। यह तो मार्क्स पहले ही कर गए। कल्पना थी। वह सफल नहीं हुई, यह अलग बात है। आज जो साम्यवादी देश हैं, जहां मार्क्स के सिद्धान्तों का क्रियान्वयन हो रहा है, वहां भी यह बात नहीं बनी। आज वहां भी परिवार हैं। पति-पत्नी हैं, बाप-बेटा हैं। सब कुछ है।

आज के युग में मुक्त-यौनाचार के प्रति आकर्षण है और वह ऐसे स्थानों में जाना चाहता है जहां मुक्त-यौनाचार किसी भी नाम से चलता हो—चाहे वह ध्यान की गहराई में जाने के नाम से चले या कुण्ठा-निवारण के लिए चले। किन्तु इसका परिणाम कितना भयंकर होता है, यह सबको ज्ञात है। हम परिणामों को विस्मृत न करें।

प्रवृत्ति का क्षण हमारे लिए मूल्यांकन का क्षण नहीं होता। हम उसे कसौटी नहीं मान सकते। कसौटी बन सकता है परिणाम का क्षण, कसौटी बन सकता है निष्पत्ति और फल का क्षण।

यदि मुक्त-यौनाचार के प्रयोगों के परिणामों पर हम विचार करते हैं तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इतने खराब परिणाम आएंगे कि सारा सामाजिक ढांचा ही विकृत हो जाएगा, लड़खड़ा जाएगा।

गांधी ने इस दिशा में प्रयोग किए। प्रयोग हो सकते हैं। प्रयोगों को मैं अस्वीकार नहीं करता। जैन परम्परा में विजय सेठ और विजया सेठानी के वृत्तान्त की चर्चा है। वे दोनों आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर चुके थे। दोनों एक शय्या पर सोते। किन्तु थे पूरे ब्रह्मचारी। यह प्रयोग था उनका। किन्तु ऐसे विरल व्यक्तियों के प्रयोगों को हम सामाजिक स्तर पर लाना चाहें तो यह हमारी वज्र भूल होगी। सब मुक्त हो जाएंगे। किसी पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहेगा। परिवार नाम की कोई चर्चा नहीं रहेगी। पतिव्रत और पत्नीव्रत जैसे शब्द आकाश-कुसुम बन जाएंगे।

मुक्त-यौनाचार का प्रयोग करने वाले इसे भारतीय विकास का हेतु मानते हैं। यह उनका चिंतन है। अपना-अपना चिंतन। हमें क्यों आपत्ति हो। किन्तु सिद्धान्ततः और अनुभव के आधार पर इस बात पर विचार करें तो हम दोनों तटों—दमन और मुक्त-यौनाचार—को एक दृष्टि से देखेंगे कि दमन जितना अपराध है अपने व्यक्तित्व के प्रति, उतना ही अपराध है उन्मुक्त या उच्छृंखलता अपने व्यक्तित्व के प्रति। हम इन दोनों से बचकर रेचन की बात सीखें, रेचन करना जानें। जब ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा होगी तब हमारी समस्याएं अपने आप समाहित होंगी और हम इस प्रकार की भ्रान्त दिशाओं में जाने से बच जाएंगे।

५. आभामण्डल और शक्ति-जागरण (१)

१. • साधना द्वारा नये द्वार का उद्घाटन।

२. • प्राकृतिक द्वार — नये द्वार

प्राकृतिक द्वार	नये द्वार
* काम	* ब्रह्मचर्य
* तनाव	* शिथिलीकरण
* विचार	* निर्विचार
* कोलाहल	* मौन
* वस्तु के विद्युत्-स्पंदन।	* आंतरिक विद्युत् का स्पंदन।

३. • एनेलेटिकल साइकोलॉजी के प्रवर्तक चुंग ने कहा—'लिबिडो अर्थात् मानसिक शक्ति काम-शक्ति नहीं, किन्तु सामान्य शक्ति है। काम-शक्ति उसका एक भाग मात्र है।

हम सब ज्योति की साधना के लिए उपस्थित हैं। ज्योति दो हैं—आत्मा की ज्योति और तैजस् की ज्योति। हम दो ज्योतियों के बीच अपना उपक्रम कर रहे हैं।

एक है आत्मा की ज्योति। वह जलती है, पर उसके प्रकाश का पता नहीं चलता। वह प्रकाश कभी बुझता नहीं। वह एक ऐसा दीप है जो निरंतर जलता रहता है। उसमें ईंधन की आवश्यकता नहीं होती। उसमें सहज ही ऐसी शक्ति है वह सदा प्रज्वलित रहता है।

दूसरी है तैजस् की ज्योति। यह हमारे शरीर की ज्योति है। हमारा एक सूक्ष्म-शरीर है—तैजस् शरीर। ध्यान-काल में कभी स्फुलिंग सामने आते हैं, कभी चिनगारियां उछलती हैं और कभी रंग सामने आते हैं। ये रंग, चिनगारियां और स्फुलिंग—सारे ही तैजस्-शरीर में से निकलते

हैं और कभी-कभी दिखाई दे जाते हैं। जब हमारा मन सूक्ष्म होता है, एकाग्र होता है, तब वह उन्हें पकड़ लेता है।

ज्योति की साधना में कुछ बाधाएं भी हैं। ये बाधाएं हैं वृत्तियों की। हमने बहुत सारी वृत्तियां अर्जित कर रखी हैं और ये समय-समय पर उभरती रहती हैं। हमारे नाड़ी-संस्थान में तरंगें उठती रहती हैं। कभी किसी चैतन्य केन्द्र से तरंग उठती है और कभी किसी चैतन्य-केन्द्र से। नाना वृत्तियां, नाना केन्द्र और नाना प्रकार की तरंगें। ये तरंगें स्नायुओं को उत्तेजित करती हैं। उत्तेजना अभिव्यक्त होती है। यह साधना में बाधा बन जाती है। हम अभ्यास यह करते हैं कि तरंग न उठे, हमारा स्नायु-संस्थान उस तरंग को स्थान न दे, उसे अपने पर न उतारे। हम स्नायु-संस्थान के शोधन की साधना करते हैं, संस्कारों के शोधन की साधना करते हैं। साधना में सबसे बड़ी बाधा है क्रोध की, भय की और काम-वासना की। ये तीन मुख्य बाधाएं हैं। कभी अप्रियता की अनुभूति होती है और तत्काल क्रोध उभर आता है। कभी काम की तरंगें उठती हैं। भय की तरंग तो बनी ही रहती है। जब तक साधक इन तरंगों से छुटकारा नहीं पा लेता तब तक वह निर्विघ्न रूप से आगे नहीं बढ़ सकता। इनसे निपटने से पहले हमें अपने दृष्टिकोण को शुद्ध बनाना होगा। हमारा दृष्टिकोण बहुत संक्रान्त है। वह एक पारदर्शी स्फटिक है। इसकी भी एक कठिनाई है। जो पारदर्शी होता है वह दूसरे का प्रतिबिम्ब बहुत जल्दी पकड़ लेता है। स्फटिक के सामने जैसा रंग आता है, स्फटिक उस रंग को पकड़ लेता है। वैसा प्रतिभासित होने लग जाता है। दृष्टिकोण की कठिनाई है उसकी पारदर्शिता और पारदर्शिता की कठिनाई है उसकी संक्रामकता। हम इस संक्रामकता से कैसे बचें? हमारे सामने नाना प्रकार के विचार आते हैं और वे हमारे दृष्टि से संक्रान्त हो जाते हैं।

हम अध्यात्म की यात्रा के लिए चलते हैं। हमने तैयारी की कि हम आत्म-दर्शन करें, आत्मा की यात्रा करें। राग हमारे बीच बाधा बनकर खड़ा हो जाता है। वह हमारे दृष्टिकोण में संक्रान्त हो जाता है।

अध्यात्म की भाषा में जो राग है, मनोविज्ञान की भाषा में वही

सेक्स या काम है। वैज्ञानिकों ने एक शब्द का प्रयोग किया—लिबिडो (LIBIDO)। यह काम-शक्ति का बोधक है। जो काम-शक्ति है उसका संबंध केवल सेक्स से ही नहीं है। 'लिबिडो' शब्द सेक्स का पर्यायवाची नहीं है। फिर भी स्थूल या सांकेतिक रूप में मनोविज्ञान काम शब्द को सेक्स के द्वारा अभिव्यक्त करता है। जब तक काम का दिशान्तरण नहीं होता, जब तक राग को नयी दिशा नहीं दे देते तब तक अध्यात्म की यात्रा नहीं हो सकती। काम का दिशान्तरण या मार्गान्तरण बहुत जरूरी है। एक दिशा से जल आ रहा है। वह जिसे सिंचन दे रहा है, वह अवश्य पनपेगा। जब तक हम जल-प्रणालिका को नहीं बदल देते, तब तक नयी पौध पैदा नहीं होगी। यदि नयी पौध पैदा करनी है तो जल-प्रणालिका को मोड़ना होगा, उसकी दिशा बदलनी होगी। जो पहले से सींचा जा रहा है, उस मार्ग को बंद कर, नयी नहर निकालनी होगी, जिससे कि वह जल दूसरों का सिंचन कर सके।

राग, आकर्षण या श्रद्धा—तीनों एकार्थक हैं। साधना का यही लक्ष्य है कि हमारी रागानुभूति, हमारा आकर्षण जिस विद्युत् के प्रति है, उससे मोड़कर नयी विद्युत् के प्रति आकर्षण पैदा करना। काम, राग—ये सब विद्युत् के साथ जुड़े हुए हैं। यह सब विद्युत् का ही चमत्कार है। राग क्या है? एक व्यक्ति की विद्युत् सामने वाले व्यक्ति की विद्युत् से संयुक्त होती है। दोनों का संयोग होता है और राग निर्मित हो जाता है। यदि विद्युत् अनुकूल नहीं है तो राग निर्मित नहीं होगा। इसीलिए एक व्यक्ति के प्रति राग होता है, दूसरे के प्रति नहीं होता। हम बहुत बार सोचते हैं कि अत्यन्त कुरूप पुरुष के प्रति सुन्दर स्त्री का राग कैसे हुआ? जिसकी विद्युत् शक्तिशाली होती है, वह दूसरों को आकृष्ट कर लेती है। इसमें रंग, रूप या संस्थान बाधक नहीं बनता। विद्युत् की अनुकूलता में ऐसा अनुराग उत्पन्न होगा कि दूसरे उसकी व्याख्या नहीं कर सकते। मुग्धता रंग के प्रति नहीं होती। मुग्धता संस्थान या आकृति के प्रति नहीं होती। मुग्धता होती है विद्युत् के प्रति। जब अनुकूलधर्मा विद्युत् मिलती है तो दो व्यक्ति आपस में बंध जाते हैं। विद्युत् विद्युत् को पकड़ती है, बांधती है।

काव्य-शास्त्रों में उल्लिलिखत है कि स्त्री दूसरों को आकृष्ट करने के लिए अपने कटाक्ष के बाणों का प्रक्षेप करती है। यह कटाक्ष क्या है? बहुत बार सोचा, किन्तु इसका यथार्थ समाधान नहीं मिला। किन्तु जब ध्यान-साधना में उतरा तो यह स्पष्ट हो गया। हमारे मस्तिष्क में बहुत विद्युत् पैदा होती है। आंख मस्तिष्क का दरवाजा है। मस्तिष्क को देखने के दो उपाय हैं। य तो मस्तिष्क को शल्यक्रिया द्वारा देखा जा सकता है या आंख के मार्ग से उसको पूरा देखा जा सकता है। मस्तिष्क की विद्युत् आंख से बाहर निकलती है। शरीर की विद्युत् के बहिगर्मन के तीन मुख्य स्थान हैं--आंख, अंगुलियां और वाणी। ये तीन मुख्य द्वार हैं। आंख के माध्यम से जो विद्युत् बाहर जाती है, वह जब दूसरे व्यक्ति की विद्युत् से टकराती है तब व्यक्ति सम्मोहित जैसा हो जाता है। सारा काम विद्युत् का है। इसलिए जब तक हम विद्युत् की गरिमा या कार्यप्रणाली को नहीं समझ लेंगे तब तक काम या राग का दिशान्तरण या मार्गान्तरण घटित नहीं होगा। जो व्यक्ति अपनी विद्युत् को, ऊर्जा को मोड़ देता है, जो ज्ञान के प्रति, धर्म के प्रति, आत्मा के प्रति ऊर्जा को मोड़ देता है, उसकी काम-ऊर्जा शिथिल हो जाती है। उसकी रागानुभूति कम हो जाती है। जिस राग-प्रणालिका से बहता हुआ जल काम को, सेक्स को सिंचन करता था, वह मार्ग धीरे-धीरे बंद होता जाता है और नया मार्ग खुल जाता है। वह जल दूसरे मार्ग से बहने लगता है।

अध्यात्म शास्त्र में राग के दो भेद प्राप्त होते हैं--प्रशस्त राग और अप्रशस्त राग। जो राग धर्म के प्रति होता है, आत्मा के प्रति होता है, धर्ममूर्ति पुरुष के प्रति होता है, वह है प्रशस्त राग। जो राग विषयों के प्रति, पदार्थों के प्रति होता है वह है अप्रशस्त राग। 'धम्माणुरागरत्ते'--जो व्यक्ति धर्म के अनुराग से रक्त होता है वह धार्मिक होता है। यहां भी अनुराग है। राग नहीं मिटा। केवल इतना-सा अन्तर आया कि जो राग विषयों या पदार्थों के प्रति दौड़ता था, वह राग धर्म के प्रति हो गया। वह राग सत्य की खोज के प्रति हो गया। राग के बिना काम नहीं चलेगा। जब तक व्यक्ति वीतराग अवस्था तक नहीं पहुंच जाता,

जब तक उसके सारे कषाय क्षीण नहीं हो जाते, तब तक राग से सर्वथा छुटकारा नहीं हो सकता। किन्तु यहां राग का दिशान्तरण होता है। व्यक्ति का राग धर्ममय बन जाता है, धर्म के प्रति, सत्य के प्रति हो जाता है। पदार्थ के प्रति विराग हो जाता है। साधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—'अनुरागाद् विरागः'—अनुराग से विराग होता है। एक के प्रति अनुराग, दूसरे के प्रति विराग। विराग और राग—दोनों सापेक्ष हैं। जब आत्मा के प्रति राग उत्पन्न होता है तब पदार्थ के प्रति विराग होता है। जब पदार्थ के प्रति राग उत्पन्न होता है तब आत्मा के प्रति विराग होता है। आत्मा और पदार्थ दोनों के प्रति एक साथ राग या विराग नहीं हो सकता।

कुछेक व्यक्ति यह कहते हैं—काम नैसर्गिक है। उसे छोड़कर नया मार्ग क्यों बनाएं? मैथुन संज्ञा प्राणी-मात्र की स्वाभाविक संज्ञा है। उसको क्यों बदला जाए? यह प्रश्न स्वाभाविक है। काम व्यक्ति का नैसर्गिक गुण है, प्राकृतिक गुण है, इतना कहने मात्र से समस्या का समाधान नहीं हो जाता। सच यह है कि जब तक हम प्राकृतिक गुणों का उदात्तीकरण नहीं कर लेते तब तक हम पशु की भूमिका में ही रह जाते हैं। पशु मनुष्य इसलिए नहीं होता कि वह प्रकृति-प्रदत्त नियमों का विकास करना नहीं जानता, मार्गान्तरीकरण या उदात्तीकरण करना नहीं जानता। मनुष्य की क्षमताओं का इसीलिए विकास हुआ कि वह प्रकृति-प्रदत्त या नैसर्गिक गुण-धर्म जो उसे उपलब्ध है, उनका शोधन करना जानता है, विकास करना जानता है, उनका उदात्तीरकण करना जानता है और उनको नया मूल्य देना जानता है। इसीलिए मनुष्य मनुष्य है। उसने नयी दिशाएं खोजी हैं और वह अपनी चेतना को सार्थक कर पाया है। यदि मनुष्य काम को नैसर्गिक मानकर बैठ जाए और पशु की भांति उसका अनियंत्रित उपयोग करता चला जाए तो समाज ही नहीं बनेगा। समाज तब बना जब उसने एक व्यवस्था की, कुछ रेखाएं खींचीं। पशु नया मार्ग खोजना नहीं जानता, नया दरवाजा खोलना नहीं जानता और अपनी ऊर्जा के प्रवाह को और अधिक उपयोगी बनाना नहीं जानता। इसीलिए वह जहां था, वहीं है और वहीं रहेगा।

एक तर्क दिया जाता है कि पशु नंगा रहता है पर भद्दा नहीं लगता। पशु मुक्त-यौनाचार करता है उसे संकोच नहीं होता, लज्जा का अनुभव नहीं होता। जब पशु ऐसा करता है फिर मनुष्य क्यों न करे? **'संभोग से समाधि'** जैसे सिद्धान्तों में ऐसे तर्क दिए जाते हैं। कितना हास्यास्पद है! आज यदि समूचा मानव-समाज पशु बन जाए और फिर इन प्राकृतिक नियमों का उपयोग करे तो कोई आश्चर्य नहीं होगा। एक ओर तो मनुष्य पाशविक नियमों को छोड़कर नये समाज का निर्माण करना चाहता है और न जाने कितने गुण-धर्मों का विकास करना चाहता है, दूसरी ओर काम-वासना की तृप्ति के लिए पशु के गुण-धर्मों का उपयोग कर मुक्त भोगेच्छा को समर्थित करना चाहता है, यह कैसा द्वैध! क्रोध स्वाभाविक है। काम स्वाभाविक है। भय स्वाभाविक है। इन्हें सीखना नहीं पड़ता। स्वाभाविक का अर्थ है जिसे सीखना नहीं पड़ता। जो जन्म से साथ-साथ आता है, वह होता है स्वाभाविक। क्रोध सीखना नहीं पड़ता। क्षमा सीखनी पड़ती है। भय सीखना नहीं पड़ता, अभय सीखना पड़ता है। अब्रह्मचर्य सीखना नहीं पड़ता, ब्रह्मचर्य सीखना पड़ता है।

इस प्रकार कुछ नैसर्गिक हैं और कुछ साधनालब्ध। नैसर्गिक को ही सब कुछ मानकर चलने पर समाज नहीं बनता। मनुष्य ने इन सारी नैसर्गिक बातों को उदात्त किया है। उनका मार्गान्तरीकरण कर मनुष्य ने अनेक विशेषताएं अर्जित की हैं। यदि मनुष्य की सारी ऊर्जा प्राकृतिक नियमों को पूर्ण करने में ही बहती तो आज मनुष्य इतना ज्ञानी नहीं होता, इतना कला-निपुण नहीं होता। वह न सत्यों की खोज कर पाता और न सूक्ष्म रहस्यों से परिचित हो पाता। मनुष्य ने जो महानताएं, विशेषताएं उपलब्ध की हैं, वे अपनी ऊर्जा का दिशान्तरण करके ही की हैं। एक व्यक्ति सत्य की खोज में लगा, धर्म की साधना में लगा और सारा जीवन उसमें लगा डाला। उसकी ऊर्जा सत्य की खोज में लगी और उसने जगत् को नये-नये सत्यों से भर डाला। सारा संसार उनसे उपकृत हुआ।

जब-जब भी आदमी ने बड़ा काम किया है, वह अपने अनुराग के प्रवाह को दिशान्तरित करके ही किया है। वाचस्पति मिश्र ने एक

महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखना प्रारंभ किया। वे विवाहित थे। अभी-अभी विवाह संस्कार हुआ था। वे दिन-रात उस ग्रन्थ के लेखन में लग गए। सारा अनुराग ग्रन्थ-लेखन में लग गया। बारह वर्ष बीत गए। प्रतिदिन नवोढ़ा आती और बुझते दीपक में तेल डालकर चली जाती। उसका यह क्रम प्रतिदिन चलता। ग्रन्थ समाप्ति पर था। रात का समय। वाचस्पति लिख रहे थे। पत्नी आई। दीपक में तेल डाल वह जाने लगी। वाचस्पति ने आंखें ऊपर उठाकर पूछा—'अरे! तुम कौन हो? यहां क्यों आई?' उसने कहा—'मैं आपकी पत्नी भामती हूं।' यह सुनते ही उन्हें विवाह की स्मृति हो आई। बारह वर्ष का विवाह-संस्कार साकार हो उठा। उन्होंने कहा—'माफ करना! मैं भूल गया था। मुझे भान ही नहीं था कि मैंने विवाह किया है।' अन्त में उन्होंने अपनी पत्नी भामती से क्षमा मांगी और उन्हें अपनी भूल का आभास हुआ।

इतने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना तभी हो पाई, जब अनुराग का प्रवाह बदला। यदि ऊर्जा का प्रवाह काम-वासना की ओर बहता तो इस महान् ग्रन्थ की रचना नहीं हो पाती। इसलिए मैथुन को, संभोग या काम-वासना को नैसर्गिक मान लेने पर भी यदि हम नैसर्गिक प्रणालिका में बहने वाली ऊर्जा को दूसरी दिशा में नहीं ले जाएंगे तो फिर मनुष्य पशु ही होगा। वह आज के अर्थ में मनुष्य नहीं बन पाएगा। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम नैसर्गिक राग को एक नया रास्ता, नया मार्ग दें और उसके लिए नया दरवाजा खोलें।

एक बात है कि मुक्तभोग का प्रतिपादन करने वाली विचारधारा के अनुसार प्रेम की महासत्ता का ही दूसरा नाम है 'काम'। अतः प्रेम को विस्तार देने के लिए काम की मुक्तता अनिवार्य है।

काम प्रेम का ही अंग है अर्थात् राग का ही अंग है। यह सच है कि सब कुछ राग से ही चलता है, प्रेम से ही चलता है, किन्तु राग को मुक्त करने की बात बहुत भयंकर है। काम का मुक्त उपयोग कैसे संभव हो सकता है? हम इस संभावना पर विचार करें। क्रोध प्राकृतिक धर्म है। क्या हम उसका मुक्त उपयोग करें? यदि क्रोध का मुक्त उपयोग होने लग जाए तो न परिवार चलेगा, न पड़ोस चलेगा और न समाज

ही चलेगा। सब बिखर जाएगा। मनुष्य ने सबसे पहले एक समझौता किया। उसकी शर्त है—'मैं तुम्हें बाधा नहीं पहुंचाऊंगा, तुम मुझे बाधा नहीं पहुंचा सकोगे।' इस समझौते के आधार पर समाज बना, गांव बने। हजारों व्यक्ति साथ रहने लगे। यदि यह समझौता नहीं होता तो न समाज बनता और न गांव बसते। सारा जंगल ही होता, जहां एक जानवर दूसरे पर झपटता है, मारता है। प्रेम अहिंसा और मैत्री की पहली निष्पत्ति है—समूह में रहना, गांव का बसना। गांव या नगर का विकास, समाज का विकास इसी अहिंसा के समझौते के आधार पर हुआ है। परिवार का विकास भी इसी आधार पर हुआ है। यदि काल अनियंत्रित होता, उसका उपभोग मुक्त होता तो न परिवार बनता, न समाज बनता और न गांव बनता। मुक्त-भोग एक-दूसरे परिवार में हस्तक्षेप है। यह हस्तक्षेप अमान्य रहा है समाज-व्यवस्था में। ऐसी स्थिति में जहां अध्यात्म साधना का प्रश्न है, व्यक्ति के उदात्तीकरण का प्रश्न है वहां मुक्त-भोग की बात कभी मान्य नहीं हो सकती।

मैं मानता हूं कि किसी भी वृत्ति का दमन नहीं होना चाहिए। रिप्रेशन खतरनाक होता है। मनोविज्ञान ने इस पर बहुत प्रहार किया है। यह उचित भी है। दमन नहीं करना चाहिए, दबाना नहीं चाहिए, इसका तात्पर्य यह कभी नहीं होता कि उसे सर्वथा मुक्त कर देना चाहिए। हमें तीसरा मार्ग खोजना चाहिए। न केवल समाज-व्यवस्था की दृष्टि से, किन्तु व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से भी हमें तीसरा मार्ग खोजना चाहिए। न दमन का मार्ग अच्छा है और न मुक्तता का मार्ग अच्छा है। अच्छा मार्ग है रूपान्तरण का, उदात्तीकरण का, शोधन का।

प्रश्न है कि काम के रूपान्तरण के सूत्र कौन-से हैं? उसके उदात्तीकरण और शोधन के सूत्र कौन-से हैं?

नीत्से ने कहा—'सब धर्मों ने सेक्स को जहर पिलाकर मारना चाहा, किन्तु वह मरा नहीं। इतना अवश्य हुआ कि वह विषाक्त होकर, जहरीला होकर जीवित हो गया।' आज काम विषाक्त होकर जी रहा है। वह जहरीला सर्प बनकर डस रहा है। यह बहुत बड़ी सचाई है। जहां दमन होता है, वहां काम मरता नहीं, विषाक्त हो जाता है। व्यक्ति काम को

बहुत बड़ा अनर्थ मानते हैं। उसकी बात करने में लज्जा का अनुभव करते हैं। इतना अस्वाभाविक डर, इतना काल्पनिक भय कि भीतर मे काम की आग भभकती है और बाहर से इतना पानी डालने का प्रयास होता है, दिखावा होता है कि भीतर कुछ नहीं जल रहा है। इस दोहरे व्यक्तित्व ने, काल्पनिक भय ने अनेक प्रश्न पैदा कर दिए और नीत्से जैसे प्रबुद्ध व्यक्ति को ये बातें धर्म के संदर्भ में लिखनी पड़ीं। इसमे सचाई है। इसे नकारा नहीं जा सकता। हमारी धारणा है कि आंख देखती है। उसमें विकार भी आता है। तो आंख को फोड़ देना चाहिए। कितनी आंखें फोड़ेंगे? क्या सारा संसार अंधा बन जाएगा? नयी समस्या पैदा हो जाएगी।

काम स्वाभाविक है। साधना के प्रारंभ में ही यदि कोई व्यक्ति यह प्रदर्शित करता है कि वह काम से ऊपर उठ गया, निष्काम बन गय, वीतराग बन गया तो यह धोखा है, छलना है। यह बहुत बड़ी प्रवंचना है। अपने आपको धोखा, दूसरों को भी धोखा। हम यह मानकर चलें कि जो व्यक्ति साधना शुरू करता है, दिशान्तरण का प्रयत्न शुरू करता है वह एक ही दिन में सिद्ध नहीं हो जाता। प्रयत्न को स्वीकार करें, मार्गान्तरण को स्वीकार करें, अभ्यास को स्वीकार करें, साधना को स्वीकार करें, किन्तु सिद्धि का प्रदर्शन न करें, सिद्ध होने का प्रदर्शन न करें।

स्वाभाविक वृत्तियां मनुष्य में जागती हैं। साधक में भी जागती हैं और सामान्य मनुष्य में भी जागती हैं। साधक वह होता है जो वृत्तियो के मार्गान्तरीकरण की दिशा में प्रस्थान कर चुका होता है। और कोई अन्तर नहीं आता। जो इस दिशा में यात्रा प्रारंभ नहीं करता, वह साधक नहीं होता, भले फिर वह गृहस्थ हो या संन्यासी। जो इस दिशा में यात्रा प्रारंभ कर देता है, वह साधक होता है, भले फिर वह गृहस्थ हो या संन्यासी। प्रश्न है प्रयाण का। प्रयाण करने से पूर्व यह प्रश्न आएगा कि हमारा यात्रा-पथ-कौन-सा है? हमारे प्रयाण की दिशा कौन-सी है?

राग का प्रवाह जो काम की दिशा में जाता है, उसका सबसे बड़ा कारण है तनाव। व्यक्ति में तनाव जितना होता है, उतना ही काम प्रबल

होता है। जितना तनाव उतना काम। तनाव होना, काम की उत्तेजना होना—यह कृष्ण-लेश्या का परिणाम है। कृष्ण-लेश्या वाला अजितेन्द्रिय होता है। यह कृष्ण-लेश्या का भाव है। इसका आभामंडल काला होता है। कृष्ण-लेश्या का परिणाम जितना प्रबल होगा तनाव उतना ही ज्यादा होगा। तनाव के कारण व्यक्ति बहुत सारी बुरी आदतों का शिकार होता है। व्यसनों का शिकार होता है। तनाव को निकालने का एक विचित्र प्रयोग पढ़ा। एक महिला तनावग्रस्त थी। आश्रम में गई। प्रयोग किया। छेड़-छोड़ की गई। वह हल्की हो गई। यह प्रयोग पढ़ा। मुझे बड़ी हंसी आई। हल्की हुई होगी वह स्त्री। एक तनाव था। एक विद्युत् बाहर निकालना चाहती थी, वह छेड़-छाड़ से निकल गई। तनाव समाप्त हो गया। एक बार ऐसा महसूस हुआ, किन्तु वह स्त्री स्वयं दूसरे तनावों से कितनी भर जाएगी। तनाव मिटाने का यह कोई रास्ता नहीं है। उपाय नहीं है। यह बहुत ही तात्कालिक और क्षणिक उपाय है। एक बार हल्कापन लगता है, पर यह कोई मार्ग नहीं है तनाव मिटाने का।

आप यात्रा पर हैं। पांच किलो पानी है साथ में। थक गए। पानी जमीन पर उंड़ेल दिया। अनुभव होगा कि भार हल्का हो गया है। आगे बढ़े, प्यास लगी। अब क्या होगा? अब पता लगेगा हल्का क्या होता है, भारी क्या होता है? हम परिणामदर्शी बनें। परिणाम को न भूलें। हम यह याद रखें कि यात्रा है। प्यास लग सकती है। प्यास को भुलाकर हल्का होने के लिए साथ वाले पानी को उंडेल देते हैं, तो यह अच्छा नहीं है।

जो आदमी शराब पीता है, वह भी तनाव को मिटाने के लिए ही तो शराब पीता है। वह क्या बुरा करता है? जब वह तनाव से भर जाता है और अपने आपको भुलाना चाहता है तब वह शराब की शरण में जाता है। अपने आपको भुलाए बिना बेचैनी होती है, अशान्ति होती है। आदमी ने मदिरा पीनी शुरू की अपने आपको भुलाने के लिए। आदमी ने तम्बाकू पीनी शुरू की अपने आपको भुलाने के लिए। आदमी ने गांजा, चरस पीना शुरू किया अपने आपको भुलाने के लिए। आदमी मूर्ख नहीं था कि उसने बिना प्रयोजन इन वस्तुओं का सेवन प्रारंभ किया

हो। आज का आदमी अनेक प्रकार के ड्रग्स का प्रयोग करता है, क्योंकि वह चाहता है कि वह भय के तनाव से, चिंता और परिस्थितियों के तनाव से, आस-पास के वातावरण के तनाव से मुक्त हो जाए। उनको भुला दे। वे याद ही न आएं।

तनाव को मिटाने के लिए मदिरा पीना बुरी बात तो नहीं है। किन्तु बुरी बात तब बन जाती है जब उसको पीने की आदत स्नायुगत हो जाती है। एक बार मदिरा पी, दो बार पी और आदमी पीता ही गया। वह उसकी आदत हो गई। स्नायु अभ्यस्त हो गए। अब मदिरापन व्यसन बन गया। यह बुरा है।

अध्यात्म के उपाय भी तनाव मिटाने के लिए हैं। पर वे किसी भी स्थिति में बुरे नहीं बनते। अध्यात्म ने उदात्तीकरण की प्रक्रिया प्रस्तुत की। यह मार्ग निरापद है। इसमें कोई दोष नहीं है।

एक गांव था। एक बार वहां रोग फैल गया। रोग को मिटाने के लिए अनेक मांत्रिक आये। एक मांत्रिक ने कहा—'मेरे पास भूत है। वह सारा रोग मिटा देगा पर वह दीखने में बहुत भद्दा है, कुरूप है। यदि उसको देखकर किसी ने मखौल कर दी. कोई हंस गया तो वह सारे गांव को नष्ट कर देगा।'

दूसरे मांत्रिक ने कहा—'मेरा भूत भद्दा है, किन्तु बहुत ही शांत है। कोई कुछ भी करे, वह किसी को कष्ट नहीं देता। वह सारे रोग को मिटाने में सक्षम है।'

राजा ने पहले मांत्रिक से कहा—'तुम चले आओ, तुम्हारा भूत खतरनाक है। रोग मिटाने की बात बाद में है, वह सारे गांव को ही नष्ट कर देगा। ऐसा भूत नहीं चाहिए। गांव में बच्चे भी हैं, बूढ़े भी हैं, स्त्रियां भी हैं। कोई भी उसकी कुरूप आकृति को देखकर हंस भी सकता है। उसकी हंसी सारे गांव की मौत बन जाएगी। ले जाओ अपने भूत को।'

राजा ने दूसरे मांत्रिक से कहा—'तुम इस गांव का रोग मिटाओ। भूत अच्छा है। यह उपाय निरापद है।'

तनाव मिटाने के दो उपाय हैं। एक उपाय है मदिरा-सेवन का

और दूसरा उपाय है वृत्ति के उदात्तीकरण का। मदिरा-सेवन का उपाय स्थायी नहीं है। वह पुनः तनाव पैदा करता है। वृत्ति के उदात्तीकरण का उपाय स्थायी है। तनाव पुनः पैदा नहीं होता।

मदिरापान नशा है तो ध्यान भी एक नशा है। इससे भी मादकता आती है। किंतु यह मादकता कोई बुरा परिणाम नहीं छोड़ जाती। बिलकुल निर्दोष है। इसके साइड-इफेक्ट नहीं होते।

अध्यात्म ने कहा—'मनुष्य को अपने आपको भूलने की आवश्यकता है। इसे मिटाया नहीं जा सकता।' तनाव को समाप्त करने की बात को भी नकारा नहीं जा सकता। तनाव को मिटाने का अचूक उपाय है ध्यान। ध्यान के तीन प्रकार हैं—पहला है—कायिक-ध्यान अर्थात् शिथिलीकरण। दूसरा है—वाचिक-ध्यान, मौन इससे वाचिक तनाव मिट जाता है। तीसरा है—मानसिक-ध्यान—निर्विचारता। विचारों से तनाव आता है। निर्विचार से तनाव समाप्त होता है। ये तीन साधन हैं। चौथा साधन है आन्तरिक विद्युत् का अनुभव। यह सबसे महत्त्वपूर्ण उपाय है। आन्तरिक स्पन्दनों का अनुभव करना बहुत महत्त्वपूर्ण है। जब व्यक्ति पदार्थ के स्पन्दनों का अनुभव करता है तब तनाव से भर जाता है। जब व्यक्ति अपने भीतर के स्पन्दनों का अनुभव करने लग जाता है, जब वे सुखद स्पन्दन जाग जाते हैं तब सुख का अनुभव होने लगता है; अलौकिक सुख की अनुभूति होती है। यह तेजो-लेश्या के स्पन्दन हैं। जब तक ये स्पन्दन नहीं जागते तब तक नयी दिशा नहीं खुलती। जब तक व्यक्ति लाल वर्ण के स्पन्दनों में नहीं जाता तब तक नयी दिशा का उद्घाटन नहीं होता। लाल रंग व्यक्ति को आध्यात्मिक बनाता है। तेजो-लेश्या नया दरवाजा खोलती है। उस व्यक्ति की राग की धारा बदल जाती है। मार्गान्तरण हो जाता है। नयी शक्ति का अनुभव होता है।

मार्गान्तरीकरण के पांच साधन हैं—ध्यान, शिथिलीकरण, मौन, निर्विचारता और आन्तरिक विद्युत् के स्पन्दनों का अनुभव।

आप यह न मानें कि अभ्यास प्रारंभ करते ही ये सब तनाव मिट जाएंगे। अभ्यास करते रहें। प्रयास चालू रहे। निरंतर साधना चलती रहे। मंजिल निकट आती जाएगी। एक दिन हम निश्चित बिन्दु पर पहुंच

जाएंगे। हमें प्रतिदिन का लेखा-जोखा रखना है। प्रतिक्रमण करना है। हमें देखना है कि हम इतने अर्से से साधना कर रहे हैं कहां तक हम पहुंच पाए हैं। क्या प्रतिदिन हम आगे बढ़ रहे हैं या हमारी गति पीछे की ओर हो रही है? हम एक डायरी में इसका अंकन करें।

ध्यान का मूल सूत्र है—जागरूकता, अन्तर्मुखता। जब तक जागरूकता और अन्तर्मुखता बनी रहेगी तो गृहस्थ साधक को काम नहीं सताएगा, वह तनाव से नहीं भरेगा और तनाव मिटाने के लिए उसे मदिरापायी नहीं बनना पड़ेगा। इस साधना से साधु यदि एक साथ वीतराग न भी बने, पर ऊर्जा का ऊर्ध्वीकरण होता रहेगा और आन्तरिक शक्तियां जागेंगी, प्रतिभा में निखार आएगा, प्रज्ञा का जागरण होगा, अन्तर के आलोक का विकास होगा।

६. आभामण्डल और शक्ति-जागरण (२)

१. • हम शक्ति का संवर्धन चाहते हैं।

२. • शक्ति के दो स्रोत हैं—आत्मिक और तैजस्।
   * तैजस् वर्गणा आकाश में व्याप्त

३. • संकल्प-शक्ति का प्रयोग
   प्राण भरने का प्रयोग
   आतापना का प्रयोग
   रंग-ध्यान।

४. • धर्म-लेश्या—तब शक्ति का प्रवाह इस दिशा में—
   'अपने को जानूं', 'अपने को पाऊं'

५. • अधर्म-लेश्या—तब शक्ति का प्रवाह इस दिशा में—
   'दूसरे को वश में करूं', 'दूसरे को दबाऊं', 'दूसरे को ठगूं।'

६. • शक्तिशाली आभामंडल में बाहरी संक्रमण कम।

७. • ओरा के दो प्रकार—मानसिक ओरा (Mental Aura)
   भावात्मक ओरा (Emotional Aura)

८. • ओरिक कलर और मानसिक एवं आवेगात्मक ओरा का पारस्परिक संबंध।

शक्ति-संपन्न व्यक्तित्व के निर्माण के लिए शक्ति का जागरण बहुत आवश्यक है। शक्ति-जागरण के बिना चेतना की ऊर्ध्वयात्रा भी नहीं हो सकती, आनन्द भी उपलब्ध नहीं हो सकता। इसलिए पहले शक्ति-जागरण जरूरी है, शक्ति का संवर्धन आवश्यक है।

दो शक्तियां काम कर रही हैं। एक है आत्मा की शक्ति और

दूसरी है तैजस् की शक्ति, विद्युत् की शक्ति। हमारी आत्मा की शक्ति के स्पन्दन निरन्तर हो रहे हैं। हमारे सूक्ष्म-शरीर के भीतर आत्मिक-शक्ति के प्रकम्पन निरन्तर हो रहे हैं। तैजस् के परमाणु समूचे आकाशमण्डल में व्याप्त हैं। हम उन्हें ग्रहण करते हैं, उनका परिणमन करते हैं, उनका प्रयोग करते हैं। आत्मा की शक्ति और तैजस् की शक्ति—इन दोनों का जब योग होता है तब हमारी क्रियाओं का संचालन होता है। शक्ति के बिना विस्फोट नहीं हो सकता। विस्फोट के लिए शक्ति चाहिए। शक्ति के द्वारा हम विस्फोट कर सकते हैं और भीतर में छिपी चेतना को बाहर लाते हैं। भीतर में छिपे हुए आनन्द के स्रोत को बाहर लाते हैं और उनका उपयोग करते हैं। तैजस् की शक्ति कास्मिक पॉवर है। यह समूचे जगत् के कण-कण में व्याप्त है। आकाश का एक भी कण, एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है जहां तैजस्, परमाणुओं की वर्गणा न हो। प्रश्न केवल इतना ही है कि हम आत्मिक शक्ति के स्पंदनों को जगा सकें और तैजस्-शक्ति को ग्रहण कर सकें। इस प्रक्रिया को हमें जानना है। प्रक्रिया को जाने बिना हम शक्ति का उपयोग नहीं कर सकते, शक्ति को जागृत नहीं कर सकते। जहां हमारे सूक्ष्म-शरीर के भीतर आत्मिक-शक्ति के स्पंदन हो रहे हैं, वहां अन्तराय का स्पंदन भी हो रहा है। अन्तराय शक्ति को रोकने वाली शक्ति है। शक्ति को रोकने वाला कर्म-संस्थान है—अन्तराय। एक ओर से शक्ति के स्पंदन बाहर आते हैं और पूर्णरूप से बाहर आ जाना चाहते हैं। पूरा विकास पा लेना चाहते हैं। दूसरी ओर अन्तराय कर्म के परमाणुओं के स्पंदन इतने सक्रिय हैं कि उसमें अवरोध पैदा करते हैं। हमारा एक काम होगा कि जो आत्म-शक्ति के स्पंदन प्रकट होना चाहते हैं, उसमें अवरोध डालने वाले कर्म परमाणुओं के स्पंदन को दूर हटाएं, रास्ता साफ करें और आत्म-शक्ति को बाहर आने दें। दूसरा काम यह होगा कि तैजस्-शक्ति को विकसित करें। तैजस्-शक्ति हमें उपलब्ध है। वह सूक्ष्म शरीर है। यह विद्युत् की शरीर है, तेज के परमाणुओं का शरीर है। वह हमें सहज उपलब्ध है। हम उसकी शक्ति को सक्रिय बनाएं। उसको सक्रिय बनाने के लिए बाहर के तैजस् परमाणुओं को स्वीकार करना बहुत जरूरी है। जितने तैजस्

के परमाणु अधिक मात्रा में उपलब्ध होंगे, तैजस्-शक्ति शक्तिशाली बनेगा और उसकी क्षमता बढ़ेगी। उसकी प्रक्रिया भी हमें जाननी है। तैजस्-शक्ति को कैसे बढ़ाया जा सकता है और कैसे बाहर से तैजस् परमाणुओं को भीतर लिया जा सकता है—यह सब प्रक्रिया पर निर्भर है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व और अधो दिशा—इन छहों दिशाओं से तैजस् के परमाणु भीतर लिये जा सकते हैं। उन परमाणुओं को ग्रहण करने और भीतर ले जाने को एक शक्ति चाहिए। शक्ति के बिना वैसा नहीं हो सकता। इस शक्ति पर हमें विचार करना है। केवल शारीरिक शक्ति ही शक्ति नहीं है। मन की भी शक्ति है और वचन की भी शक्ति है। शरीर की शक्ति काय-बल, वचन की शक्ति वचन-बल और मन की शक्ति मनो-बल—ये तीनों शक्तियां जरूरी हैं। शरीर की शक्ति भी चाहिए, वचन की शक्ति भी चाहिए और मन की शक्ति भी चाहिए। शक्ति तीन नहीं हैं। ये सब शक्ति की शाखाएं हैं। शक्ति एक और सामान्य है उसके पीछे कुछ जड़ता नहीं। शक्ति केवल शक्ति होती है। ये तो शक्ति के भिन्न-भिन्न प्रयोग हैं। शाखाओं को हम मूल से अलग नहीं मान सकते। एक वृक्ष की सौ शाखाएं हैं। शाखा वृक्ष नहीं होती। शाखा शाखा होती है, वृक्ष वृक्ष होता है। वृक्ष मूल है शाखा शाखा है, मूल नहीं। वृक्ष और शाखा को एक नहीं माना जा सकता। शाखा को कोई नाम नहीं दिया जा सकता और यदि उसे कोई नाम दिया जाता है तो इस भ्रान्ति को भी साथ में तोड़ना होता है कि वह शाखा मात्र है मूल नहीं। मनोबल भी मूल शक्ति नहीं है। वचन-बल भी मूल शक्ति नहीं है और काय-बल भी मूल शक्ति नहीं है। ये सब प्राण-शक्ति, तैजस्-शक्ति की शाखाएं हैं।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में एक भ्रान्ति उत्पन्न हुई। वह भ्रान्ति मनोवैज्ञानिकों के द्वारा उत्पन्न नहीं भी हुई हो किन्तु मनोविज्ञान के विद्यार्थियों में या मनोविज्ञान की चर्चा करने वाले लोगों द्वारा हुई है। उन्होंने मान लिया कि शक्ति एक है और वह है काम की शक्ति। सब कुछ काम-शक्ति ही है और शेष उसी का विकास है। उसी का सब्लीमेशन है। यह बहुत बड़ी भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति को डॉ० जुंग ने

बहुत सरल तरीके से निरस्त किया। एनालिटिकल साइकार्लोजी के प्रवर्तक डॉ. जुंग ने कहा—'लिबिडो काम-शक्ति का पर्यायवाची शब्द नहीं है। लिबिडो एक सामान्य शक्ति है। शेष सारी शक्तियां उस (लिबिडे) की शाखाएं हैं।' उन्होंने एक बहुत बड़ी भ्रान्ति का निरसन किया। यह सही बात है कि शक्ति केवल है तैजस् की। वह शक्ति जिस दिशा में जाती है, उसे संचालित करती है और सक्रिय बनाती है। उस संचालन के आधार पर हम उसका नामकरण कर देते हैं। मन को संचालित करने वाली प्राण-शक्ति को हम मन की शक्ति कह देते हैं। जो शक्ति वचन को संचालित करती है, वह काम-शक्ति कहलाती है। जो जीवन-यात्रा को संचालित करती है वह जीवनी-शक्ति—आयुष्य प्राण कहलाती है। जो शक्ति इन्द्रियों को संचालित करती है वह इन्द्रिय-प्राण, जो शक्ति श्वास-तंत्र को संचालित करती है, वह श्वासोच्छ्वास प्राण कहलाती है। एक ही शक्ति के कार्य-भेद के कारण अनेक नाम बन जाते हैं। ये अलग-अलग शक्तियां नहीं हैं। शक्ति एक है। एक ही शक्ति अनेक काम करती है। जिस दिशा में वह प्रवाहित होती है उस दिशा में वह इतना सिंचन देती है कि बीज पौधा बन जाता है और लहलहा जाता है। हम शक्ति के तंत्र को और शक्ति के सिद्धान्त को समझें। शक्ति-संवर्धन के लिए हमें कुछ प्रक्रियाओं का अवलंबन लेना होगा। जब वह शक्ति विकसित हो जाती है तब हम जिस दिशा में चाहें उस दिशा में उसे प्रवाहित कर लाभ उठा सकते हैं।

शक्ति को विकसित करने के लिए पहला उपाय यह है—हम संकल्प-शक्ति का उपयोग करें। हमारे शक्ति-तंत्र से एक चेतना प्रस्फुटित होती है। चेतना का स्तर है—भाव-तंत्र—लेश्या-तंत्र। हमारे जीवन की समूची प्रणाली भाव-तंत्र से संचालित होती है। आत्म-स्पंदन बाहर आते हैं और भाव का एक संस्थान बनता है। वह ऐसा संस्थान होता है कि जीव के स्पंदन की तरंगें एक आकार लेती हैं और एक भाव के रूप में बदल जाती हैं। उससे हमारे समूचे कर्म-तंत्र का संचालन होता है। हमारा बाहरी व्यक्तित्व वही होता है, जिस प्रकार की लेश्या होती है, जो भाव होता है। जैसा अन्तर् का भाव होता है, जैसी अन्तर् की लेश्या

होती है, वैसा होता है हमारा बाहर का व्यक्तित्व। हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाला सबसे शक्तिशाली तन्त्र है—भाव-तन्त्र और लेश्या-तन्त्र। हम लेश्या को बदलें। शक्ति का विकास करें। शक्ति का प्रयोग लेश्या को बदलने में करें। शक्ति विकास और उसके सही प्रयोग के लिए लेश्या को बदलना जरूरी है। लेश्या-तन्त्र को बदले बिना न शक्ति का विकास किया जा सकता है और न शक्ति का सम्यक् उपयोग किया जा सकता है। लेश्या-तन्त्र को बदलें। बदलने की प्रक्रिया है। सबसे पहले हम चेतना का उपयोग करें। हम सम्यग् दृष्टि से यह विवेक करें कि अमुक भाव व्यक्तित्व के लिए अहितकर है। जब व्यक्ति के मन में निराशा का भाव जागता है, शक्ति को क्षय करने का भाव जागता है, अकर्मण्यता का भाव जागता है, वह व्यक्ति को नीचे बिठा देता है। व्यक्ति को जीवित ही मृत बना देता है। उस स्थिति में चेतना का पहला काम है कि व्यक्ति यह भाव करे—'मैं निराशावादी नहीं बनूंगा, हतोत्साह नहीं होऊंगा, अपने हाथों और पैरों को निष्क्रिय नहीं बनाऊंगा, अपनी क्षमता का उपयोग करूंगा। आशा रखूंगा, उत्साह रखूंगा और अपने लक्ष्य तक पहुंचने का प्रयास करूंगा।' जब यह भाव बन जाए तब इस भाव को आकार देने के लिए हम अपनी संकल्प-शक्ति का उपयोग करें। एक ऐसा स्पष्ट मानसिक चित्र बनाएं, जिसमें यह स्पष्ट हो कि क्या बनना है?—'मैं यह बनना चाहता हूं, मैं यह करना चाहता हूं, मैं शक्तियों का विकास करना चाहता हूं।' चित्र जितना स्पष्ट होगा, उतना ही जल्दी उसमें रंग आते चले जाएंगे। पहले चित्र बनाएं, फिर एकाग्रता की शक्ति का उपयोग करें। सबसे पहले संकल्प-शक्ति का उपयोग और फिर एकाग्रता की शक्ति का उपयोग करें। मन की पूरी एकाग्रता उस चित्र पर केन्द्रित करें। मन को सब विचारों से खाली कर दें। कोई विचार न करें, विकल्प न करें। पूरी एकाग्रता के साथ उस चित्र को देखें। मन में जो भी विकल्प उठे, उन विकल्पों का उत्तर न दें। केवल द्रष्टा बनकर उनको देखते जाएं। जब एकाग्रता की शक्ति का योग मिलेगा, संकल्प की शक्ति आकार लेना शुरू कर देगी फिर इच्छा-शक्ति का उपयोग करें। हमारा भाव आन्तरिक शब्दों का, आन्तरिक

आत्म सूचनाओं का योग पाकर इच्छा-शक्ति के रूप में बदल जाता है। भावना के द्वारा इच्छा-शक्ति के रूप में बदल जाता है। हमने एक भाव लिया, चित्र बनाया, एकाग्रता की ओर फिर भावना का प्रयोग किया—आत्म-सूचन (ऑटो सजेशन) का प्रयोग किया—'मैं यह होना चाहता हूं', 'मैं यह करना चाहता हूं', 'मैं अपनी तैजस्-शक्ति का विकास करना चाहता हूं।' इस आत्म-सूचन से भाव इच्छा-शक्ति में बदलने लगे। वह दृढ़-निश्चय में बदल जाए और पूरा स्पष्ट आकार लेना प्रारम्भ कर दे।

संकल्प-शक्ति का प्रयोग, एकाग्रता की शक्ति का प्रयोग और इच्छा-शक्ति का प्रयोग—जब ये तीनों प्रयोग एक साथ मिलते हैं तब लेश्या का रूपान्तरण हो जाता है। जब लेश्या बदलती है तब आभामंडल भी बदलता है। हमारे अन्तःकरण में सूक्ष्म-शरीर के भीतर छह लेश्या, भाव का मंडल और उसका संबादि अंग है आभामंडल। यह हमारे शरीर के चारों ओर गोलाकार रूप में होता है। जैसी लेश्या, वैसा आभामंडल। जैसा भावमण्डल वैसा आभामण्डल। भाव बदलता है, साथ-साथ आभामण्डल बदल जाता है। जब भाव उदात्त होता है, पवित्र होता है तब आभामण्डल के रंग बदल जाते हैं। रस बदल जाते हैं। स्पर्श बदल जाते हैं। जब भाव खराब होता है तब आभामण्डल का रंग काला हो जाता है। जब भाव अच्छा होता है तब आभामण्डल का रंग पीला हो जाता है, लाल या सफेद हो जाता है। सारे धब्बे समाप्त हो जाते हैं। दोनों साथ-साथ चलते हैं। भावमण्डल हमारी शक्ति को विकसित करता है और आभामण्डल बाहर से आने वाली बाधाओं को रोकता है। बहुत बार ऐसा होता है कि आदमी शान्त बैठा है, अकस्मात् उसके मन में ऐसे विचार आ जाते हैं जिनको वह कभी लाना नहीं चाहता। वह एक विचार को लेकर बैठता है। दूसरे ही क्षण दूसरा विचार आ जाता है। ये विचार क्यों आते हैं? ये विचार कहां से आते हैं? यह खोजना चाहिए। विचार के परमाणु आकाशमण्डल में चक्कर लगाते रहते हैं। अरबों-खरबों व्यक्तियों के विचार आज भी आकाशमण्डल में व्याप्त हैं। जब व्यक्ति इन विचारों की रेन्ज में आता है तब उसके मन में भी यह विचार उत्पन्न हो जाता है और वह विचार उस व्यक्ति का बन जाता है। हम यह न मानें कि हम

जो सोचते हैं वे सब हमारे विचार होते हैं। वे हमारे विचार नहीं होते, वे दूसरों के विचार होते हैं। हम दूसरों के विचारों का भार ढोते हैं। ऐसे-ऐसे विचार हमारे मस्तिष्क में आ घुसते हैं, जिनकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यह निर्णय करना हमारे लिए बहुत कठिन होता है कि हमारा अपना विचार कौन-सा है और दूसरों के विचार कौन-से हैं? मैं क्या सोचना चाहता हूं और क्या सोच बैठता हूं। न जाने किन-किन व्यक्तियों के विचार मेरे मन में घुस आते हैं। बहुत बड़ी कठिनाई है। हमारा यह संसार इतना संक्रमणशील है कि कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं है, अकेला कोई रह नहीं सकता। व्यक्ति जंगल में चला जाए, किसी का मुंह न देखे, किसी पक्षी को भी न देखे, फिर भी वह अकेला नहीं, क्योंकि सूक्ष्म लोक की यात्रा करने वाले सूक्ष्म पदार्थ इतने चक्कर लगाते हैं कि वह व्यक्ति अकेला नहीं रह पाता। वह उनसे संक्रान्त रह जाता है। विचारों का जबरदस्त संक्रमण होता है। ये विचार खाली जगह में नहीं घुसते। ये घुसते हैं भरी जगह में जब व्यक्ति भरा हुआ होता है तब ये ज्यादा घुसते हैं। पता नहीं उनका क्या स्वभाव है। यदि व्यक्ति अपने मन को खाली कर देता है तो वे विचार उनको आक्रान्त नहीं करते। यदि व्यक्ति के मस्तिष्क में विचारों की भीड़ है तो दूसरे विचार भी आकर इसी भीड़ को बढ़ायेंगे। वे भीड़ को ही पसन्द करते हैं। खालीपन उन्हें पसन्द नहीं है। यह विचारों का द्वन्द्व चलता रहता है। हम इन विचारों के आक्रमण को नहीं रोक सकते, जब तक कि हमारा आभामण्डल शक्तिशाली नहीं बन जाता। जब तेजोलेश्या का आभामण्डल बनता है तब विचारों के लिए दरवाजे बन्द हो जाते हैं। कोई बाहरी विचार भीतर नहीं जा सकता। जब पद्मलेश्या का आभामण्डल बनता है तब बुरे विचार अन्दर प्रवेश नहीं पा सकते। जब शुक्ल-लेश्या का आभामण्डल बनता है तब सारी बातें समाप्त हो जाती हैं। बाहर का संक्रमण बन्द हो जाता है। इस स्थिति में ही व्यक्ति अकेला बनता है। समूह में रहते हुए भी वह अकेला बन जाता है। इस संक्रमण के जगत् में जीने वाला कोई अकेला नहीं बन सकता। वह भले ही अकेला रहे, पर इन सूक्ष्म परमाणुओं के लिए अकेला नहीं रह जाता। वह उनकी

भीड़ में आ जाता है। दूसरी ओर जो व्यक्ति तेजो-लेश्या, पद्म-लेश्या और शुक्ल-लेश्या से आभामण्डल का निर्माण कर लेता है तो वह हजारों-हजारों की भीड़ में रहता हुआ भी सचमुच अकेला बन जाता है। जब आभामण्डल या भावमण्डल शक्तिशाली बन जाता है तब बाहर का सारा प्रवेश निषिद्ध हो जाता है। शक्ति-जागरण के लिए यह जरूरी है कि व्यक्ति प्रतिपल जागरूक रहे, अप्रमत्त रहे। मन को जागरूक करना बहुत जरूरी है। जागरूकता के बिना ऐसा हो नहीं सकता। हमारा आभामण्डल, हमारी-लेश्याएं, हमारा भाव-तन्त्र वैसा होगा जैसा भीतर से स्पन्दन आएगा। जब मोह के स्पन्दन आते हैं तब लेश्या कृष्ण बन जाती है; नील और कापोत बन जाती है। आभामण्डल भी वैसा विकृत, अन्धकारमय और धब्बों वाला होगा। जब मोह की शृंखला टूटती है, तब धर्म-लेश्याओं के स्पन्दन जागते हैं, तब आभामण्डल भी पवित्र बनेगा। सारे रंग बदल जाएंगे। आभामण्डल का रंग लाल, पीला या सफेद हो जाएगा। शक्ति का संचार प्रारंभ होगा। शक्ति में बाधा डालने वाले स्पन्दन समाप्त हो जाएंगे।

मैंने प्रक्रिया की बात बताते हुए कहा था, हम संकल्प-शक्ति का प्रयोग करें, एकाग्रता की शक्ति का प्रयोग करें और इच्छा-शक्ति का प्रयोग करें। यह पूरी प्रक्रिया नहीं है। प्रक्रिया शेष रह जाती है। पूरी प्रक्रिया को जाने बिना व्यक्तित्व में परिवर्तन नहीं आ सकता। तैजस् के परमाणुओं का संचय और संग्रहण नहीं कर सकते। ऊर्जा की ऊर्ध्व यात्रा की प्रक्रिया बहुत कठिन है; जन सामान्य के समझ से परे की बात है। उसका अधोगामी प्रवाह व्यक्ति को काम की ओर प्रेरित करता है। काम का अनियंत्रित भोग व्यक्ति को पतित और असामाजिक बनाता है। अतः उसके समक्ष काम के दमन के अतिरिक्त कोई विकल्प ही नहीं रहता। इससे बचने का एकमात्र उपाय है—शक्ति का संवर्धन। ऊर्जा का ऊर्ध्व यात्रा करना बहुत अभ्यास साध्य है। हम इस बात को न भूलें कि जिस दिशा में हमारी शक्ति का प्रवाह ज्यादा होता है वह दिशा सक्रिय बन जाती है और शेष सारी दिशाएं निष्क्रिय रह जाती हैं। इन्द्रियों की दिशा में हमारी शक्ति का बहुत व्यय होता है। काम की दिशा

में शक्ति का व्यय अधिक होता है। स्पर्श, रस, गंध आदि जितने विषय हैं, उनमें शक्ति का बहुत व्यय होता है। उस दिशा में ऊर्जा को प्रवाहित करने का मार्ग सहज लब्ध है।

एक प्रश्न सामने आया। क्या संभोग समाधि का आदि बिन्दु है? यह प्रश्न एक व्यक्ति का नहीं। इस प्रश्न ने अनेक व्यक्तियों को झकझोरा है। हम एक ओर शक्ति की चर्चा करते हैं, शक्ति के विकास की चर्चा करते हैं, किन्तु शक्ति का विकास तब तक संभव नहीं होगा जब तक शक्ति के व्यय को न रोक सकें। एक ओर शक्ति और संचय का प्रयत्न करें और दूसरी ओर से शक्ति का व्यय होता चला जाए तो यह रहट की घड़ियों के जैसा क्रम होगा। जब घड़ियां कुएं के भीतर जाती हैं तब पानी भरता है और जब बाहर आती हैं तब पानी खाली हो जाता है। भरना और खाली होना—इससे बड़ी शक्ति पैदा नहीं होती। नदी निरन्तर बहती रहती है, उससे कोई बड़ी शक्ति पैदा नहीं होती। स्रोत से पानी आता रहता है, आगे चलता रहता है। जब उसके प्रवाह को रोककर पानी बांध दिया जाता है तब उस नियोजित पानी से विद्युत् पैदा होती है और बहुत बड़ी शक्ति पैदा हो जाती है। अतः शक्ति के विकास के लिए यह बहुत जरूरी है कि शक्ति का व्यय रोका जाए।

'संभोग से समाधि'—जब इस प्रकार के दृष्टिकोण सामने आते हैं तब लोगों के मन में एक भ्रान्ति उत्पन्न होती है। कुछ यह मानने भी लग जाते हैं कि समाधि प्राप्त करने का सशक्त साधन है संभोग। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले व्यक्ति की भावना कुछ और रही हो, गूढ़ रही हो, किन्तु सामान्य व्यक्ति उस गूढ़ता तक कैसे पहुंच सकता है? तान्त्रिक प्रयोगों के जो रहस्य थे, वे रहस्य केवल उन्हें व्यक्तियों के लिए थे जो बहुत आगे जाकर विशेष प्रकार के प्रयोग करना चाहते थे। इसीलिए बार-बार कहा गया—'गोप्यम् गोप्यंम्, पुनरपि गोप्यम्।' 'गोप्यम्' की बात जब ढीली पड़ जाती है, तब वे रहस्य जन-सामान्य के समक्ष आते हैं, तब उन रहस्यों का अर्थ सामान्य आदमी अपनी बुद्धि के अनुसार समझता है और भटक जाता है। तर्क आता है—संभोग की अवस्था में निर्विचारता आती है, सुख का अनुभव होता है। उस

निर्विचारता और सुख की स्थिति ने ही समाधि को जन्म दिया है। मनुष्य ने समाधि की खोज इसीलिए की कि उसे निर्विचारता में सुख की अनुभूति हुई। समाधि निर्विचारता का साधन है। इस तर्क के आधार पर यदि हम चलें तो इसके प्रति दूसरा तर्क यह होता है कि समाधि की खोज एक शिकारी ने की, एक मच्छीमार ने की। जब एक शिकारी निशाना साधता है तब वह अपने लक्ष्य में इतना खो जाता है कि उसे निर्विचारता की स्थिति प्राप्त हो जाती है। उसकी एकाग्रता सध जाती है। उस शिकारी ने समाधि की खोज की। निशाने पर तीर लगने से उसे जो आनन्दाभूति होती है, वह अवर्णनीय है। एक चोर सेंध मारते समय कितना एकाग्र होता है, बगुला मछली को पकड़ने में कितना स्थिर और एकाग्र होता है? हम यह क्यों न मानें कि इन सारे स्रोतों से समाधि की खोज की गई। भगवान महावीर ने इसे ध्यान माना है। एकाग्रता ध्यान है, फिर चाहे वह कैसा भी ध्यान क्यों न हो।

एक व्यक्ति लक्ष्यभेदी था। उसे अपनी कला पर गर्व था। एक दूसरा व्यक्ति मिला। उसने कहा—'मेरे गुरु बिना तीर-धनुष के ही लक्ष्य को बेध डालते हैं।' उसके मन में उत्सुकता जगी। दोनों गुरु के पास पहुंचे। गुरु उन दोनों को साथ लेकर पहाड़ की चोटी पर चला गया। वह वहां एक ऐसी चट्टान पर खड़ा हुआ जहां नीचे भयंकर गढ़े और दरारें दीख रही थीं। दोनों घबराए। पर गुरु के साथ खड़े हो गए। गुरु ने अपनी आंखें ऊपर उठाईं। पक्षियों का एक झुण्ड उड़ता जा रहा था। ज्यों ही वह झुण्ड आंखों की रेन्ज में आया, तत्काल सारे पक्षी एक-एक कर नीचे आ गिरे। लक्ष्यबेध हो गया। आंखों ने उन पक्षियों को बींध डाला। क्या यह ध्यान नहीं है? यह बहुत बड़ा ध्यान है, बहुत बड़ी एकाग्रता है, बहुत बड़ी समाधि है। किन्तु सब समाधि समाधि नहीं होती आचार्य भिक्षु ने कहा—'गाय का दूध होता है, आक का दूध होता है और थूहर का दूध होता है। दूध दूध है, कोई अन्तर नहीं। किन्तु यदि गाय के दूध के स्थान पर कोई आक का दूध पी ले तो वह व्यक्ति जीवित नहीं रह सकता।' सब समाधि एक नहीं होती। क्या हम यह मान लें कि मनुष्य ने कभी आक का दूध पीया होगा, इसलिए दूध

की खोज की होगी। यह कितनी बड़ी भ्रान्ति होगी।

सामान्य मनुष्य मान लेता है कि संभोग समाधि का साधन है। संभोग में जाने से समाधि प्राप्त होती है। फिर ध्यान शिविरों में क्यों जाएं? क्यों ध्यान करें? अपने आप जो घटना घटित होती है उसके लिए इतना प्रयत्न करें? यह एक भटकाव है। ध्यान और समाधि के नाम से आप इसमें न भटकें, भ्रान्त न बनें। नाम-साम्य हो सकता है। वह भी समाधि, यह भी समाधि। वह भी ध्यान, यह भी ध्यान। नाम की समानता से न भटकें। संस्कृत शब्दकोश में जितने नाम धतूरे के हैं उतने ही नाम स्वर्ण के हैं। धतूरे और स्वर्ण के नाम एक हैं। जो शब्द धतूरे का वाचक है, वही शब्द स्वर्ण का वाचक है। 'नामसाम्याद् हि चित्तं धतूरोऽपि मदप्रदः'—नाम की समानता के कारण स्वर्ण जैसे आदमी में मद पैदा करता है, वैसे ही धतूरा भी मद पैदा करता है। हम नाम के चक्कर में न पड़ें, वास्तविकता को समझें। इतना मानने में कोई बाधा नहीं कि संभोग से प्राप्त सुख की अनुभूति ने मनुष्य को उत्प्रेरित किया हो कि इससे भी कोई दूसरा आनन्द या सुख होना चाहिए, जो इससे ऊंचा हो।

तर्कशास्त्र का एक सूत्र है। मनुष्य ने पत्थर को जाना। उसका तर्क आगे आया। उसने सोचा—एक पत्थर को जान सकता हूं तो समूची खदान को जान सकता हूं। एक आदमी को जान सकता हूं तो समूचे प्राणी-जगत् को जान सकता हूं। तर्क जब और आगे बढ़ता है और उसका अन्तिम बिन्दु यह प्राप्त होता है कि जब मैं एक को जान सकता हूं तो सबको जान सकता हूं। एक पत्थर सर्वज्ञता के सिद्धान्त का उत्प्रेरक बन सकता है। एक पत्थर का बोध, एक पत्थर का ज्ञान, एक परमाणु का ज्ञान समूचे जगत् के ज्ञान का, सर्वज्ञता के ज्ञान का प्रेरक बन सकता है। जो एक को जान सकता है, वह सबको जान सकता है।

जिसने संभोग के क्षणिक सुख का अनुभव किया है, उसके मन में यह विकल्प उठ सकता है कि यह सुख है तो और भी सुख होना चाहिए। खाने-पीने के पदार्थों से सुख मिल सकता है। सुगन्ध से भी सुख मिल सकता है। तर्क आगे बढ़ता जाता है। इसमें भी सुख है,

उसमें भी सुख है। चलते-चलते यह विचार आता है कि एक बिन्दु ऐसा भी होना चाहिए जहां चरम-सुख की अनुभूति भी होती है। जहां छोटे-छोटे सुख समाप्त हो जाते हैं। यह प्रेरणा बने, कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु मनुष्य ने सच्ची समाधि की खोज इस आधार पर की जो कि कामजन्य सुख है, वह निराशा पैदा करती है। वह शक्ति को क्षीण करता है। विषाद पैदा करता है। ऐसी स्थिति में ऐसा भी सुख होना चाहिए जो आनन्द उपलब्ध कराए, शक्ति क्षीण न करे और विषाद पैदा न करे। इस दिशा में मनुष्य ने खोज प्रारम्भ की और वह एक दिन सही समाधि तक पहुंच गया।

महावीर ने कहा—'खणमेत्तसोक्खा, बहुकालदुःखा'—इन्द्रियों के जितने विषय हैं, उनसे होने वाला सुख क्षणस्थायी होता है। उसका अंत दुःख में होता है। ये प्रवृत्तिकाल में सुख देते हैं और परिणाम काल में दुःख देते हैं। समाधि की खोज प्रवृत्ति के आधार पर नहीं हुई, परिणाम के आधार पर हुई है। मतभेद का बिन्दु है प्रवृत्ति और परिणाम। जब हम केवल प्रवृत्ति को मानकर सुख की बात को आगे बढ़ाते हैं तब हम शक्ति के व्यय के रास्तों को खोल देते हैं। सारी शक्ति खर्च हो जाती है, फिर भी प्राप्त कुछ भी नहीं होता। यह विकास हुआ है परिणाम के आधार पर। जब मनुष्य ने सोचा कि सारे दरवाजों को खोलने का परिणाम यह होता है कि सारा पानी बह जाता है, शक्ति सारी क्षीण हो जाती है तब ऐसा कोई उपाय ढूंढ़े जिससे शक्ति भी क्षीण न हो और आनन्द भी मिल जाए। प्रवृत्ति का क्षण भी अच्छा हो और परिणाम भी अच्छा हो। प्रवृत्ति का क्षण भी सुखदायी और परिणाम का क्षण भी सुखदायी। इस चिन्तन से प्रेरित होकर मनुष्य ने समाधि की खोज की। शक्ति के व्यय को रोकने का उपक्रम सोचा।

ऑकल्ट सांइस के पुरस्कर्ताओं ने दो प्रकार की ओराओं का प्रतिपादन किया है—

१. इमोसनल ओरा (भावनात्मक आभामण्डल)।

२. मेण्टल ओरा (मानसिक आभामण्डल)।

लेश्या के सिद्धान्त में भी ये दो शब्द मिलते हैं। लेश्या दो प्रकार

की होती है। एक प्रकार की लेश्या का सम्बन्ध है कषाय से और दूसरी प्रकार की लेश्या का सम्बन्ध है योग से। 'कषायप्रवृत्तिरंजिता लेश्या'—लेश्या कषाय की प्रवृत्ति (उदय) से रंजित होती है और लेश्या योग के द्वारा संचालित होती है। लेश्या का सम्बन्ध दो आन्तरिक शक्तियों से है—कषाय से और योग से। योग-लेश्या मानसिक आभामण्डल (मेण्टल ओरा) का निर्माण करती है और कषाय लेश्या भावनात्मक आभामण्डल (इमोसनल ओरा) का निर्माण करती है। इस प्रकार आभामण्डल में दो तत्त्व काम करते हैं—एक मानस् और दूसरा भावना। कषाय का स्रोत जितना तीव्र होता है, हमारी शक्तियां उतनी ही क्षीण होती हैं और तैजस्-शरीर दुर्बल बनता चला जाता है। चंचलता अधिक होती है, आभामण्डल क्षीण होता जाता है, मानस् का आभामण्डल क्षीण होता जाता है। क्योंकि मन जितना सक्रिय रहेगा, वाणी जितनी सक्रिय रहेगी और शरीर जितना सक्रिय रहेगा, उतनी ही शक्ति का व्यय अधिक होगा। जब शक्ति का व्यय अधिक होता है तब उसका संग्रह नहीं हो सकता। शक्ति के अतिरिक्त संग्रह के बिना नयी दिशाओं का उद्घाटन नहीं हो सकता, साधना के नये आयाम नहीं खुल सकते। इसलिए शक्ति के अतिरिक्त व्यय को रोका जाए। इसका एक मात्र उपाय है कायोत्सर्ग। हम कायोत्सर्ग करें, शिथिलता का अनुभव करें, जिससे कि हमारे शरीर की कोशिकाएं, हमारे शरीर का कण-कण विश्राम ले सके और उसकी शक्ति खर्च न हो, संचित रहे। श्वास को शांत करें। लम्बा श्वास लें। श्वास को मंद करें, जब श्वास मंद होता है तब शिथिलन होता है, कायगुप्ति और कायोत्सर्ग सधता है, ऑक्सीजन की खपत कम हो जाती है। प्राण-शक्ति का व्यय कम हो जाता है। हम कम बोलें, अनावश्यक न बोलें। मौन रहना सीखें। विद्युत् का व्यय कम हो जाएगा। वाणी के साथ जो विद्युत् खर्च होती है वह बच जाएगी। हम उसका दूसरा उपयोग कर सकेंगे। हम वाक्गुप्त बनें, मौन करें, विचार भी कम करें। विचारों के चक्र को तोड़ना सीखें। विचारों के चक्र से मस्तिष्कीय ऊर्जा इतनी खर्च होती है कि उसकी पूर्ति बड़ी कठिनाई से की जा सकती है। ऐसे ही मस्तिष्क को विद्युत् की बहुत जरूरत होती है। हमारे ऊपर का भाग जो शरीर के भाग

से दो प्रतिशत मात्र है; उसे विद्युत् चाहिए बीस प्रतिशत। अब जहां दो प्रतिशत हिस्सा बीस प्रतिशत बिजली की मांग करे तो क्या हो सकता है। हम निर्विचार रहना सीखें। निर्विचारता में विद्युत् की खपत कम होगी। विद्युत् का और तैजस् का संचय रहेगा। एक ओर हम प्राण प्रयोग के द्वारा, प्राण को अधिक खींचने के द्वारा, भीतर में प्राण-शक्ति को भरें, तैजस्-शक्ति को शक्तिशाली बनाएं और दूसरी ओर उस विद्युत् की खपत को कम करें। हमारी शक्ति का भंडार तब बढ़ेगा, जब हम एक ओर से संकल्प-शक्ति के प्रयोग के द्वारा, प्राण-संग्रह की प्रक्रिया के द्वारा, प्राण भरने की क्रिया के द्वारा शक्ति के भण्डार का संवर्धन करें और उधर खपत कम करें, व्यय कम करें। इस प्रकार शक्ति का भण्डार बढ़ेगा। शक्ति का जागरण होगा, हमारा आभामण्डल शक्तिशाली बनेगा। हमारा भाव-तन्त्र शक्तिशाली बनेगा और हम अपने आस-पास एक ऐसे कवच का निर्माण करने में सफल होंगे, जो कवच हमें सारे बाहरी आक्रमणों से, संक्रमणों से बचाता रहेगा।

७. लेश्या : एक विधि है चिकित्सा की

१. • जीवन के दो मुख्य पहलू--भाव और विचार।

२. • कषाय-संबद्ध भाव और विचार आवेग उत्पन्न करते हैं। ज्ञान-संबद्ध भाव और विचार से चैतन्य की धारा प्रवाहित होती है।

३. • आध्यात्मिक स्वास्थ्य का अर्थ है—मूर्च्छा की समाप्ति।
   * मानसिक स्वास्थ्य का अर्थ है—मन की दुर्बलता की समाप्ति।
   * शारीरिक स्वास्थ्य का अर्थ है—दूषित भावों से उत्पन्न विषों का निस्सरण।

४. • रंग-ध्यान और मन्त्र-प्रयोग से भाव-परिवर्तन किया जा सकता है।

हम उस जगत् में जीते हैं जिसमें सूर्योदय से सूर्यास्त तक विरोधाभास चलते हैं। एक भी क्षण ऐसा उपलब्ध नहीं होता, जिसमें विरोधाभास न हो। एक भी देश ऐसा उपलब्ध नहीं होता, जिसमें विरोधाभास न हो। एक भी व्यक्ति ऐसा उपलब्ध नहीं होता, जिसमें विरोधाभास न हो। संभवतः एक भी पदार्थ ऐसा उपलब्ध नहीं होता, जिसमें विरोधाभास न हो। कोई व्यक्ति विरोधी बात कहता है, वह बात अखरती है, इस व्यक्ति में विरोधाभास है, किन्तु हम यह न भूलें कि हमारा समूचा जीवन विरोधाभासों से भरा पड़ा है। एक भी आदमी ऐसा नहीं जो सोलह आना स्वस्थ हो और एक भी आदमी ऐसा नहीं जो सोलह आना बीमार हो। वह स्वस्थ भी है, बीमार भी है। एक भी आदमी ऐसा नहीं जिसका मन सम्पूर्ण रूप से स्वस्थ हो; पागलपन का जिसमें लेश भी न हो। एक भी आदमी ऐसा नहीं जो सम्पूर्ण रूप से पागल हो। पागल है उसमें भी कुछ समझदारी है। समझदार है उसमें भी कुछ पागलपन है। समझदारी

और पागलपन—दोनों साथ-साथ चलते हैं। न जाने इस जगत् का क्या नियम है कि हर क्षण हर भाग में विरोधाभास उपलब्ध है। इन विरोधाभासों की स्थिति में भी महावीर ने अनेकान्त का प्रतिपादन किया था। उन्होंने कहा—'हम विरोधाभासों को नहीं मिटा सकते। किसी की शक्ति नहीं कि वह उन्हें मिटा दे। हम केवल अपनी दृष्टि में सन्तुलन ला सकते हैं, समन्वय ला सकते हैं, सापेक्षता ला सकते हैं, और विरोधों में अविरोध देख सकते हैं। यह हमारी सीमा में है। किन्तु प्रकृतिगत विरोधाभासों को हम मिटा नहीं सकते। मनुष्य बीमार भी है और स्वस्थ भी है। बीमारी एक अपाय है। उसको मिटाने का उपाय भी है। अपाय और उपाय—दोनों साथ-साथ चलते हैं। जितने अपाय हैं उतने ही उपाय हैं। अपाय है तो उपाय खोजना होगा। जब अपाय सामने आया तब मनुष्य ने उपाय खोजा। शरीर बीमार होता है। बीमारी एक अपाय है। मनुष्य ने शरीर को स्वस्थ रखने के लिए चिकित्सा पद्धति खोजी। शरीर की रुग्णता एक अपाय है। चिकित्सा पद्धति उसका उपाय है। मन की रुग्णता एक अपाय है। मनुष्य ने अपाय खोजा कि मन स्वस्थ रह सके और वह मानसिक स्वास्थ्य के साथ जी सके। दूषित भाव एक अपाय है। मनुष्य ने उपाय खोजा कि भाव प्रसन्न रह सके, निर्मल और निर्दोष रह सके। भाव का दोष आध्यात्मिक बीमारी है तो भाव को स्वस्थ रखना आध्यात्मिक चिकित्सा है। ध्यान की साधना इसलिए है कि उससे भाव शुद्ध कर सकें, विचारों को स्वस्थ रख सकें और साथ-साथ शरीर को भी स्वस्थ रख सकें। भाव का स्वास्थ्य विचारों का स्वास्थ्य और शारीरिक स्वास्थ्य तीनों स्वास्थ्य हमें उपलब्ध हों, इसीलिए ध्यान की साधना करते हैं।

हम दीर्घ श्वास का प्रयोग करते हैं। यह इसलिए कर रहे है कि भीतर में जो विष भरा है, जमा हुआ है, वह निकल जाए और शुद्ध प्राण-शक्ति का प्रवेश हो सके। हम समवृत्ति श्वास का प्रयोग इसलिए कर रहे हैं कि मन की मूर्च्छा टूटे, मन की जागरूकता बढ़े। मूर्च्छा और जागरूकता—ये दो धाराएं हैं। एक है मूर्च्छा की धारा और दूसरी है जागरूकता की धारा। जो व्यक्ति मनुष्य को प्रमाद में ले जाना चाहते हैं, शून्यता में ले जाना चाहते हैं, आत्म-विस्मृति में ले जाना चाहते हैं,

वे मूर्च्छा की धारा के समर्थक हैं। जो व्यक्ति आत्म-चेतना को जागृत करना चाहते हैं वे जागरूकता की धारा के समर्थक हैं। मूर्च्छा की धारा के समर्थक लोग व्यक्ति को मूर्च्छा की समाधि में ले जाते हैं। वे गांजा, चरस आदि मादक पदार्थों का सेवन कराते हैं और व्यक्ति को आत्म-विस्मृति, मूर्च्छा और विचारशून्यता में ले जाते हैं। वे उसे ऐसी दुनिया में ले जाते हैं जहां उसे समाधि का भान होता है। इस प्रकार व्यक्ति की आत्म-चेतना को लुप्त कर, केवल मूर्च्छा का समर्थन करने वाली धारा मूर्च्छा की धारा है। प्रेक्षा-ध्यान की धारा मूर्च्छा की धारा नहीं है। यह जागरूकता की धारा है। इसका उद्देश्य है—सतत जागरूकता, एक क्षण के लिए भी आत्म-विस्मृति न हो, ज्योति सतत जलती रहे, अपने अस्तित्व का भाव निरन्तर बना रहे। व्यक्ति आत्म-चेतना को खो बैठे, बेभान हो जाए, ऐसी समाधि को हम समाधि नहीं मानते और ऐसी समाधि को हम महान् समाधि का मूल्य नहीं देते। हम उस समाधि का समर्थन करते हैं, उस समाधि को मूल्य देते हैं जिसमें विकल्पशून्यता आए, पर अस्तित्व का भान निरन्तर बना रहे। अस्तित्व के भान को भुलाकर होने वाली विकल्पशून्यता जागृति नहीं है, मूर्च्छा है। मूर्च्छा का प्रयोग हम नहीं चाहते। दीर्घश्वास-प्रेक्षा से मूर्च्छा टूटती है। मन शान्त होता है, स्थिर होता है। उसमें मूर्च्छा नहीं होती, अपने अस्तित्व की विस्मृति नहीं होती। इस प्रयोग में हम मन को जागरूक बनाए रखना चाहते हैं, जागरूक बनाए रखते हैं। समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा में भी मन को अत्यन्त जागरूक रहना होता है। जब मन की जागरूकता क्षण भर के लिए भी टूटती है तो उसके साथ-साथ क्रम भी टूट जाता है। जब मन अजागरूक होता है तब यह संभव नहीं है कि व्यक्ति एक नथुने से श्वास ले और दूसरे नथुने से छोड़े। यह क्रम टूट जाता है। पूरा जागरूकता का प्रयोग है। शरीर-प्रेक्षा भी पूरा जागृति का प्रयोग है। जैसे ही व्यक्ति मूर्च्छा में जाता है, शरीर-प्रेक्षा का क्रम टूट जाता है, मन नींद में चला जाता है। शरीर का कण-कण तभी देखा जा सकता है जब मन पूरा जागरूक रहे। साथ-साथ विकल्पशून्य रहे। राग-द्वेष की ऊर्मियों से खाली रहे, निस्तरंग रहे। चैतन्य-केन्द्रों की प्रेक्षा का प्रयोग भी जागरूकता का

प्रयोग है। भाव को निर्मल रखने का प्रयोग भी जागरूकता का प्रयोग है। जब भाव शुद्ध नहीं होगा तब विचार शुद्ध नहीं होंगे, तब शरीर शुद्ध नहीं होगा। हम विचारों की इतनी चिन्ता न करें। विचार की चिन्ता मनोवैज्ञानिक बहुत करते हैं। वह उनका विषय है। किन्तु अध्यात्म का साधक सबसे पहले भाव की चिन्ता करता है, लेश्या की चिन्ता करता है। भाव और विचार दो बातें हैं। दोनों भिन्न हैं। भाव का सम्बन्ध है कषाय के स्पन्दनों से और विचार का सम्बन्ध है मस्तिष्क के आवरणों से। हमारे सूक्ष्म-शरीर के अन्दर दो प्रकार के स्पन्दन समान्तर रेखा में चलते हैं। एक है मोह का स्पन्दन और दूसरा है मोह के विलय का स्पन्दन। दोनों स्पन्दन चलते हैं और वे भाव बनते हैं। कषाय जितना क्षीण होगा, मोह का स्पन्दन उतना ही निर्वीर्य बन जाएगा। शक्तिशून्य बन जाएगा, निष्क्रिय बन जाएगा। वह समाप्त नहीं होगा किन्तु उसकी सक्रियता कम हो जाएगी। उसका प्रभाव क्षीण हो जाएगा। जब मोह के विलय का स्पन्दन शक्तिशाली होगा तब भाव मंगलमय और कल्याणकारी होंगे। जब-जब कषाय के स्पन्दन कम होते हैं, तब-तब तेजो-लेश्या, पद्म-लेश्या और शुक्ल-लेश्या के स्पंदन तथा भाव शक्तिशाली बनते जाएंगे। जब-जब मोह के स्पंदन शक्तिशाली होते हैं, नील और कापोत-लेश्या के स्पंदन शक्तिशाली होते हैं तब-तब तेजो-लेश्या और पद्म-लेश्या के स्पंदन क्षीण हो जाते हैं। दो धाराएं हैं। एक ओर तीन काली लेश्याएं हैं। एक ओर तीन प्रकाशमय लेश्याएं हैं। महावीर ने कहा—'तीन लेश्याएं प्रशस्त हैं और तीन लेश्याएं अप्रशस्त हैं। तीन लेश्याएं रूखी हैं और तीन लेश्याएं चिकनी हैं। तीन लेश्याएं ठण्डी हैं और तीन लेश्याएं गर्म हैं।' कितना महत्त्वपूर्ण सूत्र है भावों को समझने का। आज के रंग विज्ञान में इसका संभावी सूत्र हमें उपलब्ध हो जाता है। अभी मैंने 'कलर थेरापी' की एक पुस्तक देखी। उसमें कलर के दो डिवीजन किए गए हैं। एक है लाइट कलर और दूसरा है डार्क कलर। फीका रंग और गहरा रंग। एक है गर्म रंग और दूसरा है ठण्डा रंग। वलय है ठोस। रंग की चार छायाएं होती हैं। गर्म रंग और प्रकाशमय छाया, गर्म रंग और अन्धकारमय छाया, प्रकाश ठण्डा और अन्धकार गर्म। हमारी

तीन लेश्याएं ठण्डी और रूखी होती हैं। काला रंग, नीला रंग और कापोती रंग—ये तीनों रंग और तीनों रंगों की लेश्याएं ठण्डी होती हैं और रूखी होती हैं। जब व्यक्ति के मन में इन लेश्याओं के स्पंदन जागते हैं तब उसमें हिंसा, झूठ, चोरी, ईर्ष्या, शोक, घृणा और भय के भाव जागते हैं। वे रंग इन भावों को उत्पन्न करते हैं। काला रंग भय का निर्माण करता है। जब-जब काले रंग के स्पंदन जागते हैं तब-तब व्यक्ति के मन में अनायास ही भय की अनुभूति होने लगती है, भय के भाव का निर्माण हो जाता है।

तेजो-लेश्या, पद्म-लेश्या और शुक्ल-लेश्या—ये तीन लेश्याएं गर्म और चिकनी हैं। जब इनके स्पंदन जागते हैं तब व्यक्ति के भाव निर्मल बनते हैं। अभय, मैत्री, शान्ति, जितेन्द्रियता, क्षमा आदि पवित्र भावों का निर्माण होता है। जब भाव पवित्र होते हैं, निर्मल होते हैं तब विचार भी निर्मल होते हैं। विचारों का सम्बन्ध कषाय से नहीं है। विचारों का सम्बन्ध है मस्तिष्क से और ज्ञान से। विचार, स्मृति, चिन्तन, विश्लेषण, चयन, निर्धारण—ये ज्ञान की जितनी शाखाएं हैं, इन सबका सम्बन्ध मस्तिष्क से है। जितने भाव हैं उन सबका सम्बन्ध हमारी अन्तःस्रावी ग्रन्थियों से है। शरीर में दो तन्त्र हैं उनकी अभिव्यक्ति के। एक है ग्रंथि-तंत्र और दूसरा है नाड़ी-तन्त्र। एक है मस्तिष्क और एक है पृष्ठरज्जु। हमारे भावों को व्यक्त करता है ग्रन्थि-तन्त्र और विचारों का निर्माण करता है नाड़ी-तन्त्र। पहला है भाव, दूसरा है विचार। विचार से भाव नहीं बनता, किन्तु भाव से विचार बनता है। जिस लेश्या का भाव होता है, वैसा ही विचार बन जाता है। भाव अंतरंग-तन्त्र है और विचार कर्म-तन्त्र है। यह करने वाला तन्त्र है भाव। इसलिए हमें विचारों पर अधिक ध्यान देने की जरूरत नहीं है। विचारों पर वे लोग ध्यान दें जो बाहर ही बाहर घूमते हैं। जो भीतर की यात्रा कर रहा है, भीतर में बैठा है उसे विचार पर ध्यान देने की जरूरत नहीं है। वे भाव पर ध्यान दें, भाव को निर्मल करें। प्रश्न होगा कि भाव को कैसे निर्मल करें? उसकी प्रक्रिया क्या है?

भावों को निर्मल बनाने का सबसे सरल उपाय है रंगों का ध्यान

करना। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपाय है। चिकने रंगों का ध्यान भावों को निर्मल बनाने में उपयोगी होता है। पीला, लाल और सफेद—ये तीन रंग भाव-शुद्धि के कारण हैं।

तन्त्रशास्त्र के विषय में लोगों में बहुत भ्रान्तियां हैं। भ्रान्तियां होने का कारण भी है कि तन्त्र के आधार पर भैरवीचक्र जैसी पद्धतियां चल पड़ीं और वाममार्ग प्रचलित हो गया। इन पद्धतियों ने भ्रान्तियां फैलाईं किन्तु मैं मानता हूं कि तन्त्रशास्त्र ने साधना के महत्त्वपूर्ण प्रयोग प्रस्तुत किए। उन्हें हम शुद्ध आध्यात्मिक प्रयोग कह सकते हैं। कहीं कोई दोष नहीं, कहीं कोई त्रुटि नहीं।

तन्त्रशास्त्र का एक प्रयोग है—साधक पूरे शरीर को लाल सूर्य जैसे लाल रंग में देखे, ध्यान करे। छह महीने के इस प्रयोग से वीतरागता सिद्ध हो सकती है।

तन्त्रशास्त्र का एक प्रयोग है—साधक अपने शरीर को आकाश में स्थित देखे और शरद ऋतु की संध्या जैसे रंग का ध्यान करे। छह महीने तक ऐसा निरन्तर ध्यान करने पर वीतराग भाव घटित होने लगता है।

तन्त्रशास्त्र का एक प्रयोग है—नासाग्र पर स्वर्ण के रंग का या श्वेत वर्ण का ध्यान करने से दूषित भावना से मुक्ति मिल जाती है। चेतना के विकास के, इन्द्रिय जय के, ज्ञानशक्तियों के और वीतरागता के अनेक प्रयोग तन्त्रशास्त्र ने प्रस्तुत किए। वे सारे महत्त्वपूर्ण प्रयोग लेश्या के सिद्धान्त से संबद्ध हैं। रंगों का महत्त्व कम नहीं है। हमारे समूचे भाव-तन्त्र पर रंगों का प्रभुत्व है। रंगों के द्वारा शारीरिक बीमारियां मिटाई जा सकती हैं, मानसिक दुर्बलताओं को मिटाया जा सकता है और आध्यात्मिक मूर्च्छा को तोड़ा जा सकता है। लेश्या-पद्धति आध्यात्मिक मूर्च्छा को मिटाने की महत्त्वपूर्ण चिकित्सा-पद्धति है। दूषित भावों और विकृत विचारों द्वारा जो जहर शरीर में पैदा होता है, जो विष एकत्रित होता है, उसे बाहर निकालने की यह अभूतपूर्व पद्धति है। रंगों के ध्यान से या रंग चिकित्सा से संचित विष बाहर निकलते हैं और भावों तथा विचारों को निर्मल बनाते हैं।

कोई व्यक्ति बुरी भावना करता है। भावना चली जाती है, पर

वह अपने पीछे विष छोड़ जाती है। वह विष शारीरिक या मानसिक बीमारी बनकर व्यक्ति को सताता रहता है। वह व्यक्ति अशान्त और असन्तुलित बन जाता है। मनुष्य का यह एक स्वभाव है कि वह परिणाम पर अधिक ध्यान नहीं देता। यदि वह परिणाम पर सोचने-विचारने लग जाए तो वह फिर कभी बुरी भावना नहीं कर सकता। अनिष्ट चिन्तन नहीं कर सकता। मनुष्य परिणामों से आंखें मूंदकर ही बुरी प्रवृत्तियां करता है, बुरी भावना और अनिष्ट का चिन्तन करता है।

रंग का ध्यान बहुत महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति श्वेत वर्ण में अर्हं का ध्यान करता है, वह नाना प्रकार की व्याधियों से मुक्त हो जाता है। उसके शरीर में संचित विष समाप्त हो जाता है। जो व्यक्ति अरुण वर्ण (बाल-सूर्य जैसा लाल वर्ण) का ध्यान करता है, उसमें तेजो-लेश्या के स्पन्दन जागते हैं और उसकी मन की दुर्बलता समाप्त हो जाती है, मन की कठिनाइयां समाप्त हो जाती हैं। मनुष्य मन की कठिनाइयों से आक्रान्त है। वह उनको जानता है। मन के कुछ भी प्रतिकूल होता है तो मन टूट जाता है, बिखर जाता है, और उपद्रव करने लग जाता है। कोई अप्रिय घटना घटती है, मन टूट जाता है। कोई प्रिय व्यक्ति चला जाता है, मनुष्य आत्मघात करने को तैयार हो जाता है। मनुष्य का मन इतना कोमल और नाजुक है कि वह थोड़ी भी प्रतिकूल स्थिति को सह नहीं सकता। वह टूट जाना चाहता है। मन की इस दुर्बलता को लेश्या-ध्यान के द्वारा मिटाया जा सकता है। उसके द्वारा मन को इतना शक्तिशाली बनाया जा सकता है कि कोई घटना घटे, मन उससे टूटने से बच जाता है। घटना को नहीं रोका जा सकता, मन को टूटने से बचाया जा सकता है।

अर्हं के ध्यान द्वारा भावों का भी अद्‌भुत ढंग से परिवर्तन होता है। जब हम इन गर्म रंगों (पीला, लाल, श्वेत) का ध्यान करते हैं और उनसे तन्मयता प्राप्त करते हैं तब हमारे भाव परिवर्तित हो जाते हैं। विचारने और सोचने की जरूरत नहीं, सहज बदल जाते हैं। सारे स्पंदन बदल जाते हैं। विचारों के, विकल्पों के और मोह के जो स्पंदन इन गर्म रंगों के स्पंदनों से रुक जाते हैं, निर्वीर्य हो जाते हैं। साथ-साथ

कषाय-विलय और मूर्च्छा-विलय के जो स्पंदन होते हैं, उन्हें शक्ति मिलती है और वे सक्रिय हो जाते हैं। लाल रंग या नारंगी रंग टॉनिक का काम करता है। यह महत्त्वपूर्ण रसायन है। इससे पूरी सक्रियता पैदा होती है और अणु-अणु में गर्मी आ जाती है।

रंगों का ध्यान महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इस ध्यान से शरीर और मन की दुर्बलता मिटती है। स्मृति और बुद्धि का विकास होता है। ज्ञान-तन्तु शक्तिशाली बनते हैं। इन सबके लिए अलग-अलग प्रयोग हैं।

भावों को बदलने का दूसरा शक्तिशाली साधन है—शब्द। मन्त्रों की पद्धति इसका साक्षी है। मन्त्रों के द्वारा भावों को बदला जा सकता है। यह मूल्यवान् साधन है। मन और शरीर के साथ मन्त्र का बहुत बड़ा सम्बन्ध है। तन्त्र और मन्त्र—दोनों साथ-साथ चलते हैं। तन्त्रशास्त्र के भी मन्त्र बहुत हैं। मन्त्र का प्रयोग शब्द का प्रयोग है। इससे भाव बदलते हैं। एक व्यक्ति के मन में जो भाव बन जाता है, निर्मित हो जाता है, उसे तोड़ना कठिन होता है। कोई समझदार व्यक्ति अपने को भाव तक पहुंचा देता है तो सफल हो जाता है। यह एक महत्त्वपूर्ण चिकित्सा-पद्धति है। कुछ घटनाएं प्रस्तुत करूं।

एक आदमी बीमार था। बहुत घबरा रहा था। एक वैद्य आया। रोगी को देखा। उसकी घबराहट को देखा। वैद्य बोला—'घबराओ मत। सांझ होते-होते तुम स्वस्थ हो जाओगे, घूमने-फिरने लग जाओगे। तुम्हारी घबराहट मिट जाएगी। मैं ऐसी दवा दूंगा कि रोग मिट जाएगा।' वैद्य बाहर गया। राख और नमक की पुड़िया बांधी। रोगी को पुड़िया देते हुए कहा—'यह बहुत कीमती दवा है। दो पुड़िया लेते ही बीमारी शान्त हो जाएगी।' रोगी को इतना विश्वास दिलाया कि स्वस्थ होने की बात भाव तक पहुंच गई। रोगी ने पुड़िया लिया। दूसरी पुड़िया लेते ही उसे स्वस्थता का अनुभव होने लगा और सांझ से पहले ही वह चलकर वैद्य के घर चला गया। न बीमारी और न घबराहट। पुड़िया का चमत्कार नहीं था, चमत्कार था बात का भाव तक पहुंच जाना।

आचार्य भिक्षु के समय की बात है। उस समय वे मुनि नहीं बने थे। वे ऊंट पर कहीं जा रहे थे। साथ में एक व्यक्ति था। उसे तम्बाकू

सूंघने की आदत थी। पास में तम्बाकू पूरी हो गई। उस व्यक्ति का शरीर टूटने लगा। उसे शक्तिहीनता का अनुभव होने लगा। वह मार्ग में ही बैठ गया। भिक्षु ने पूछा—'क्या बात है? निढाल होकर कैसे बैठ गए?' उसने कहा—'भीखणजी! मैं अब आगे एक कदम भी नहीं चल सकता। तम्बाकू पूरी हो गई है। उसका नशा उतर गया है। जब तक तम्बाकू न सूंघ लूं तब तक चल पाना कठिन है।' भिक्षु ने कहा—'मैं इधर-उधर जाकर किसी राहगीर से तम्बाकू ले आता हूं। चिन्ता मत करो।' वे गए। वहां कौन राहगीर आता! एक सूखा उपला लिया। उसका बारीक चूर्ण किया। एक पुड़िया बांधकर ले आए। आकर बोले—'भई! तुम्हारा भाग्य था कि एक पथिक मिल गया। उसके पास तम्बाकू थी। यह ज्यादा अच्छी तो नहीं है, फिर भी काम आ जाएगी।' उसने पुड़िया खोली। तम्बाकू सूंघी। दो क्षण बाद वह बोला—'अब चलो, तम्बाकू का नशा चढ़ गया। अब आराम से घर पहुंच जाएंगे।' यह क्या है? केवल उपले का चूर्ण तम्बाकू बन गया। भाव को बदल देने की शब्द में इतनी बड़ी शक्ति है कि जिस व्यक्ति का शब्द दूसरे व्यक्ति के भाव तक पहुंच जाता है, सारी स्थिति बदल जाती है।

एक घटना याद आ रही है। बहू को गुस्सा बहुत आता था। सारे घर वाले हैरान थे। एक बार सास बहू को लेकर एक व्यक्ति के पास गई। वह शरीर की चिकित्सा के साथ-साथ मन और भावों की चिकित्सा करना भी जानता था। बहू ने कहा—'मुझे गुस्सा बहुत आता है। इसकी दवा दो।' उसने एक बोतल देते हुए कहा—'जब गुस्सा आता दिखाई दे तब इस दवा को मुंह में भर लेना और दस-पन्द्रह मिनट बाद निगल लेना। यह रामबाण दवा है। बहुत कीमती है।' उसने इस विश्वास की बात को बहू के भाव-संस्थान तक पहुंचा दिया। वह दवा क्या, केवल पानी था। बहू ने उसका प्रयोग किया। दस दिन में उसका गुस्सा समाप्त हो गया।

गुर्जियाफ रूस का बहुत बड़ा साधक था। एक बार उसके पिता ने कहा—'बेटा, मेरी एक बात मानना, जब गुस्सा आए तो चौबीस घण्टे बाद गुस्सा करना, पहले नहीं।' इस एक बात ने गुर्जियाफ को महान्

साधक बना डाला। क्या कोई २४ घण्टे बाद गुस्सा कर सकता है? कभी नहीं कर सकता। गुस्सा समाप्त हो जाता है। जब गुस्से की गर्मी जागती है तब उसे कर लिया जाए तब तो गुस्सा है। अन्यथा फिर गुस्सा नहीं होगा। गर्मी मिट जाएगी।

भावों को बदलने का सशक्त माध्यम है शब्द। जब हम शब्द को व्यक्ति के भाव-तन्त्र तक पहुंचा देते हैं तब यथेष्ट काम बन जाता है। ठीक शब्दों का चुनाव करते हैं; ठीक शब्दों का प्रयोग करते हैं, ऐसे शब्दों और निर्देशों का चुनाव करते हैं कि वे भाव-तन्त्र तक पहुंच जाएं, उसे आन्दोलित कर दें, उसमें क्षोभ पैदा कर दें। उसे प्रकम्पित कर दें और मोह के स्पन्दनों को शान्त कर दें तो सचमुच भाव्-परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। दुनिया में जितने भी समझदार व्यक्ति हुए हैं उन्होंने शब्दों के चयन पर बहुत ध्यान दिया है। बोलने का विवेक और शब्दों का चयन बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है। आदमी किसी भी उपाय से नहीं बदलता। शब्दों का सही चयन करें, आदमी बदल जाएगा।

एक व्यक्ति था। उसे दही बहुत रुचिकर था। वह दही को छोड़ना नहीं चाहता था। एक बार वह बीमार हो गया। खांसी ने उसे आ घेरा। वैद्य आते। दवा देते और दही खाने की मनाही करते। वह दवा नहीं लेता। सभी वैद्य निराश हो गए। एक दिन वैद्य आया जो शरीर की ही समस्या को नहीं जानता था, मन और भावों की समस्याओं से भी परिचित था। वह आया। बीमार ने कहा—'दवा दो, पर मैं दही खाना नहीं छोडूंगा।' वैद्य बोला—'मैं तुमसे दही नहीं छुड़वाऊंगा। दही खूब खाओ।' यह सुनते ही बीमार व्यक्ति का मन कुतूहल से भर गया। उसने पूछा—'वैद्यजी! सब दही को मनाही करते हैं, आपने दही खाने की छूट कैसे दी?' वैद्य बोला—'दही में अनेक गुण हैं।' बीमार आदमी दही के गुण की बात सुनकर प्रसन्न हुआ। वैद्य ने कहा—'दही के तीन गुण है। कफ की बीमारी या खांसी की बीमारी में जो कोई दही खाता है, उसको तीन लाभ होते हैं। पहला लाभ है कि वह कभी बूढ़ा नहीं होता। दूसरा लाभ है कि उसके घर में कभी चोरी नहीं होती। तीसरा लाभ है कि उसे कभी कुत्ता नहीं काटता।' रोगी ने कहा—'दही खाने

के साथ इन सबका क्या सम्बन्ध है?' वैद्य बोला—'खांसी में जो दही खाता है वह बूढ़ा इसलिए नहीं होता कि वह पहले ही मर जाता है। उसके घर में चोरी इसलिए नहीं होती कि वह रात भर खांसता रहता है। एक क्षण के लिए भी सो नहीं पाता। उसको कुत्ता नहीं काटता क्योंकि वह बिना लाठी के चल ही नहीं सकता। जब हाथ में लाठी रहती है तब कुत्ता कैसे काटे?' रोगी ने कहा—'यह बात है तो मैं दही कभी नहीं खाऊंगा।' उसने दही खाना छोड़ दिया।

कैसा होता है मनुष्य का स्वभाव! जब वैद्यों ने दही खाने की मनाही की तब वह दही खाने की हठ करता रहा। जब वैद्य ने दही खाने को कहा तो उसने दही खाना नहीं चाहा। जब शब्द भाव का स्पर्श कर लेते हैं, तब यथार्थ घटित हो जाता है। यदि शब्द की शक्ति का ठीक उपयोग करें, शब्दों का ठीक चुनाव करें तो भाव-संस्थान में बहुत बड़ा परिवर्तन हो सकता है।

हमने मंगल-भावना के कुछ सूत्र प्रस्तुत किए हैं। सभी साधक मंगल-भावना करें। मंगल भावना के नौ सूत्र हैं—

१. श्रीसंपन्नो ऽहं स्याम—मैं श्रीसंपन्न बनूं।
२. ह्रीसंपन्नो ऽहं स्याम—मैं लज्जासंपन्न बनूं।
३. धीसंपन्नो ऽहं स्याम—मैं बुद्धिसंपन्न बनूं।
४. धृतिसंपन्नो ऽहं स्याम—मैं धैर्यसंपन्न बनूं।
५. शान्तिसंपन्नो ऽहं स्याम—मैं शान्तिसंपन्न बनूं।
६. शक्तिसंपन्नो ऽहं स्याम—मैं शक्तिसंपन्न बनूं।
७. नन्दीसंपन्नो ऽहं स्याम—मैं आनन्दसंपन्न बनूं।
८. तेजःसंपन्नो ऽहं स्याम—मैं तेजसंपन्न बनूं।
९. शुक्लसंपन्नो ऽहं स्याम—मैं पवित्रतासंपन्न बनूं।

ये सूत्र हमारी आन्तरिक भावना को जागृत करने वाले हैं। मैं 'श्री'सम्पन्न बनूं। लेश्या के सिद्धान्त में दरिद्रता को कोई स्थान नहीं है। जिसकी लेश्याएं पवित्र होती हैं, वह महान् ऋद्धि वाला होता है, महान् वैभव वाला होता है। जैसे सामाजिक व्यक्ति अपनी श्रीवृद्धि करना चाहता है वैसे ही शुद्ध-लेश्या वाला अध्यात्म का साधक अपने आभामण्डल

को शक्तिशाली बनाना चाहता है। श्री का अर्थ होता है—लक्ष्मी और श्री का अर्थ होता है आभा। लक्ष्मी का संवर्धन और आभा का संवर्धन।' 'ह्री' का अर्थ है लज्जा और ह्री का अर्थ है अनुशासन। सामाजिक प्राणी के लिए लज्जा भी जरूरी है और अनुशासन भी जरूरी है।

भावों को बदलने के लिए, लेश्याओं को शुद्ध करने के लिए हमारे सामने दो प्रयोग प्रस्तुत हैं। एक है रंगों का ध्यान और दूसरा है मन्त्रों का प्रयोग। मंगल-भावनाओं का प्रयोग और भाव-संस्थान को सक्रिय बनाने वाले, पवित्र बनाने वाले शब्दों का प्रयोग। हम इन दोनों प्रयोगों के द्वारा भाव-संस्थान को गंगाजल जैसा निर्मल बनाएं, गंगोत्री जैसा निर्मल बनाएं और शरीर, मन तथा अध्यात्म की चिकित्सा करें। हम शरीर के दोष और अपाय, मन के दोष और अपाय तथा अध्यात्म के दोष यानी मूर्च्छा के दोष और अपाय—इन सब अपायों को समाप्त करें और उपायों का प्रयोग करें। ऐसी स्थिति में लेश्या का सिद्धान्त केवल तात्त्विक सिद्धान्त नहीं रहेगा, वह हमारे लिए चिकित्सा की पूरी पद्धति बन जाएगा।

८. लेश्या : एक विधि है रसायन-परिवर्तन की

१. • अन्तर्ज्ञान द्वारा चैतन्य-केन्द्रों का शोधन।
२. • आनन्द द्वारा रसायन-परिवर्तन।
३. • कर्म के अनुभाव का मन्दीकरण।
४. • उपवास से रासायनिक परिवर्तन।
 * ध्यान से रासायनिक परिवर्तन।
 * दीर्घश्वास से रासायनिक परिवर्तन।
 * प्रेक्षा से रासायनिक परिवर्तन।
५. • लेश्या—गंध, रस और स्पर्श—अच्छे भी और बुरे भी।

विष के भी रसायन हैं और अमृत के भी रसायन हैं। आयुर्वेद ने रसायनों पर बहुत काम किया है। आयुर्वेद के आचार्यों ने ऐसे रसायनों के प्रयोग किए जिनसे शरीर पूर्ण स्वस्थ हो सके और उसमें जमे हुए विष समाप्त हो सकें। अध्यात्म समूची रसायन की प्रक्रिया है। यह रसायन को बदलने की प्रक्रिया है। केमेस्ट्री का विद्यार्थी जानता है कि पदार्थ के रसायनों का परिवर्तन करने पर नयी अवस्था उत्पन्न हो जाती है। मानवीय रसायन का भी यही सिद्धान्त है। ह्यूमन आलकेमी (Humen Alchemy) पर जिन्होंने काम किया है, जो मानवीय रसायनों की संरचना का बोध रखते हैं, वे भली-भांति जानते हैं कि हमारे शरीर के रसायनों का परिवर्तन करने पर एक नयी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। ध्यान की समूची प्रक्रिया, योग की समूची प्रक्रिया और तप की समूची प्रक्रिया रसायन-परिवर्तन की प्रक्रिया है। उपवास इसलिए किया जाता है कि शरीर का रसायन बदल जाए, रसायनों की संरचना बदल जाए। खाते-खाते

विषैले रसायन पैदा हो जाते हैं, संचित हो जाते हैं और वे रसायन मन में विकृति पैदा करते हैं। मन में जो विकार उत्पन्न होते हैं, वे विकार अनायास ही उत्पन्न नहीं होते, वे हमारे शारीरिक विकारों के कारण उत्पन्न होते हैं। भगवान महावीर से पूछा गया—'भगवन्! ब्रह्मचर्य की साधना के लिए क्या किया जाए?' भगवान ने कहा—'अवि निब्बलासए—निर्बल भोजन करो।' शक्तिशाली भोजन मत करो। गरिष्ठ भोजन मत करो। ऐसा भोजन करो जिससे पेट की व्याधि मिट जाए। ऐसा भोजन मत करो जिससे वासना को उत्पन्न करने वाला रसायन पैदा हो। फिर पूछा—'भगवन्! और क्या किया जाए?' भगवान ने कहा—'कम खाओ, जिससे कि रसायन इतना न बने जो वासना को उभार सके। कामसंज्ञा की उत्पत्ति के अनेक कारण हैं। उनमें एक कारण है—मांस और रक्त का उपचय। जब शरीर में रक्त और मांस अधिक होता है, उनका उपचय होता है तब काम की संज्ञा तीव्र बनती है। ये सब रासायनिक क्रिया के सूत्र हैं। हमारे शरीर में अनेक प्रकार के तत्त्व उत्पन्न होते हैं। कोशिकाएं अपने लिए विटामिन, प्रोटीन उत्पन्न करती हैं। हमारी चमड़ी के भीतर जब थोड़ा-सा ताप उत्पन्न होता है तब विटामिन 'डी' उत्पन्न हो जाती है। और भी नाना प्रकार के रसायन पैदा होते हैं। भोजन से भी अनेक प्रकार के रसायन उत्पन्न होते हैं और वे हमारी वृत्तियों को प्रभावित करते हैं। फिर पूछा गया—'भगवन्! और क्या उपाय करना चाहिए?' भगवान ने कहा—'अगर ऐसी स्थिति आए कि काम शान्त नहीं हो रहा है तो आहार का विच्छेद कर दो। छोड़ दो।' जब आहार समाप्त हो जाता है, लम्बे समय तक उपवास किए जाते हैं, दस-बीस दिन की तपस्या की जाती है तब इन्द्रियां अपने आप शान्त हो जाती हैं, काम-वासना मिट जाती है। जब इन्द्रियों को रसायन का भोजन नहीं मिलता तब वे शान्त हो जाती हैं। आदमी को भोजन नहीं मिलता है तो वह भी शान्त हो जाता है। भूखा आदमी सहज शान्त हो जाता है। इन्द्रियां शान्त, मन शान्त, शरीर शान्त और सब कुछ शान्त। रसायनों का परिवर्तन होता है। पुराने रसायन बदल जाते हैं। ऐसे नये रसायन उत्पन्न होते हैं जो उत्तेजना पैदा नहीं करते। तपोयोग रसायन परिवर्तन का योग है।

उपवास के द्वारा ऐसे रसायन उत्पन्न होते हैं जो शारीरिक बीमारी को शान्त करते हैं। उपवास स्वयं एक चिकित्सा पद्धति है। प्राचीनकाल में उपवास का प्रयोग चिकित्सा के रूप में किया जाता था। वर्तमान में इस चिकित्सात्मक दृष्टिकोण से लोग कम परिचित हैं। पश्चिम के लोगों ने इस पर अनेक अनुसंधान किए, प्रयोग किए और उपवास की चिकित्सा-पद्धति का विधिवत् विधान किया। आज उपवास की चिकित्सा प्रचलित है। उपवास के विधिवत् प्रयोगों से अनेक रोग शान्त किए जाते हैं। कारण एक ही है, उपवास के द्वारा रासायनिक परिवर्तन होता है और रोग शान्त हो जाते हैं। कुछ व्यक्ति पक्षाघात से पीड़ित थे। उन्होंने आठ दिन का चौविहार (निर्जल) उपवास किया और वे ठीक हो गए। आयंबिल के द्वारा अनेक बीमारियां शान्त होती हैं। इसी प्रकार और भी अनेक प्रयोग किए जाते हैं—आयंबिल, एकान्तर, उपवास, आठ दिन का उपवास, पांच दिन का उपवास, कम खाने का प्रयोग, कम वस्तुएं खाना, कम बार खाना—ये सारे प्रयोग शारीरिक रसायनों में परिवर्तन लाते हैं।

हम दिल्ली में थे। सौराष्ट्र का एक व्यक्ति आया। वह कोरे चावल खाता था। सौ ग्राम चावल खाकर वह पांच-सात लोटा पानी पी लेता था। उसने कहा—'मैंने इस प्रयोग के द्वारा कैंसर जैसे असाध्य रोगों को भी मिटाया है।'

इन सारी स्थितियों से यह स्पष्ट है कि उपवास, तपस्या, संयम और आसनों के द्वारा रासायनिक परिवर्तन घटित होता है। प्रायश्चित्त के द्वारा भी रसायनों में परिवर्तन आता है। जब व्यक्ति के मन में प्रायश्चित्त की निर्मल भावना जागती है तब पुरानी ग्रन्थियां खुलती हैं। आज की मानसिक चिकित्सा का सबसे बड़ा सूत्र है—पुरानी ग्रन्थियों को खोलना। जब मन में ग्रन्थिपात हो जाता है तब नाना प्रकार की बीमारियां सताने लग जाती हैं। उन ग्रन्थियों को खोलने की सबसे महत्त्वपूर्ण विधि है—प्रयश्चित्त। प्राचीन भाषा में प्रायश्चित्त और आज की भाषा में मनोविश्लेषण, आत्म-विश्लेषण। जब रोगी आत्म-विश्लेषण करता है तब मनःचिकित्सक उसकी सारी ग्रन्थियों को जान लेता है और उपायों से

उन ग्रन्थियों को खोल देता है।

विनम्रता, अहंकारशून्यता रसायन-परिवर्तन का बहुत महत्त्वपूर्ण सूत्र है। विनय के प्रति हमारी धारणाएं भ्रान्त हैं। हमने मान लिया कि विनय दूसरों के प्रति होता है। यह भ्रान्ति है। इस भ्रान्ति ने अनेक प्रश्नों को जन्म दिया है। लोग मानने लग गए कि जो छोटा हो वह विनय करे। बड़े को विनय करने की जरूरत नहीं है। उसे ठूंठ जैसा बनने की आवश्यकता है। यह कैसी भ्रान्ति है? सचाई यह है कि विनय किसी दूसरे के प्रति नहीं होता। विनय होता है स्वयं के प्रति। विनय है—अहंकारशून्यता। यह अपनी आत्मा की अवस्था है। विनय दूसरों के प्रति होता ही नहीं। जब तक यह मानते रहेंगे कि विनय दूसरों के प्रति होता है तब तक जो बड़ा है वह अकड़ा रहेगा। वह दूसरों से विनय चाहेगा। दूसरों के मन में यह प्रतिक्रिया होगी कि वे विनय क्यों करें। वे स्वयं दूसरों से विनय चाहेंगे। साधु भी सोचेगा कि वह बड़ा है। वह विनय क्यों करे! विनय वह करेगा जो अनुयायी होगा। विनय करना श्रावक का काम है, साधु का काम नहीं है। इस औपचारिक बात ने एक भ्रान्ति पैदा कर दी। साधु का सबसे बड़ा धर्म है—विनय, अहंकार-शून्यता। यह व्यक्ति का अपने लिए अपना धर्म है। किसी दूसरे के लिए नहीं है। हम इस भ्रान्ति को तोड़ें। विनय के सात प्रकार हैं—ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चारित्र-विनय, मन का विनय, वचन का विनय, शरीर का विनय और सातवां है लोकोपचार विनय। हाथ जोड़ना वास्तविक विनय नहीं है, लोकोपचार विनय है। वास्तव में विनय है—मन का विनय। मन को अनुशासित रखना मन का विनय है। मन को अहंकार से शून्य कर देना, मन का विनय है। वाणी में उद्दंडता न होना वाणी का विनय है। शरीर में अकड़न न होना शरीर का विनय है। ज्ञान के प्रति अपनी अगाढ़ आस्था समर्पित करना ज्ञान का विनय है। दृष्टिकोण को सरल, ऋजु और अनेकान्तमय बनाना दर्शन-विनय है। पवित्र आचरण करना चारित्र-विनय है। यह है विनय। ऐसा विनय सबके लिए आवश्यक है। छोटे के लिए आवश्यक है तो बड़े के लिए भी आवश्यक है। श्रावक के लिए आवश्यक है तो साधु के लिए भी आवश्यक है। यह विनय

किसी दूसरे के प्रति नहीं, स्व के प्रति होता है। औपचारिक विनय दूसरे के प्रति किया जाता है। साध्वी मुझे हाथ जोड़ती है, यह उपचार है और मैं साध्वी को हाथ जोड़ता हूं, यह भी उपचार है। यह अधिक महत्त्व की बात नहीं है। यह मात्र उपचार है। यह झूठा उपचार बहुत निभाया जाता है। कभी आंखें नहीं मिलतीं, पर मिलते हैं तब हाथ जरूर जोड़ लेते हैं। यह लोकोपचार है। यह विनय का बड़ा सूत्र नहीं है। हमने इसको बहुत बड़ा सूत्र मान लिया। हम इसी विनय की सीमा में सारी बातें सोचते हैं और नाना प्रकार की समस्याएं पैदा करते हैं।

विनय अहंकारशून्यता की प्रक्रिया है। यह सारे मदों से अपने आपको खाली करने की प्रक्रिया है। जहां इस प्रक्रिया का आसेवन होता है, वहां रासायनिक परिवर्तन अपने आप घटित होता है।

स्वाध्याय रासायनिक परिवर्तन की पुष्ट प्रक्रिया है। ध्यान से भी रासायनिक परिवर्तन होते हैं। रासायनिक परिवर्तन का बहुत बड़ा सूत्र है—ध्यान। जो कषाय के रसायन तीव्र अनुभव लेकर आ रहे हैं, हम ध्यान के द्वारा ऐसे रसायन पैदा करें कि वे तीव्र अनुभव वाले रसायन मंद हो जाएं, उनका सामर्थ्य क्षीण हो जाए। उनकी शक्ति विफल हो जाए, उनका आक्रमण नष्ट हो जाए। वे रसायन नये अनुभव उत्पन्न करें। जब हम चैतन्य-केन्द्रों पर ध्यान करते हैं, चैतन्य-केन्द्रों पर जमी हुई चिकनाहट को साफ करते हैं, उसे स्वच्छ दर्पण जैसा बनाते हैं तो अपने आप भीतर से कुछ नये तथ्य प्रकट होते हैं। जब तक हमारे चैतन्य-केन्द्र स्वच्छ नहीं होते, धूमिल और आवृत्त रहते हैं तब तक भीतर का प्रकाश बाहर नहीं आ सकता। हम लोग ज्ञान को जानते हैं, सुख को जानते हैं किन्तु हम उसी ज्ञान को जानते हैं जो बाहर से मिलता है। हम उसी ज्ञान को जानते हैं जिसे स्मृति-कोष्ठक ग्रहण करते हैं। हम उसी ज्ञान से परिचित हैं, जिसे हमारा नाड़ी संस्थान उद्‌घाटित करता है और प्रेरित करता है। हम उस ज्ञान से बिल्कुल परिचित नहीं हैं जिसका उद्‌गम बाहर से नहीं है। जिसका सम्बन्ध मस्तिष्क से नहीं है; जिसका सम्बन्ध नाड़ी-संस्थान से नहीं है। उस ज्ञान से हम बिल्कुल परिचित नहीं हैं। हम सुख से परिचित हैं, पर केवल उसी सुख से परिचित हैं

जो पदार्थ से मिलता है। हम उस सुख से परिचित नहीं हैं जिस सुख में किसी भी पदार्थ का योग नहीं होता।

हम अन्तर्ज्ञान से परिचित नहीं हैं, हम अन्तर्चेतना से परिचित नहीं हैं। हम आन्तरिक सुखानुभूति और आध्यात्मिक सुखानुभूति से सर्वथा अपरिचित हैं। जब तक चैतन्य-केन्द्रों के ध्यान के द्वारा हमारी लेश्याओं में परिवर्तन होता है, हमारे भाव-संस्थान में परिवर्तन होता है, उसके वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नहीं बदलते, तब तक अन्तर्ज्ञान नहीं हो सकता। आन्तरिक आनन्द उपलब्ध नहीं हो सकता। प्रत्येक लेश्या का अपना रंग होता है। प्रत्येक लेश्या का अपना गंध, रस और स्पर्श होता है। हमें उनका पता नहीं चलता, क्योंकि हम अपने भावों के साथ इतने जुड़े हुए हैं कि हमें वास्तविकता का पता ही नहीं चलता।

गांव में एक संन्यासी आया। वह तेजस्वी और शक्तिशाली था। राजा ने उसकी प्रशंसा सुनी। वह दर्शन करने आया। उसे अपूर्व शान्ति की अनुभूति हुई। उसने कहा—'महाराज! कुछ दिन के लिए आप मेरे महल में चलें।' संन्यासी ने कहा—'महलों में मुझे सोने की गंध आती है। मैं वहां नहीं रह पाऊंगा।' राजा बोला—'कैसी बात करते हैं? सोने की गंध कहां है? लोग सोने का नाम लेते ही उस ओर दौड़ पड़ते हैं। आप उससे दूर जाना चाहते हैं। मैं वहां रहता हूं मुझे आज तक गंध नहीं आई।' संन्यासी ने कहा—'चलो, मेरे साथ।' संन्यासी राजा को लेकर चमारों की बस्ती में गया। राजा को चमड़े की दुर्गन्ध सताने लगी। उसने अपनी नाक कपड़े से ढंग लिया। संन्यासी एक चमार के घर पर जा रुका। राजा ने कहा—'महाराज! कहां ले आए आप? बड़ी दुर्गन्ध आ रही है। मेरा जी घुट रहा है। जल्दी चलें।' संन्यासी बोला—'कैसी दुर्गन्ध! आप भी बड़ी विचित्र बात कर रहे हैं। आप इस घर के मालिक को पूछें।' घर का स्वामी आया। संन्यासी ने पूछा 'अरे, तुम्हें यहां दुर्गन्ध नहीं आती?' घर के स्वामी ने कहा—'नहीं, दुर्गन्ध है कहां? मुझे यहां रहते पचास वर्ष हो गए। कभी दुर्गन्ध की अनुभूति नहीं हुई।' संन्यासी राजा को लेकर महल में आ गया। वह राजा से बोला—'देखा, महाराज! आपको वहां चमड़े की दुर्गन्ध आ रही थी। वहां रहने वालों को उसका

अनुभव ही नहीं हो रहा था। इसी प्रकार यहां आपके महलों में मुझे सोने की गंध आती है, आपको उसका अनुभव ही नहीं होता।' जो जिसमें रचपच जाता है, वह वैसा ही हो जाता है।

बुरे भावों की गंध में, बुरे भावों के कड़वे रस में, बुरे भावों के स्पर्श में आदमी इतना घुल जाता है, एकात्म हो जाता है कि उसे यह अनुभव ही नहीं होता कि भीतर के रसायनों में कितनी दुर्गन्ध है, कितने खराब रस और स्पर्श हैं।

कृष्ण-लेश्या का वर्ण काला होता है। कोरा वर्ण ही काला नहीं होता, उसमें दुर्गन्ध होती है। कृष्ण-लेश्या के परमाणुओं में दुर्गन्ध होती है। दुर्गन्ध भी मरे हुए कुत्ते की सड़ांध से अनन्तगुना अधिक। वह दुर्गन्ध हम अपने भीतर लिये बैठे हैं। हम बाहर की दुर्गन्ध को मिटाने के लिए कभी-कभी इत्र या सुगन्ध का प्रयोग करते हैं। उससे बाहर की दुर्गन्ध इतनी नहीं सताती। परन्तु हम यह अनुभव तो करें कि भीतर के परमाणुओं में कितनी दुर्गन्ध है। कृष्ण-लेश्या का रस कडुवे तुंबे से भी अनन्तगुना कड़वा होता है। उसका स्पर्श करवत से भी अनन्तगुना ज्यादा कर्कश होता है। इस प्रकार के कृष्ण-लेश्या के परमाणुओं को हम भीतर आभामण्डल के साथ जोड़े हुए बैठे हैं। हम खड़े होते हैं तो वह आभामण्डल खड़ा हो जाता है। हम सोते हैं तो वह आभामण्डल सो जाता है। हम चलते हैं तो वह आभामण्डल चलने लग जाता है। वह हमारा साथ कभी नहीं छोड़ता। इसी प्रकार नील-लेश्या का आभामण्डल भी हमारा साथ नहीं छोड़ता।

नील-लेश्या के आभामण्डल में नील-लेश्या के परमाणुओं का रस त्रिकुट और गजपीपल के रस से भी अनन्तगुना तीखा होता है।

कापोत-लेश्या के आभामण्डल में कापोत-लेश्या के परमाणुओं का रस कच्चे आम और कच्चे कपित्थ के रस से भी अनन्तगुना कषैला होता है।

हम अपने भीतर ऐसे-ऐसे रसायनों को संजोए बैठे हैं, फिर भी बाहर से साफ रहने का प्रयत्न कर रहे हैं। भीतर की निर्मलता अधिक मूल्यवान् होती है।

अमरीकन वैज्ञानिक महिला डॉ. जे. सी. ट्रस्ट ने सूक्ष्म संवेदनशील कैमरों से आभामण्डल के फोटो लिये। उसने बताया—मैंने देखा कि जो लोग बाहर से साफ-सुथरे रहते हैं, किन्तु भीतर में मलिनता को संजोए रहते हैं, उनके आभामण्डल अत्यन्त विकृत और गंदे होते हैं। जो लोग शरीर से साफ-सुथरे नहीं हैं, किन्तु भीतर से पवित्र हैं, उनके आभामण्डल बहुत स्वच्छ और निर्मल होते हैं।'

हम अपने कपड़ों पर और शरीर की स्वच्छता पर जितना ध्यान देते हैं, उतना ध्यान अपने भीतर से प्रकट होने वाले आभामण्डल पर नहीं देते; अपने भावों पर नहीं देते। परिणाम यह होता है कि बाहर से तो हम स्वस्थ और सुन्दर दीखने लगते हैं और भीतर गंदगी को पालते जाते हैं। यह गन्दगी हमारे मन को तोड़ती जाती है। मन पल-पल टूटता जाता है। ऐसी स्थिति में अशान्ति का साम्राज्य कैसे न हो? लोग कहते हैं—'दुनिया में इतनी अशान्ति! इतनी बेचैनी! अशान्ति कैसे नहीं होगी? हमारे भीतर के सारे रसायन मन को तोड़ने वाले हैं, फिर अशान्ति न हो, यह कैसे संभव हो सकता है।

लेश्या के द्वारा हम अपने रसायनों का पता लगा सकते हैं। इस दिशा में अनेक वैज्ञानिक प्रयोग हुए हैं। पसीने के द्वारा जाना जा सकता है कि व्यक्ति का आचरण कैसा है? प्रश्न हो सकता है कि पसीने और आचरण में क्या सम्बन्ध? जो व्यक्ति क्रोधी है, ईर्ष्यालु है, झगड़ालू है, दूषित मनोभाव वाला है, उसके पसीने में एक प्रकार की दुर्गन्ध होगी। जो व्यक्ति सरल है, निश्छल है, पवित्र मनोभाव वाला है, उसके पसीने में दूसरे प्रकार की गंध होगी। जैन परम्परा में यह मान्य है कि तीर्थंकर के शरीर से कमल के फूल जैसी गंध आती है। यह गंध शुभ भावों की प्रतीक है। जिस व्यक्ति के भाव निश्छल, पवित्र और सरल होते हैं उस व्यक्ति के शरीर से भी निर्मलता टपकेगी, सुगंध आएगी।

तेजो-लेश्या, पद्म-लेश्या और शुक्ल-लेश्या के वर्ण, गंध, रस और स्पर्श प्रशस्त होते हैं। तेजो-लेश्या का वर्ण नवोदित सूर्य जैसा लाल होता है। पद्म-लेश्या का वर्ण असन के पुष्प जैसा पीला होता है। शुक्ल-लेश्या का वर्ण शंख जैसा श्वेत होता है। इन तीनों लेश्याओं की गंध सुगन्धित

पुष्पों की गंध से अनन्तगुना गंध, खजूर दाख से अनन्तगुना मीठा रस और नवनीत तथा सिरीष पुष्पों से अनन्तगुना मृदु स्पर्श होता है।

रसों के परिवर्तन की दिशा में वैज्ञानिक जगत् में अनेक अनुसंधान चल रहे हैं। वैज्ञानिक एक ऐसे रासायनिक पदार्थ के अन्वेषण में लगे हैं जिसके प्रयोग से व्यक्ति में क्रोध का रसायन समाप्त हो और क्षमा स्वयं घटित होने लगे। फिर क्षमा घटित करने वाले इंजेक्शन, टिकिया प्रयोग में आने लगेगी। आज काम-वासना की बहुत बड़ी समस्या है। किन्तु वैज्ञानिक चिन्तित नहीं हैं। वे इस दिशा में प्रयोग कर रहे हैं। वे ऐसे रसायनों के निर्माण में लगे हुए हैं कि उन रसायनों के सेवन से काम की ग्रन्थियां ही समाप्त हो जाती हैं। सेक्स-ग्रन्थियां प्रभावहीन हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में न आहार को कम करने की आवश्यकता है और न ऊनोदरी करने की जरूरत है। न ध्यान-आसन करने की जरूरत है और न चैतन्य-केन्द्रों को जागृत और सक्रिय करने की आवश्यकता है। उन रासायनिक गोलियों से काम-वासना समाप्त हो जाएगी। इसी प्रकार क्रोध, मान, अहंकार, लोभ और सारी उत्तेजनाओं को कम किया जा सकता है। ऐसा लगता है कि जैसे-जैसे ये आविष्कार आगे बढ़ रहे हैं, वैसे-वैसे अध्यात्म और ध्यान की आवश्यकता अपने आप कम होती जाएगी। सारा काम वैज्ञानिक के हाथ में आ जाएगा। फिर लोग अध्यात्म-शिविरों में नहीं जाएंगे; वैज्ञानिक की प्रयोगशाला में जाएंगे। बात ठीक है। दिशा गलत नहीं है। इस सचाई को हम अस्वीकार नहीं करेंगे कि यह सारा रसायन-परिवर्तन का प्रयोग है। अध्यात्म साधक उपवास और ध्यान के द्वारा, स्वाध्याय के द्वारा रसायनों का परिवर्तन करता है और वैज्ञानिक या डॉक्टर कृत्रिम रसायनों के द्वारा रसायनों में परिवर्तन करता है। घटना एक ही घटित होगी—रसायनों का परिवर्तन। लेश्या का प्रयोग रसायन के परिवर्तन का प्रयोग है। जब हम लेश्या के परिवर्तन के प्रयोग को समझ लेते हैं तब अपने भीतर के रसायनों को बदलना प्रारंभ कर देते हैं। लेश्या के रसायनों को बदलने का एक माध्यम है—तप। तप में उपवास भी आता है, स्वाध्याय भी आता है और ध्यान भी आता है। दूसरा माध्यम है—पदार्थ। आप यह मत मानें कि इस दिशा में आज

के वैज्ञानिकों ने ही अनुसंधान किया है, खोज की है। यदि हम मानेंगे तो भूल होगी, भ्रान्ति होगी। प्राचीनकाल में साधकों ने इस दिशा में अनेक महत्त्वपूर्ण खोजें की हैं। तंत्र-साधकों ने तथा अध्यात्म के साधकों ने रसायनों को बदलने की बड़ी-बड़ी खोजें की हैं। उन्होंने ऐसी औषधियां खोज निकालीं जिनके सेवन से रसायनों का परिवर्तन घटित हो जाता था। डर लगता है। औषधि का सेवन किया और भय समाप्त। एक आदमी सोते-सोते बड़बड़ाता है। उसे भयंकर स्वप्न आते हैं। सिरहाने एक जड़ी रख ली और स्वप्न समाप्त, बड़बड़ाना समाप्त। एक आदमी काम-वासना से उत्तेजित होता है। एक औषधि का प्रयोग किया और वासना की उत्तेजना समाप्त हो गई। बहुत वर्षों पूर्व मेरे मन में एक प्रश्न उठा—क्या ब्रह्मचर्य की साधना में वनस्पति का सहयोग हो सकता है? अनेक अनुभवी वैद्यों से पूछ-ताछ की। प्राचीन ग्रन्थ देखे। उनका पारायण किया। अनेक रहस्य उद्घाटित हुए। यह निश्चय हो गया कि वनस्पति के विभिन्न प्रयोगों से लाभ उठाया जा सकता है। ये खोजें बहुत प्राचीनकाल में हुई थीं। हजारों साधक उनसे लाभान्वित हुए थे। वनस्पति का एक कल्प है जितेन्द्रिय के लिए। अमुक वनस्पति का सेवन करने पर, बिना कुछ साधना किए ही, मनुष्य जितेन्द्रिय बन जाता है। मनोभावों को बदलने के लिए वनस्पति का बहुत बड़ा उपयोग है। 'अचिन्त्यो मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः'। मणि, मन्त्र और औषधियों का प्रभाव अचिन्त्य होता है। उनके प्रभाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। प्रभाव की कोई सीमा नहीं है। जितना मन्त्रों का प्रभाव है, उतना ही वनस्पति का प्रभाव है। जितना रत्नों का प्रभाव है उतना ही वनस्पति का प्रभाव है। वनस्पति के द्वारा शारीरिक और मानसिक रसायनों का परिवर्तन किया जा सकता है। वैज्ञानिक आज जो परिवर्तन की खोजें कर रहे हैं, वह कोई नयी बात नहीं है। इतना हो जाने पर भी, वनस्पतियों के द्वारा रसायन परिवर्तन की प्रक्रिया या कृत्रिम रसायनों द्वारा रसायन-परिवर्तन की प्रक्रिया हस्तगत हो जाने पर भी हम अपनी स्वतन्त्रता खोना नहीं चाहेंगे। स्वतन्त्रता को खो देना खतरनाक होता है।

हम ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन चाहते हैं। हम अपनी ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी

बनाना चाहते हैं। केवल रसायन-परिवर्तन की बात ही पूरी नहीं है। ऊर्जा का ऊर्ध्वागमन अन्तर्ज्ञान को खोलने का द्वार है। यह बिना पराक्रम के उद्घाटित नहीं होता। इन्जेक्शनों के द्वारा यह तो हो सकता है कि एक इन्जेक्शन लिया या एक गुटिका ली और क्रोध समाप्त हो गया या काम-वासना समाप्त हो गई या अन्य उत्तेजनाएं नष्ट हो गईं। यह संभव है। वैज्ञानिक इस दिशा में सफल भी हुए हैं। किन्तु हम जिस अन्तर्ज्ञान या आन्तरिक आनन्द को उपलब्ध करना चाहते हैं, जीवन में नयी दिशा का उद्घाटन करना चाहते हैं, वह इन कृत्रिम उपायों, इन्जेक्शनों या गुटिकाओं से नहीं होगा। यह नेगेटिव एप्रोच है। यह निषेधात्मक तरीका है। क्रोध नहीं आएगा। काम-वासना नहीं जागेगी। किन्तु जिस स्थिति में जाकर हमें एक विस्फोट करना है, वह नहीं होगा। आन्तरिक ज्ञान और आनन्द का जो द्वार बन्द पड़ा है, वह नहीं खुलेगा। उसे खोलने के लिए पोजिटिव एप्रोच होना चाहिए। हमारा कोई विधायक उपाय होना चाहिए। वह विधायक उपाय है अपने मन को शक्तिशाली बनाने का, भावों के संशोधन का, तपस्या का, ध्यान का और चैतन्य-केन्द्रों को निर्मल बनाने का। चैतन्य-केन्द्रों को निर्मल बनाने से दो काम होते हैं। एक ओर रसायनों का परिवर्तन होता है और उससे क्रोध समाप्त हो जाता है, व्यसन और बुरी आदतें समाप्त हो जाती हैं, दूसरी ओर हमारी स्वच्छता की रश्मियां, निर्मलता की किरणें आगे बढ़ती हैं और उन दरवाजों को उद्घाटित करती हैं। जिनसे अन्तर्ज्ञान प्रकट होता है। आन्तरिक आनन्द अभिव्यक्त होता है। भगवान महावीर की वाणी में बार-बार यह उद्घोषणा मिलती है—

लेश्या की शुद्धि हुए बिना जातिस्मृति ज्ञान नहीं हो सकता। लेश्या की शुद्धि हुए बिना अवधि ज्ञान नहीं हो सकता। लेश्या की शुद्धि के बिना मनःपर्यवज्ञान नहीं हो सकता और लेश्या की शुद्धि के बिना केवल ज्ञान नहीं हो सकता। जो भी अन्तर्ज्ञान उत्पन्न होता है, वह लेश्या की विशुद्धि में ही होता है। लेश्या की शुद्धि के बिना आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता। ध्यान आदि के द्वारा जो हम पराक्रम करते हैं वह इसीलिए करते हैं कि भावों का संशोधन हो, लेश्या की शुद्धि हो। जब

लेश्या का रूपान्तरण होता है, तपस्या के द्वारा, ध्यान के द्वारा, चैतन्य-केन्द्रों को जागृत करने के द्वारा या चैतन्य-केन्द्रों को निर्मल बनाने के द्वारा, तब आन्तरिक शक्तियां जागती हैं और वे रसायनों को बदलती हैं और उन आवरणों को दूर करती हैं जो ज्ञान को आवृत किए हुए हैं। उसकी घनीभूत मूर्च्छा को तोड़ती हैं जो आनन्द को विकृत बनाए हुए हैं।

हम मंगल-भावना करें, ध्यान का ऐसा उपक्रम करें, जिससे जीवन में सरलता जागे, संतोष जागे और शान्ति जागे। रासायनिक परिवर्तनों के द्वारा बाहर के जीवन में ये सब जागें और भीतर में वे बन्द दरवाजे खुलें, सारे आवरण हटें और अन्तर् का ज्ञान बाहर आए। अन्तर् में जो आनन्द का समुद्र हिलोरें ले रहा है उसका जल बाहर आए।

चैतन्य-केन्द्रों के जागरण के द्वारा जब ये दोनों काम संभव होंगे उस दिन यह प्रमाणित होगा कि केवल बाहरी रसायनों के परिवर्तन से हम जो चाहते हैं वह उपलब्ध नहीं होगा। बाहरी रसायनों के परिवर्तन के साथ-साथ मूर्च्छा टूटेगी, आवरण हटेंगे तब वह सब घटित होगा जो हम यथार्थ में चाहते हैं।

६. लेश्या : एक प्रेरणा है जागरण की

१. ● कैवल्य—भीतर में जागना।
२. ● मूर्च्छा कर्म-तन्त्र को प्रभावित करती है, भाव-तन्त्र को नहीं।
३. ● चेतना का जागरण कर्म-तन्त्र और भाव-तन्त्र—दोनों को प्रभावित करता है।
४. ● जागृत चेतना से आभामंडल विशुद्ध बनता है।
५. ● जागृत चेतना द्वारा सम्यग् दृष्टि का विकास होता है। उस अवस्था में—
   * पदार्थ का उपयोग होता है किन्तु पदार्थ की प्रतिबद्धता नहीं होती।
   * पदार्थ केवल उपयोगिता का हेतु बनता है, सुख-दुःख का हेतु नहीं बनता।
   * सहिष्णुता का विकास होता है, घटना के प्रवाह में बह नहीं जाता।
   * अप्रभावित अवस्था का अनुभव होता है।
   * अविचलित चेतना का अनुभव होता है।
६. ● जागृत चेतना की अवस्था में व्यवहार और परमार्थ—दोनों सफल होते हैं।
७. ● मूर्च्छित चेतना वाला व्यक्ति जीवन के प्रति आसक्त होता है, इसलिए वह अच्छी मृत्यु से नहीं मर सकता। वह मृत्यु से भयभीत रहता है, इसलिए वह अच्छा जीवन नहीं जी सकता।
८. ● जागृत चेतना वाला जीवन और मृत्यु के प्रति तटस्थ होता है, इसलिए वह समाधि का जीवन जीता है और समाधि-मरण को उपलब्ध होता है।

ध्यान की प्रक्रिया मूर्च्छा को तोड़ने की प्रक्रिया है। जो उपाय चेतना को मूर्च्छित करते हैं वे ध्यान के सही उपाय नहीं हैं। ध्यान के सही उपाय वे ही हैं जो मूर्च्छा को तोड़ते हैं। जितने पदार्थ हैं, उतने उपक्रम हैं। व्यक्ति की चेतना को मूर्च्छित करने वाले वे सब हमारे कर्म-तन्त्र को प्रभावित करते हैं। वे कर्म-तन्त्र को निष्क्रिय बना देते हैं, किन्तु वे मूर्च्छा को नहीं तोड़ सकते। केवल कर्म-तन्त्र को प्रभावित या मूर्च्छित करने से मूर्च्छा का नाश नहीं होता, मूर्च्छा का विलय नहीं होता, मूर्च्छा नहीं टूटती। जब साधक कर्म-तन्त्र को पारकर भाव-तन्त्र का स्पर्श करता है तब मूर्च्छा टूटती है। भाव-तन्त्र का स्पर्श केवल चेतना के द्वारा ही किया जा सकता है। वहां तक कोई पदार्थ नहीं पहुंच सकता, कोई उपकरण नहीं पहुंच सकता। केवल चेतना के द्वारा हम उसका स्पर्श कर पाते हैं। हमारा प्रवृत्ति-तन्त्र निष्क्रिय हो जाने पर भी कषाय-तन्त्र निष्क्रिय नहीं होता, सतत सक्रिय रहता है। स्थावर जीवों में मन विकसित नहीं होता, वाणी विकसित नहीं होती और शरीर-तन्त्र भी सुदृढ़ नहीं होता, किन्तु उनमें भी कषाय-तन्त्र, लेश्या-तन्त्र और भाव-तन्त्र निरन्तर सक्रिय रहता है और उनके प्रतिक्षण कर्म-बंध होता रहता है। उनकी मूर्च्छा घनीभूत होती है। उनकी मूर्च्छा स्त्यानर्धि मूर्च्छा होती है। यह मूर्च्छा की चरम कोटि है। कर्म-तन्त्र इतना सक्रिय नहीं होता, फिर भी मूर्च्छा बहुत घनी होती है। हम केवल कर्म-तन्त्र पर ही न रुकें, आगे बढ़ें, जड़ को देखें और कषाय-तन्त्र तक पहुंचे। कषाय-तन्त्र की चिकित्सा लेश्या-तन्त्र को समझकर ही की जा सकती है।

महावीर ने दो शब्द दिए—द्रव्य और भाव। द्रव्य-अहिंसा और भाव-अहिंसा। शरीर से कोई हिंसा होती है, वाणी से कोई हिंसा होती है और मन से कोई हिंसा होती है। हिंसा इतनी ही नहीं है। उसकी सीमा और आगे है। शरीर से कोई अहिंसा होती है, वाणी से कोई अहिंसा होती है और मन से कोई अहिंसा होती है। अहिंसा इतनी ही नहीं है। उसकी सीमा और आगे है।

काल शौकरिक महावीर के समय का प्रसिद्ध कसाई था। वह प्रतिदिन पांच सौ भैंसे मारता था। उसको अहिंसक बनाने के लिए महाराज श्रेणिक

ने उसे एक खाली कुएं में डाल दिया। वहां उसे भैंसे प्राप्त नहीं थे। भैंसे नहीं मारे जा सके। इससे काल शौकरिक अहिंसक नहीं बना, क्योंकि उसके भाव नहीं बदले। केवल हाथों के रुक जाने से, केवल हाथों से हिंसा न होने पर वह अहिंसक नहीं बना। यदि किसी हिंसक व्यक्ति को मूर्च्छित कर दिया जाये, उस स्थिति में न वह मन से हिंसा कर पाता है और न शरीर से हिंसा कर पाता है। क्या वह अहिंसक हो गया? नहीं, वह अहिंसक नहीं होता। क्योंकि वह मूर्च्छित है, नींद में है; सोया हुआ है, उसकी बाहरी चेतना लुप्त है। वह हिंसक है क्योंकि उसका भाव-तन्त्र निरन्तर सक्रिय रहता है। उसके निरन्तर हिंसा का बंध हो रहा है। जब तक भाव का परिवर्तन नहीं होता, लेश्या का परिवर्तन नहीं होता तब तक केवल शरीर को निष्क्रिय बना देने, मन को मूर्च्छित कर देने मात्र से काम नहीं चलता। मन की मूर्च्छा और शरीर की निष्क्रियता हमारे कर्म-तन्त्र की मूर्च्छा हो सकती है, किन्तु भाव-तन्त्र पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। हमें भाव-तन्त्र का शोधन करना है, जब भाव-तन्त्र का शोधन हो जाता है, तब शरीर हिले-डुले, मन चले, फिर भी न हिंसा का भाव होगा, न हिंसा का व्यापार होगा, न कोई बुरी प्रवृत्ति होगी। मूल करणीय है भाव का शोधन। मूर्च्छा में विश्वास बढ़ाने वाले जितने साधना के उपक्रम हैं, मूर्च्छा को प्रोत्साहित करने वाली साधना की जितनी पद्धतियां हैं, वे सब हमारे कर्म-तन्त्र तक पहुंचती हैं, भाव-तन्त्र तक उनकी पहुंच नहीं होती। उन लोगों का ऐसा विश्वास है कि कर्म-तन्त्र निष्क्रिय हो जाने पर सब कुछ घटित हो जाता है, किन्तु जिन लोगों ने गहरे में जाकर देखा तो उन्हें अनुभव हुआ कि जब तक भाव-तन्त्र निष्क्रिय नहीं होता तब तक मूर्च्छा नहीं टूटती। जब मूर्च्छा नहीं टूटेगी तो वह नये मार्ग से प्रवाहित होने लगेगी। मूर्च्छा की समाप्ति हुए बिना आध्यात्मिक विकास नहीं हो सकता। महावीर को कैवल्य लाभ हुआ। इंद्रभूति गौतम ने पूछा—'भंते! तत्त्व क्या है?' गौतम! उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और स्थिर रहता है, यही तत्त्व है। ज्ञान ध्रुव है, ज्ञान की मलिनता नष्ट होती है, और केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है।' गौतम ने पूछा—'भंते! केवलज्ञान कैसे प्राप्त हुआ?' गौतम! मैं पूरा जाग गया।

जैसे ही जागा, सारी मूर्च्छा टूट गई। जागते ही सारे आवरण हट गए। जब तक मूर्च्छा में था, जब तक आवरण में था, जब तक नींद में था तब तक पर्दा बना रहा। जैसे ही जागा आवरण हट गया। जैसे ही आवरण हटा, विघ्न की चट्टान, अन्तराय की चट्टान चूर-चूर हो गई। तत्काल केवलज्ञान उदित हो गया। सबसे पहले मूर्च्छा को टूटना होता है। मूर्च्छा टूटे बिना ज्ञान का आवरण नहीं हटता, शक्ति का अवरोध नहीं मिटता। ज्ञान का विकास तभी सम्भव है जब मूर्च्छा टूटे, मोह का सम्पूर्ण विलय हो। मूर्च्छा को तोड़े बिना दोनों बातें घटित नहीं होतीं। पहले ज्ञान प्राप्ति का प्रयत्न न करें, पहले अन्तराय को हटाने का प्रयत्न करें। सबसे पहले मूर्च्छा को तोड़ने का प्रयत्न करें; जागें। जगने का एकमात्र उपाय है, चेतना को जगाना। जब तक ध्यान के द्वारा चेतना का सारा जागरण नहीं होगा तब तक भाव-तन्त्र की मूर्च्छा को तोड़ना संभव नहीं होगा। हमारा प्रयत्न यह हो कि भाव-तन्त्र की मूर्च्छा टूटे।

लेश्या का सिद्धान्त जागरण की प्रेरणा है। हम जागें, जागें। मन दौड़ रहा है, मन के प्रति जागें, मन की चंचलता के प्रति जागें। हाथ हिल रहा है, हाथ के प्रति जागें। यह मूल्यवान् है पर इतना मूल्यवान् नहीं है। बहुत मूल्यवान् है भाव के प्रति जागना। जिस भाव के कारण यह मन विक्षेप उत्पन्न कर रहा है, उड़ रहा है, मन का घोड़ा दौड़ रहा है। मन के प्रति जागने से मन स्थिर नहीं होगा। हाथ के प्रति जागने से हाथ स्थिर नहीं होगा। हाथ में जो शक्ति प्रकम्पन पैदा कर रही है, मन को जो शक्ति चला रही है, वह है सारी भाव की शक्ति। इस भौतिक शरीर से आगे एक तन्त्र है जो अपनी शक्ति का विकिरण करता है, जो आन्तरिक शक्ति का उत्पादक है, वह है लेश्या-तन्त्र, भाव-तन्त्र। जब हम भाव के प्रति जागते हैं तब परिवर्तन होता है। भाव-तन्त्र को जाग्रत रखने का एकमात्र उपाय है सतत जागरूकता, अप्रमाद। हम अपने अस्तित्व के प्रति, चैतन्य के प्रति जागरूक बनें, मूर्च्छित बनें। हमारे में शून्यता न आये। मूर्च्छा आती है, हमें कोई पता नहीं चलता। नींद आती है, हमें चेतना को जगाने के लिए मादक पदार्थों के सेवन की कोई आवश्यकता नहीं है। ध्यान के लिए मादक वस्तुओं

के सेवन की जरूरत नहीं है। ध्यान के लिए मूर्च्छा बढ़ाने वाले उपायों और उपक्रमों की जरूरत नहीं है। जरूरत है सतत जागरण की। हम अपने चैतन्य के प्रति जागरूक रहें। मन को शून्य बनायें। मन की शून्यता का अर्थ इतना ही होगा कि मन में कोई विकल्प न हो। चैतन्य की अनुभूति सतत होती रहे। यही है विचारशून्यता, विकल्पशून्यता। इस भूमिका पर पहुंचने पर चैतन्य जागरण होगा, तब साथ-साथ एक प्रश्न उठेगा कि जब हम इस कर्म-तन्त्र से परे चले जाते हैं, जब हम इस बाह्य व्यक्तित्व से परे चले जाते हैं, तब हमारे जीवन की यात्रा कैसे चलेगी? जीवन-व्यवहार कैसे चलेगा? हम जीवन-व्यवहार में सफल कैसे होंगे? जब भूख का प्रश्न, पारस्परिक सहयोग का प्रश्न, रोटी का प्रश्न, कपड़ों का प्रश्न—ये प्रश्न जब नग्न सत्य बनकर हमारे सामने आते हैं और हम भाव-तन्त्र का शोधन करने के लिए बैठ जाते हैं तब क्या जीवन में कठिनाइयां पैदा नहीं होंगी? क्या यह ध्यान हमें अव्यावहारिक नहीं बना देगा? क्या जीवन की समस्याएं उग्र बनकर हमारे सामने नहीं नाचने लगेंगी? ये प्रश्न स्वाभाविक हैं और ये प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में टकराते हैं। जब हम विचार की भूमिका में जीते हैं और विचार से परे की बात सोचते हैं, तब विचार अवश्य टकराते हैं। विचार का काम है टकराना। जब हम निर्विचार में चले जाते हैं तब ये सारे प्रश्न नहीं टकराते। जो भाव-तन्त्र में चला जाता है, उसके मस्तिष्क में ये प्रश्न नहीं टकराते किन्तु जब आदमी भाव-तन्त्र की ओर चलने की बात सोचता है, तब ही ये प्रश्न टकराने लगते हैं। क्योंकि यह सोचना भी विचार का काम है और टकराना भी विचार का काम है। विचार विचार से अवश्य टकराएगा। विचार विचार में अवश्य ही संघर्ष होगा। इस प्रश्न का समाधान मैं अपनी भाषा में दूं तो आपको कैसा ही लगेगा। क्योंकि मेरी अभिव्यक्ति की भूमिका और आपके समझने की भूमिका में अन्तर है। जो बात ध्यान की भूमिका पर समझी जानी चाहिए, वह बात तर्क की भूमिका पर, विचार की भूमिका पर समझी जाए तो कठिनाई हो सकती है। मुझे यही कठिनाई का अनुभव हो रहा है। मैं यदि समझाऊं तो भी बात समझ में नहीं आएगी।

एक कुशल वक्ता बोलने के लिए मंच पर आकर खड़ा हुआ। वह बोला—'मैं जो कहना चाहता हूं, यदि आप उसे जानते हैं तो मुझे कुछ कहने की जरूरत ही नहीं है। यदि आप उसे नहीं जानते हैं तो मुझे कहने की जरूरत ही क्या है?' इतना कहकर वह बैठ गया।

लगता है, मैं भी रुक जाऊं। बैठ जाऊं, यदि आप उस बात को समझते हैं तो फिर मुझे समझाने की जरूरत ही नहीं है और नहीं समझते हैं तो मुझे समझाने की आवश्यकता ही क्या है? किन्तु व्यवहार का प्रश्न सामने आता है। व्यवहार यही कहेगा कि समझ में नहीं आता है तो भी समझाया जाए। व्यवहार व्यवहार की भूमिका पर चलता है। वह निश्चय की भूमिका का स्पर्श नहीं करता। निश्चय की भूमिका अलग है और व्यवहार की भूमिका अलग है। हम सब व्यवहार से जुड़े हुए जी रहे हैं। जब तक शरीर है तब तक व्यवहार को तोड़ा नहीं जा सकता। इस शरीर के रहते कोई भी व्यक्ति सर्वथा व्यवहारातीत नहीं हो सकता। जो शरीर के रहते व्यवहारातीत बनने की बात सोचता है, वह भ्रम में है। वह स्वयं को भी धोखा देता है और दूसरे को भी धोखे में डालता है। शरीर के रहते व्यवहार को नहीं छोड़ा जा सकता। शरीर छूटेगा, व्यवहार अपने आप छूट जाएगा। जब तक शरीर है शरीर को चलाना है। जीवन की यात्रा को चलाना है तो साथ-साथ व्यवहार को भी चलाना होगा। मैं मानता हूं कि भावशुद्धि की साधना करने वाले व्यक्ति का व्यवहार टूटता नहीं, किन्तु वह वास्तविक बन जाता है। व्यवहार विघटित नहीं होता। व्यवहार सफल होता है। इसको समझने के लिए गहराई में जाना होगा। एक है घटना और एक है कल्पना। मनुष्य जीवन में कभी सुख का अनुभव करता है और कभी दुःख का अनुभव करता है। कभी प्रियता का अनुभव करता है और कभी अप्रियता का अनुभव करता है। वह कभी अनुकूलता का अनुभव करता है और कभी प्रतिकूलता का अनुभव करता है। हमारे सामने घटना इतनी बड़ी नहीं होती, जितनी बड़ी होती है संवेदना और कल्पना। कुछ आदमी बहुत संवेदनशील होते हैं, कल्पनाशील होते हैं। वे छोटी-सी घटना को भी बड़ी बना देते हैं; राई का पर्वत कर देते हैं। जिस व्यक्ति ने संवेदन पर नियन्त्रण पा

लिया, जिस व्यक्ति ने अपनी कल्पनाओं पर नियन्त्रण पा लिया उसके मन में ऐसी शक्ति का जागरण होता है कि वह पर्वत को भी राई बना डालता है। पर्वत जितनी बड़ी घटना को राई जैसी छोटी बना सकता है। घटना कभी बड़ी नहीं होती। बड़ी होती है हमारी संवेदना और बड़ी होती है हमारी अनुभूति की प्रक्रिया। इसे मैं एक घटना से स्पष्ट करूं।

घटना है इंग्लैण्ड की। एक बार वहां सेना के लिए अनिवार्य भर्ती की बात सोची जा रही थी। घोषणा होने ही वाली थी कि सभी नागरिकों को अनिवार्यतः सेना में भर्ती होना होगा। एक व्यक्ति चिन्तित हो उठा। वह एक बड़े व्यक्ति के पास जाकर बोला—'क्या आपको भय नहीं लगता? अनिवार्य भर्ती की घोषणा होने वाली है। मैं तो बहुत घबरा गया हूं। मेरा दिमाग काम नहीं कर रहा है। क्या आपको भय नहीं लगता?' उसने कहा—'भय किस बात का? अभी तो घोषणा ही नहीं हुई है। घोषणा हो भी गई तो कौन जानता है कि वे मुझे सेना में भर्ती कर लेंगे? यदि वे मुझे भर्ती कर भी लेंगे तो क्या पता कि वे मुझे मोर्चे पर भेज ही देंगे। मान लो कि वे मुझे मोर्चे पर भेज ही देंगे तो भी क्या पता कि मुझे गोली लगेगी ही और मैं वहीं पर मर जाऊंगा। यदि गोली लगेगी और मैं मर जाऊंगा तो फिर डरने की जरूरत ही क्या है। मरने के बाद डरेगा कौन? अतः अभी से मैं कल्पना के भय से भयभीत होना नहीं चाहता।'

सचमुच घटना का दुःख नहीं होता। घटना घटित हो जाती है। घटना हमें नहीं सताती। सताती है घटना के दुःख की कल्पना। हम काल्पनिक घटनाओं के द्वारा अपने लिए दुःखों के जाल बिछा लेते हैं और उनमें निरन्तर फंसे रहते हैं। घटना नहीं सताती, सताता है घटना का संवेदन। सताता है कल्पना का दुःख।

ध्यान करने वाला व्यक्ति घटना से अपने संवेदन को तोड़ देता है। वह घटना से जुड़ा नहीं रहता। आप यह न मानें कि ध्यान करने वाले में इतनी शक्ति आ जाती है कि वह घटनाओं को रोक देता है। आज तक न ऐसा हुआ है और न कभी होगा। घटना को रोका नहीं जा सकता। घटना से उत्पन्न होने वाले संवेदन को रोका जा सकता

है। ऐसा कभी नहीं होता कि ध्यान करने वाले में इतनी शक्ति आ जाए कि वह इस जगत् में नाना वर्षों से घटित होने वाली घटनाओं को समाप्त कर दे और वह ऐसा ईश्वर बन जाए जिसके इशारों पर घटनाएं घटें और न घटें। ऐसा कभी संभव नहीं है।

ध्यान का यह परिणाम होता है कि जो घटनाएं घटित होती हैं उनके साथ ध्यान-साधक की कल्पना नहीं जुड़ती। संवेदन नहीं जुड़ता। घटना अपने स्थान पर घटित होती है और ध्यान-साधक अपने स्थान पर स्थित होता है। न घटना उसको छू पाती है और न उसका मन घटना का स्पर्श कर पाता है। ध्यान का काम है--विघटन करना, तोड़ना। घटना से मन को तोड़ देना, जो जुड़ा रहता है उसे अलग कर देना। फिर घटना अपने स्थान पर बैठी रहे और मन अपने स्थान पर बैठा रहे। व्यवहार कैसे टूटेगा? व्यवहार टूटता है कल्पनाओं के कारण, संदेहों और संवेदनाओं के कारण।

एक परिवार है। उसमें पांच-दस व्यक्ति हैं। सबकी रुचि एक नहीं होती। सबका चिन्तन एक नहीं होता। नाना रुचियां, नाना विचार और नाना चिन्तन। रुचि की भिन्नता के आधार पर एक छोटी-सी घटना घटती है। तनाव पैदा हो जाता है। छोटी बात भी बड़ी बन जाती है, राई का पहाड़ बन जाता है। घटना बड़ी नहीं होती। मैं तो यह मानता हूं कि बड़ी घटना ने आज तक दुनिया को नहीं लड़ाया। जो महायुद्ध हुए हैं, वे भी छोटी-छोटी बातों के लिए हुए हैं। महायुद्ध के लिए बड़ी बातें नहीं होतीं।

चक्रवर्ती भरत ने कहा—'बाहुबली को मेरी आज्ञा माननी होगी।' बाहुबली ने कहा—'बाहुबली किसी की आज्ञा स्वीकार नहीं करता।' दोनों में तनाव पैदा हो गया। बाहुबली आज्ञा न माने तो भरत को क्या कठिनाई हो सकती है? कौन-सा बड़ा अनर्थ हो जाता है? बाहुबली अपने राज्य में बैठा था और भरत अपने राज्य में। किन्तु यह सारा साम्राज्य अहं के आधार पर निर्मित होता है। साम्राज्य यथार्थ के आधार पर निर्मित नहीं होता। अहं ही साम्राज्य का निर्माण करता है। एक व्यक्ति का अहं इतना विस्तृत हो जाता है कि वह साम्राज्य बनाने का प्रयत्न करता

है। भरत का अहं इतना प्रबल हो गया कि वह भीतर जाने को तैयार नहीं था। कहा जाता है कि भरत का चक्ररत्न भीतर जाने को तैयार नहीं था। इसे हम रूपक मानें तो यह कहा जा सकता है कि भरत के अहंकार का चक्र अपनी आयुधशाला में जाने को तैयार नहीं था। वह बाहर ही घूमने को विवश था। परिणाम यह हुआ कि बारह वर्षों तक लड़ाइयां चलीं। यह इस युग का पहला महायुद्ध था। युद्ध का सूत्रपात हो गया। छोटी बात ने भयंकर रूप धारण कर लिया।

यह सच है कि ध्यान करने वाले व्यक्तियों ने व्यवहार का कभी विघटन नहीं किया। व्यवहार का विघटन उन लोगों ने किया जिन्होंने ध्यान का कभी अभ्यास ही नहीं किया। लोगों में यह भय है कि ध्यान का अभ्यास करेंगे तो व्यवहार को तोड़ना पड़ेगा या व्यवहार टूटेगा। यदि ध्यान करने वाले व्यवहार को तोड़ेंगे तो वे उसी व्यवहार को तोड़ेंगे जिसकी कोई आवश्यकता नहीं है। सचाई यह है कि व्यवहार में उलझनें, समस्याएं और कठिनाइयां उन्हीं लोगों ने पैदा की हैं जिन्होंने अहं की साधना की है, ध्यान की साधना नहीं की हैं। मुझे आज तक भी नहीं लगा कि ध्यान करने वाले व्यक्तियों के द्वारा कहीं भी व्यवहार का लोप हुआ हो, खंडन हुआ हो या विघटन हुआ हो। आप इस भ्रान्ति को निकाल दें; यह भय निकाल दें कि यदि ध्यान में जाएंगे तो सामाजिक व्यवहार का क्या होगा? पारिवारिक व्यवहार का क्या होगा? जीवन के व्यवहार का क्या होगा?

चेतना के जागरण का पहला लाभ है कि व्यवहार सुन्दर और स्वस्थ बनता है। चेतना के जागरण का दूसरा लाभ है कि व्यक्ति अच्छा जीवन जी सकता है और अच्छी मौत मर सकता है।

जो व्यक्ति चेतना का जागरण नहीं करता, ध्यान में नहीं जाता, वह न अच्छा जीवन जी सकता है और न अच्छी मौत मर सकता है। जो अच्छी मौत नहीं मर सकता, वह अच्छा जीवन कैसे जी पाएगा? जिस व्यक्ति में जीवन के प्रति आसक्ति होती है वह अच्छी मौत नहीं मर सकता और जो व्यक्ति मौत से डरता रहता है, वह अच्छा जीवन नहीं जी सकता। अच्छा जीवन जीने के लिए यह जरूरी है कि मौत

का भय मिटे। अच्छी मौत मरने के लिए यह जरूरी है कि जीवन की आसक्ति टूटे। ध्यान के द्वारा, चेतना के जागरण के द्वारा ये दोनों बातें घटित होती हैं। जीवन की आसक्ति समाप्त होती है और मौत का भय भी समाप्त हो जाता है हम चेतना की उस भूमिका में चले जाते हैं जहां जीवन-मरण दोनों मात्र संयोग प्रतीत होते हैं। अनित्य अनुप्रेक्षा का यह सूत्र है—'जीवन भी एक संयोग है और मृत्यु भी एक संयोग है।' गीता कहती है—'जैसे मनुष्य पुराने कपड़ों को छोड़कर नये कपड़े धारण करता है, वैसे ही मृत्यु के बाद आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर को धारण करता है।' मरने से डरने की जरूरत क्या है? पर मनुष्य मृत्यु के विषय में जानता है, सुनता है; पर मृत्यु का नाम सुनते ही उसका मन भय से भर जाता है। भय मिटता नहीं है, बना ही रहता है। उपदेश सुनने मात्र से भय नहीं मिटता। भय मिटता है चेतना के जागरण से। आगमों ने बहुत बड़ी सचाई प्रकट की है। किन्तु जब तक यह सचाई चेतना में नहीं जागेगी तब तक आगम और गीता की सचाई पकड़ में नहीं आएगी। महावीर ने कहा, बुद्ध ने कहा, कृष्ण ने कहा, क्राइस्ट ने कहा, सबने यही कहा कि मौत अवश्यंभावी है; उससे मत डरो। उससे भयभीत मत बनो। किन्तु यह सचाई तब तक समझ में नहीं आएगी तब तक व्यक्ति अनुभव के स्तर पर पहुंचकर ध्यान के द्वारा अपनी चेतना को नहीं जगा लेंगे।

एक कथवाचक महाभारत की कथा कर रहा था। कथा पूरी होने पर उसने श्रोताओं से पूछा—'कथा का सार क्या समझ पाए?' एक भक्त खड़ा हुआ और बोला—'मैं इतनी बात समझ पाया हूं कि जब श्रीकृष्ण ने कौरवों से कहा कि पांडवों को पांच गांव दे दो और पूरा राज्य तुम करो। तब दुर्योधन ने कहा—'सूच्यग्रमपि नो दास्ये, बिना युद्धेन केशव!'—कृष्ण! बिना युद्ध किए मैं उनको सुई के अग्रभाग जितनी भूमि भी नहीं दूंगा! इससे मैं यह समझ सका कि मेरे अधिकार में जो धन-सम्पत्ति है, मैं बिना लड़ाई के भाइयों को एक सुई मात्र भी उसमें से नहीं दूंगा।

उस व्यक्ति ने ठीक ही समझा। जब तक हम ध्यान के द्वारा अपनी शक्ति को नहीं जगा लेते तब तक उत्तम से उत्तम ग्रन्थों को; शास्त्रों

को पढ़ लेने पर भी समझेंगे वही जो अपने स्वार्थ को सिद्ध करने वाला हो। महावीर को समझने के लिए महावीर की भूमिका तक पहुंचना आवश्यक है। परन्तु उस भूमिका तक पहुंचने में बहुत समय लगेगा। इतना तो अवश्य ही हो जाना चाहिए कि साधक उस भूमिका की दिशा में प्रयाण कर दे। हम बुद्ध को समझना चाहें, राम को समझना चाहें, कृष्ण और क्राइस्ट को समझना चाहें या अन्य किसी अवतार या महापुरुष को समझना चाहें तो यदि हम उनकी भूमिका की दिशा में पैर नहीं बढ़ायेंगे तो उनके उपदेश का हम वही अर्थ ग्रहण करेंगे जो भक्त ने ग्रहण किया था। जितने व्याख्याकारों ने अनुभव के स्तर पर पहुंचे बिना शास्त्रों की व्याख्याएं की हैं, उन्होंने शास्त्रों के अर्थ के साथ अन्याय ही किया है। उन्होंने सत्य पर अपनी व्याख्या का पर्दा डाल दिया जिससे व्याख्या पढ़ने वाला शास्त्र की सचाई तक न पहुंच सके। इसलिए आवश्यक है कि हम ध्यान के द्वारा अपनी चेतना का जागरण करें। जिससे कि हम सचाई तक पहुंच सकें, यथार्थता का स्पर्श कर सकें। केवल शब्दों के द्वारा वहां नहीं पहुंचा जा सकता है। हजारों-हजारों वर्ष पहले ही शास्त्रगत अनुभूतियों को हम शब्दों के द्वारा कैसे पकड़ सकते हैं? अनुभूति को पकड़ने के लिए अनुभूति के स्तर पर जाना जरूरी है। महापुरुष की चेतना को समझने के लिए महापुरुष जैसी चेतना का निर्माण करना होता है। चेतना का यह निर्माण, चेतना की यह जागृति मात्र ध्यान के द्वारा ही संभव हो सकती है। हम मूर्च्छा को तोड़ने के लिए चेतना को जगाएं। इस जागृति के द्वारा दो कार्य सम्पन्न होंगे। पहला कार्य होगा कर्म-तंत्र का शोधन और दूसरा कार्य होगा भाव-तंत्र का शोधन। चेतना ही एक ऐसा शस्त्र है जिसके द्वारा ये दोनों काटे-छांटे जा सकते हैं। उनका शोधन हो सकता है।

चेतना के जागरण की बात लेश्या को समझे बिना नहीं समझी जा सकती। यदि हम ध्यान का अभ्यास करना चाहें, अध्यात्म का विकास करना चाहें, अध्यात्म का उन्नयन करना चाहें और अध्यात्म के द्वारा समस्याओं को सुलझाना चाहें तो यह आवश्यक होगा कि चेतना व्यापक बने। चेतना को व्यापक बनाने का अर्थ है चेतना की पदार्थ-प्रतिबद्धता

को तोड़ देना। पदार्थ का उपयोग होगा, किन्तु चेतना पदार्थ से प्रतिबद्ध नहीं होगी। उपयोग करना और प्रतिबद्ध होना—दोनों अलग-अलग बातें हैं। रोटी खाना पदार्थ की उपयोगिता है। रोटी से बंध जाना यह उसकी प्रतिबद्धता है। जिसकी चेतना जाग जाती है वह भी रोटी खाता है। ध्यान करने वाला साधक रोटी खाता है, पानी पीता है, पैसा रखता है। ये जीवन के आवश्यक उपकरण हैं। सबके लिए जरूरी हैं। ध्यान करने का यह अर्थ नहीं है कि पदार्थ छूट जाए। ध्यान से पदार्थ नहीं छूटता। जब तक जीवन है तब तक पदार्थ को नहीं छोड़ा जा सकता। आध्यात्मिक होने का यह अर्थ नहीं है कि भौतिक छूट जाए। भौतिक नहीं छूटती। पदार्थ का उपयोग नहीं छूटता, केवल पदार्थ की प्रतिबद्धता छूट जाती है। वह साधक पदार्थ से बंधा नहीं रहता, पदार्थ के चंगुल में फंसा नहीं रहता। चेतना के जागरण का यह मुख्य परिणाम है। उसमें पदार्थ की उपयोगिता शेष रहती है, प्रतिबद्धता समाप्त हो जाती है। समस्या का मूल प्रतिबद्धता है, उपयोगिता नहीं, ध्यान से चेतना को जागृत करने पर व्यवहार सीधा और सरल बन जाता है, व्यवहार की उलझनें समाप्त हो जाती हैं, व्यवहार निश्चल हो जाता है। कोई भी उस व्यक्ति को खुली पोथी की भांति पढ़ सकता है।

यह सचाई है कि सफल जीवन जीने के लिए; मृदु और निश्चल व्यवहार के लिए अध्यात्म चेतना का जागरण जरूरी है। आन्तरिक विकास और शक्ति के जागरण के लिए, ज्ञान के अवरोध को समाप्त करने के लिए, अन्तराय की चट्टान को तोड़ने के लिए और मूर्च्छा की दुर्भेद्य दीवार को गिराने के लिए चेतना का जागरण आवश्यक है। जीवन-व्यवहार को सुखमय, कलहमुक्त और मृदु बनाने के लिए भी अध्यात्म की चेतना को जगाना जरूरी है।

जो व्यक्ति ध्यान की साधना के लिए उपस्थित हैं, वे सब भ्रान्तियों को पार कर, आने वाले तार्किक प्रश्नों में न उलझें। वे गहरे में उतरकर सत्य का साक्षात्कार करें, अनुभव को प्रधानता दें और सचाई का स्वयं अनुभव करें। उन्हें दूसरों पर निर्भर नहीं होना है। उनका सूत्र है—'अप्पणा सच्चमेसेज्जा'—स्वयं सत्य को खोजो, केवल दूसरे की मानकर मत चलो।

जब स्वयं सत्य को खोजने की बात अन्तश्चेतना तक बैठ जाएगी; जब हम ध्यान के द्वारा अनुभव के स्तर तक पहुंच जाएंगे, उस दिन हमारी आन्तरिक मूर्च्छा और व्यवहार की समसयाएं समाप्त हो जाएंगी और हम सफल और आनन्दमय जीवन जीने में सक्षम हो सकेंगे।

प्रश्न १. ध्यान की गहराई में जाने वाले कुछ साधक हंसने लग जाते हैं, रोने लग जाते हैं, उन्हें वस्त्रों का भान भी नहीं रहता, क्या यह आध्यात्मिकता है?

उत्तर—जब साधना में मूर्च्छा का साथ होता है, तब ऐसी घटनाएं घटती हैं, किन्तु जागरूकता की स्थिति में ऐसा नहीं हो सकता। यह सच है कि मनुष्य में हंसने का भाव भी है, रोने का भाव भी है, कपड़े पहनने की आदत भी है। हंसना, रोना सूक्ष्म भाव हैं और कपड़े पहनना स्थूल भाव है। मैं मानता हूं ये सब सम्मोहन के प्रयोग हैं। सम्मोहन के प्रयोग से हंसाया जा सकता है, रुलाया जा सकता है। क्योंकि ये वृत्तियां तो मनुष्य में हैं ही। प्रयोग किया और ये प्रकट हो जाती हैं। जहां चेतना को जगाने का प्रश्न है वहां इन वृत्तियों का इस प्रकार रेचन करने की जरूरत नहीं होती। यह ठीक है कि इनका रेचन करना होगा। हंसने का, रोने का, भय का—इन सबका रेचन करना है। किन्तु यह जरूरी नहीं है कि हंसाकर ही हंसने का रेचन कराया जाए, रुलाकर ही रोने का रेचन कराया जाए या भोग या अब्रह्मचर्य में ही ले जाकर ही कामवासना का रेचन कराया जाए। रेचन की बहुत-सी प्रक्रियाएं हैं। बिना हंसे हंसने का रेचन हो जाएगा। बिना रोए रोने का रेचन हो जाएगा।

दो पद्धतियां हैं। एक है मूर्च्छा की पद्धति। दूसरी है जागरण की पद्धति। यदि हम जागरण के उपायों को काम में लाते हैं तो वहां हंसने की, रोने की जरूरत नहीं होती। हजारों-हजारों साधकों ने सत्य की साधना की, सत्य का साक्षात्कार किया, वे जागरण की प्रक्रिया से चले ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि वे बहुत हंसे या बहुत रोए। रोना-हंसना मूर्च्छा की प्रक्रिया है। मूर्च्छा कि प्रक्रिया में रेचन कराया जाता है उसके भोग के द्वारा। रोना भोग है और हंसना भी भोग है। जो भीतर है उसका

भोग है। भोग के द्वारा रेचन कराने की पद्धति मूर्च्छा की पद्धति है। बिना भोग कराए, मंदवीर्य बनाकर उन वृत्तियों की निर्जरा कर देना, रेचन कर देना जागरण की प्रक्रिया है।

प्रश्न २. भाव और भावना में क्या अन्तर है?

उत्तर—भाव एक निर्हित संस्थान है। जब भाव प्रकट होता है तब वह भावना बन जाता है। भाव की अभिव्यक्ति ही भावना है।

प्रश्न ३. कुछेक वनस्पतियों के जीवों की मूर्च्छा चरम सीमा तक पहुंची हुई होती है। वे जीव बार-बार उसी वनस्पति में जन्म लेते हैं और मरते हैं। क्या उनके भी उद्धार का कोई मार्ग है?

उत्तर—जब तक गाढ़ मूर्च्छा बची रहती है, तब तक उद्धार का कोई मार्ग नहीं है। यह स्त्यानर्द्धि मूर्च्छा जब टूटती है तब मार्ग मिलता है। इसके टूटने के दो कारण हैं—काललब्धि और साधना। एक है स्वाभाविक और दूसरा है प्रयत्नजन्य। इस गहरी नींद के टूटने में काल ही कारण बनता है। काललब्धि से ऐसा परिपाक होता है कि भीतर ही भीतर मूर्च्छा टूटने लगती है। जब मूर्च्छा टूटती है तब उन जीवों का उत्क्रमण होता है। वे दूसरी योनियों में जन्म लेने का विकास कर लेते हैं।

प्रश्न ४. घटना के साथ कल्पना को नहीं जोड़ना—इसका तात्पर्य क्या है? इससे क्या लाभ होता है?

उत्तर—घटना के साथ कल्पना को न जोड़ने का अर्थ है कि सुख-दुःख का संवेदन नहीं करना, किन्तु सचाई की सचाई तो जानना ही होगा। वह व्यक्ति घटना को घटना जानेगा, उसके लिए उपाय भी करेगा, पर सुख-दुःख का अनुभव नहीं करेगा। पड़ोसी के घर चोरी हो गई। यह एक घटना है। इसके साथ मन इतना नहीं जुड़ता है तो दुःख का संवेदन नहीं होता। मन थोड़ा जुड़ता है तो दुःख होता है। जब अपने घर चोरी होती है तब उसके साथ मन तीव्र रूप से जुड़ता है। और संवेदन भी तेज हो जाता है। यदि कहीं और किसी के चोरी होती है तो मन जुड़ता ही नहीं और संवेदन कुछ भी नहीं होता। कभी-कभी दूर की घटना के साथ हमारी सहानुभूति होती है। सहानुभूति का अर्थ है—सापेक्षता। यही

सहानुभूति का आधार है। कभी ऐसा भी होता है कि जिसके घर चोरी होती है उसे उतना दुःख नहीं होता जितना दुःख दूसरे को होता है। इसमें मन के संवेद्रन की सबलता और निर्बलता ही कारण बनता है। एक बहिन का पति चल बसा। बहिन का मन मजबूत है। वह इस अनिवार्य घटना को सहज रूप में स्वीकार करती है और मन के संवेदन को उभरने नहीं देती। दूसरे लोग उस बहिन के पास आते हैं। रोते-रोते वे अपनी सहानुभूति दिखाना चाहते हैं। सहानुभूति होना एक बात है और सहानुभूति का प्रदर्शन होना दूसरी बात है। घटना का घटित होना सर्वथा भिन्न बात है। भारत में भिखारियों के प्रति सहानुभूति के नाम पर भिखारियों की भी दुर्दशा और देश की भी दुर्दशा हुई। जहां भिखारियों के लिए व्यवस्था कर दी गई, उनके लिए काम की व्यवस्था और उनके जीवन की व्यवस्था कर दी गई, वहां सब कुछ ठीक हो गया। भिखारी समाप्त हो गए। सहानुभूति वास्तव में यह है कि व्यवस्था का परिष्कार हो जाए। बहुत बार व्यवस्था का छलावा होता है, वास्तविकता की अनुभूति नहीं करते। ध्यान के द्वारा एक ऐसी चेतना का जागरण होगा कि जहां जो जैसे करना चाहिए, वह वैसे होगा ही। साथ-साथ झूठी बातें समाप्त हो जाएंगी।

प्रश्न ५. व्यवस्था-तंत्र के कुछ नियम होते हैं। साधक साधना करता है, वह व्यवस्था-तंत्र के नियमों को निभाए या अपनी साधना करे?

उत्तर—साधक साधना करेगा। वह व्यवस्था का जितना उपयोग करेगा, उतने नियम निभाएगा। यदि वह उस भूमिका पर पहुंच जाए कि उसे व्यवस्था का उपयोग करने की जरूरत नहीं है तो वह नियमों को सर्वथा अस्वीकार कर देगा। वह अकेला जंगल में जाकर साधना करे और जो कुछ सहज उपलब्ध हो जाए वह खाये-पीये तो व्यवस्था-तन्त्र के नियमों की कोई जरूरत ही नहीं होगी। वह कल्पनातीत स्थिति में चला जाता है किन्तु यदि साधक व्यवस्था-तंत्र का उपयोग करता है तो उसे उसके नियमों को भी ध्यान में रखना होगा। उसे नियम निभाने पड़ेंगे। दोनों सापेक्ष बातें हैं। आज ही ध्यान प्रारंभ किया और आज ही व्यवस्था-तन्त्र को नकार दिया—यह असंगत बात है। अमुक अवस्था

में पहुंचने पर ही व्यवस्था-तन्त्र को नकारा जा सकता है। इसके लिए बहुत तैयारी अपेक्षित होती है।

प्रश्न ६. क्या आत्मा में सत्त्व, रजस् और तमोगुण प्राप्त होते हैं? आत्मा सगुण है या निर्गुण?

उत्तर. सत्त्व, रजस् और तमस्—ये आत्मा के गुण नहीं हैं। ये सब गुण बाहर के हैं, प्रकृति के हैं। आत्मा का गुण है चैतन्य। इस दृष्टि से आत्मा सगुण है और शेष सत्त्व आदि आत्मा के गुण नहीं हैं—इस दृष्टि से आत्मा निर्गुण है।

आत्मा के मुख्य तीन गुण हैं—चैतन्य, शक्ति और आनन्द। चैतन्य है वहां शक्ति है और शक्ति है वहां आनन्द है।

परिशिष्ट

आभामंडल

आभामंडल

- वर्ण और शब्द प्रकम्पनों के ही स्तर हैं। वे एक-दूसरे में बदले जा सकते हैं। 'आरोटॉन' मशीन से वर्ण को सुना जा सकता है। सात रंग हैं और सात स्वर हैं। उनका शरीरों पर प्रभाव पड़ता है। रंगों का शारीरिक, भावनात्मक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रभाव पड़ता है।
- रंग निषेधात्मक है और प्रकाश विध्यात्मक। रंग केवल प्रकाश का ही एक विभागीय हिस्सा है। यह ४६वां प्रकमपन है।
- एण्डोक्राइन व्यवस्था और चक्र व्यवस्था एक ही है। प्रत्येक एण्डोक्राइन अवयव का अपना रंग है। रंग के आधार पर उसको सक्रिय बनाया जा सकता है।
- प्रकाश प्रकम्पन है। दृश्य प्रकाश ४६वां प्रकम्पन है। यही रंग है। दृश्य प्रकाश में जो विभिन्न रंग दृष्टिगोचर होते हैं, वे विभिन्न प्रकम्पनों के आधार पर होते हैं। लाल रंग के एक सेकेण्ड में ४३६ खरब प्रकम्पन होते हैं। वायलेट (बैंगनी) रंग के एक सेकेण्ड में ७३१ खरब प्रकम्पन होते हैं।
- रंग रोग-निवारण का साधन है, क्योंकि यह शरीर के असंतुलन को ठीक करता है। रंग शरीर का स्वाभाविक भोजन है, क्योंकि जो भोजन वनस्पति जगत् से प्राप्त होता है, वह सघन अवस्था में रंग ही है।
- शरीर के प्रत्येक अवयव को क्रियाशील रखने के लिए विभिन्न रंग हैं और उनको सुषुप्त रखने के लिए भी अनेक रंग हैं।

लाल रंग (Red)

यह अग्नि तत्त्व है। यह नाड़ी-मंडल और रक्त को सक्रिय बनाता

है। यह ज्ञानवाही नाड़ियों को क्रियाशील बनाता है। पांचों इन्द्रियों की क्रियाशीलता इसी रंग पर निर्भर करती है। यह सेरेब्रो-स्पाइनल द्रव्य पदार्थ को प्रेरित करता है। लाल किरणें ताप पैदा करती हैं और शरीर में शक्ति का संचार करती हैं। ये किरणें लीवर और मांशपेशियों के लिए लाभप्रद होती हैं। लाल रंग मस्तिष्क के दायें भाग को सक्रिय रखता है। लाल किरणें शरीर के क्षार द्रव्यों को तोड़कर आयोनाइजेशन करती हैं। इसके बिना शरीर बाहर से कुछ भी नहीं ले सकता। ये आयोन्स विद्युत्-चुम्बकीय शक्ति के वाहक होते हैं।

मनोविज्ञान की दृष्टि से लाल वर्ण स्वास्थ्यप्रद माना जाता है। यह प्रतिरोधात्मक होता है।

यदि लाल रंग बार-बार काम में लिया जाए तो वह ज्वर तथा शैथिल्य पैदा करता है। इसके साथ नीले रंग का योग होना चाहिए।

पीला रंग (Yellow)

यह क्रियावाही नाड़ियों को सक्रिय और मांशपेशियों को शक्तिशाली बनाता है। यह स्वतंत्र रंग नहीं है। यह लाल रंग और हरे रंग का मिश्रण है। इसमें लाल और हरे रंग के आधे-आधे गुण हैं। यह मृत सेलों को सजीव भी करता है और उनको सक्रिय भी बनाता है। इसमें पोजिटिव चुम्बकीय विद्युत् होती है। यह विद्युत् नाड़ी-मंडल को शक्तिशाली और मस्तिष्क को सक्रिय करती है।

पीला रंग बुद्धि और दर्शन का रंग है, तर्क का नहीं। इससे मानसिक कमजोरी, उदासीनता आदि दूर होते हैं। यह प्रसन्नता और आनन्द का सूचक रंग है।

नारंजी रंग (Orange)

यह लाल और पीले रंग का मिश्रण है। यह इन दोनों रंगों से भी अधिक ताप वाला है। यह ताप, अग्नि, संकल्प और भौतिक शक्तियों का वाचक वर्ण है। यह श्वास को प्रभावित करता है, और थाइराइड ग्लॉण्ड को सक्रिय बनाता है। इस वर्ण के प्रकम्पन फुप्फुस को विस्तृत

करते हैं और बलवान बनाते हैं। इससे स्त्रियों के स्तनों में दूध की वृद्धि होती है। यह पेन्क्रियास को सहयोग देता है। यह पित्त के मिश्रण और उसकी गतिशीलता में सहायक होता है।

इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह है :–

* शारीरिक शक्तियों को मानसिक गुणों के साथ जोड़ता है।
* यह spleen और पेंक्रिन्यास् इन दोनों चक्रों से शक्ति को प्रवाहित करता है।
* यह विचार और मानसिक कल्पनाओं का सूचक वर्ण है।
* यह प्रेम, प्रसन्नता, भावनाओं की संजीवता और योगक्षेम की भावना को बनाए रखता है।
* यह एथरिक-बॉडी को शक्तिशाली बनाता है।

हरा रंग (Green)

यह नाइट्रोजन गैस का वर्ण है। यह शान्ति का वर्ण है। यह मानसिक शांति और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है। यह मांशपेशियों, हड्डियों तथा सेल्स को शक्तिशाली बनाता है। यह रक्त-चाप और रक्त-वाहिनी नाड़ियों के तनाव को कम करता है। थके व्यक्ति को प्रारंभ में हरा रंग लाभप्रद होता है, परन्तु बाद में यह हानिकारक होता है। यह पिच्यूटरी ग्लैण्ड को सक्रिय करता है, मांशपेशियां और टिस्यू का निर्माण करता है। और सेक्स को उभारता है। यह कीटाणुनाशक, एण्टीसेप्टिक माना जाता है।

जब व्यक्ति में भावनात्मक गड़बड़ी होती है तब हरे रंग की किरणें मस्तिष्क पर डालकर चिकित्सा की जाती है। यह शक्ति, यौवन, अनुभव, उत्पादन, आशा और नवजीवन का प्रतीक वर्ण है। साथ-साथ यह ईर्ष्या-द्वेष और अंध-विश्वास का सूचक भी है।

नीला रंग (Blue)

इसका प्रभाव मुख्य रूप से रक्त पर होता है। यह रक्त के लिए टॉनिक है। यह शक्ति-संवर्धन, शीत, विद्युतीय और संकुचन गुण से युक्त

है। इससे रक्तचाप बढ़ता है, नाड़ियां संकुचित होती हैं। जब रक्त अधिक सक्रिय और तापयुक्त हो जाता है तब उसे सामन्य बनाने के लिए इस रंग का उपयोग किया जाता है। यह नाड़ी-संस्थान की उत्तेजना को कम करता है।

भावनात्मक स्थितियों में यह हरे रंग से अधिक लाभदायक होता है। यह ध्यान और आध्यात्मिक विकास का सूचक वर्ण है। यह मन को शान्त करता है, विशुद्धि चक्र को सक्रिय करता है। यह व्यक्ति को स्वार्थीपन से दूर हटाकर सामाजिक बनाता है और उसे पारिपार्श्विक वातावरण के अनुकूल बनाता है।

दस मिनट तक नीले रंग की तरंगों से व्यक्ति थकान महसूस करने लगता है। नीले कपड़े और नीले फर्नीचर व्यक्ति को थकान की अनुभूति कराते हैं। यदि इसके साथ दूसरे रंगों का मिश्रण हो तो कोई आपत्ति नहीं होती। यह सत्य, समर्पण, शांति और प्रामाणिकता तथा आन्तरिक ज्ञान और प्रतिभा ज्ञान का सूचक वर्ण है।

जामुनी रंग (Indigo)

यह वर्ण थाइराइड ग्लैण्ड को निष्क्रिय बनाकर पेराथाइराइड ग्लॉण्ड को सक्रिय करता है। यह मांसपेशियों की शक्ति को बढ़ाता है, रक्त को शुद्ध करता है और श्वास-उच्छ्‌वास को मन्द करता है।

रोगी किसी रंगीन चश्मे से जामुनी रंग की ओर एकटक देखता है और सजग रहते हुए अपने शारीरिक अवयव के दर्द के प्रति शून्य हो जाता है। यह जामुनी रंग उसकी चेतना को इतने ऊंचे प्रकम्पनों तक पहुंचा देता है कि उस स्थिति में उसे अपने शरीर का भी भान नहीं रहता।

यह वर्ण सूक्ष्म शरीरों की आन्तरिक विद्युत् को तथा सहस्रार चक्र को नियंत्रित करता है। यह भौतिक, भावनात्मक तथा आध्यात्मिक स्तर पर दृष्टि, श्रवण और सुगंध की शक्ति को प्रभावित करता है।

यह ऊपरी मस्तिष्क को पोषण देने वाला रंग है। यह पित्त को प्रभावित करता है, कार्यवाही नाड़ी-मंडल को सुस्त बनाता है। यह रक्त की शुद्धि और हड्डियों की वृद्धि में सहायक होता है।

हिंसात्मक पागलपन से छुटकारा पाने के लिए यह वर्ण बहुत उपयोगी है। यह प्रेरणादायक और अत्यधिक भूख पर नियन्त्रण स्थापित करने में सहयोग देता है। यह स्वास्थ्य का प्रतीक और स्वाधिष्ठान चक्र को संयमित करता है। कुछ विद्वान् मानते हैं कि बैंगनी प्रकाश ध्यान में दस गुना अच्छा होता है। आधे कांच से बैंगनी प्रकाश डाला जाय तो ध्यान-शक्ति में विकास होता है।

हल्का पीला या हरा पीला (Leman)

यह मस्तिष्क को उत्तेजित करने वाला वर्ण है। थाइमस ग्लैण्ड में यूरेनियम होता है। यह शारीरिक संवर्धन में सहायक होता है। जब यूरेनियम पूरा हो जाता है, तब वृद्धि रुक जाती है। यह रंग थाइमस ग्लैण्ड को सक्रिय बनाता है। इसमें हरे और पीले रंग दोनों रंगों के गुण होते हैं।

चक्र और वर्ण

१. मूलाधार

इसका वर्ण पीला और तत्त्व पृथ्वी है। सुषुम्ना यहां खुलती है और कुंडलिनी का प्रवेश यहां से होता है।

२. स्वाधिष्ठान

इसका वर्ण नारंजी और तत्त्व जल है। इसी के द्वारा ओरा-आभामंडल का निर्माण होता है।

यह चक्र सूर्य की किरणों तथा आल्ट्रा-वायलेट प्रकाश की किरणों से ऑक्सीजन के साथ विशुद्ध प्राण-तत्त्व लेता है। नाड़ी-संस्थान से वह प्राण-तत्त्व सारे शरीर में प्रवाहित होता है। अतिरिक्त तथा काम में ले

लिये गए अणु चमड़ी के माध्यम से बाहर आते हैं। यही ओरा (Auro) है। प्रत्येक व्यक्ति में ओरा होता है, पर हेलो (Halo) कुछेक व्यक्तियों में ही होता है। प्राण-तत्त्व फुप्फुस से नहीं किन्तु श्वास से सम्बन्धित है।

३. मणिपूर

इसका वर्ण लाल है। इसका तत्त्व है—अग्नि।

४. अनाहत

इसका वर्ण बैंगनी है। इसका तत्त्व है—वायु।

५. विशुद्धि

इसका वर्ण जामुनी है। इसका तत्त्व है—ईथर।

६. आज्ञाचक्र

इसका वर्ण नीला है। इसका तत्त्व है सफेद। इसी के ऊपर इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना—तीनों का मिलन होता है। इड़ा का वर्ण नीला, पिंगला का वर्ण लाल और सुषुम्ना का वर्ण गहरा लाल है।

७. सहस्रार चक्र

इसका वर्ण हरा है। जब यह क्रियाशील होता है तब इसमें सभी वर्ण पाए जाते हैं।

कुछ ज्ञातव्य

* वर्ण की सात किरणें दृश्य, अनेक किरणें अदृश्य।
* वर्ण जीवन को दीर्घ या ह्रस्व कर सकते हैं। वर्णों का संतुलन दीर्घ जीवन देता है और असंतुलन मौत देता है।
* रंगों के सम्यक् ज्ञान और सम्यक् प्रयोग से जीवन को शाश्वत जैसा बनाया जा सकता है।
* 'अपने आपको जानो' के साथ यह जोड़ना चाहिए--'जैसा रंग तुम्हें बताता है वैसा अपने आपको जानो'—Know thyself as your colour dictates.

* रंग-चिकित्सा एक पूर्ण प्रणाली है।
* बच्चा जब जन्म लेता है, तब उससे जामुनी रंग बाहर निकलता है। वह तीव्रतमगति से चलता है। उसका 'वेव लेंग्थ' न्यूनतम होता है। ज्यों-ज्यों वह बालक बड़ा होता है, प्रकम्पन की निरन्तरताा टूट जाती है। वे लंबे 'वेव लेंग्थ' वाले हो जाते हैं। जब वह लाल रंग के अंतिम छोर तक पहुंच जाता है, ४९वें स्तर पर पहुंच जाता है, तब उसकी मृत्यु घटित हो जाती है।
* नाक की नोक पर यदि हरा रंग न दीखे तो समझ लेना चाहिए कि प्राणी मर गया।
* मनुष्य के ही नहीं, सभी प्राणियों के अवयवों के रंग होते हैं।
* मनुष्य रंग के ४९वें प्रकम्पन पर जीवित रहता है।
* नीले रंग के ४९वें प्रकम्पन पर प्रयोग करने से रोग मुक्ति होती है।
* ४९वें प्रकम्पन से आगे के प्रकम्पनों पर नीले रंग का प्रयोग करने पर मृत्यु होती है।
* आंख के रंग से आंख के रोगों को जाना जा सकता है। आंख के ७२ प्रकार के रोग हैं।
* नाखून के रंग से लीवर की स्थिति को जाना जा सकता है। शारीरिक बीमारी पकड़ी जा सकती है।

❑❑❑

आचार्य महाप्रज्ञ की प्रमुख कृतियां

- मन के जीते जीत
- आभा मण्डल
- किसने कहा मन चंचल है
- जैन योग
- चेतना का ऊर्ध्वारोहण
- एकला चलो रे
- मेरी दृष्टि : मेरी सृष्टि
- अपने घर में
- एसो पंच णमोक्कारो
- मैं हूं अपने भाग्य का निर्माता
- समस्या को देखना सीखें
- नया मानव : नया विश्व
- भिक्षु विचार दर्शन
- अर्हम्
- मैं : मेरा मन : मेरी शान्ति
- समय के हस्ताक्षर
- आमंत्रण आरोग्य को
- महावीर की साधना का रहस्य
- घट-घट दीप जले
- अहिंसा तत्त्व दर्शन
- अहिंसा और शान्ति
- कर्मवाद
- संभव है समाधान
- मनन और मूल्यांकन
- जैन दर्शन और अनेकान्त
- शक्ति की साधना
- धर्म के सूत्र
- जैन दर्शन : मनन और मीमांसा

आदि-आदि

44Books.com
आभा मंडल
आचार्य महाप्रज्ञ